भारतीय राजनीतिक चिन्तन में धर्म और धर्मनिरपेक्षता
(मनु एवं कौटिल्य के संदर्भ में अध्ययन)

शोध प्रबन्ध

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा
की पी.एच.डी.
की उपाधि हेतु प्रस्तुत

राजनीति विज्ञान
(सामाजिक विज्ञान संकाय)

शोधार्थी
निशा गोयल

शोध पर्यवेक्षक
डॉ0 फूल सिंह गुर्जर, विभागाध्यक्ष
राजनीति विज्ञान विभाग,

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, झालावाड़ (राज0)

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा (राज0)
2017

Certificate To Accompany The Thesis

It is certified that the:-

1. Thesis entitled "**भारतीय राजनीतिक चिन्तन में धर्म और धर्म निरपेक्षता (मनु एवं कौटिल्य के सन्दर्भ में अध्ययन)**" {DHARM AND SECULARISM IN INDIAN POLITICAL THOUGHT: A STUDY IN CONTEXT TO MANU & KAUTILYA } by **MRS. NISHA GOYAL** is an original piece of research work carried out by the candidate under my supervision.
2. Literary presentation is satisfactory and the thesis is in a form suitable for publication.
3. Work enhances the capacity of the candidate for critical examination and independent judgement.
4. Candidate has put in at least 200 days of attendance every year

Signature of supervisor
With date

Candidate Declaration

I hereby certify that the work, which is being presented in this thesis, entitled **भारतीय राजनीतिक चिन्तन में धर्म और धर्म निरपेक्षता (मनु एवं कौटिल्य के सन्दर्भ में अध्ययन)** in partial fulfillment of the requirement for the award of the Degree of Doctor of Philosophy, carried under the supervision of **Dr. Phool Singh Gurjar** and submitted to the Research center Govt. PG College, Jhalawar, University of Kota, Kota represents my ideas in my own words and wherever other ideas or words have been included I have adequately cited and referenced the original sources. The work presented in this thesis has not been submitted elsewhere for the award of any other degree or diploma from any institution. I also declare that I have adhered to all principles of academic honesty and integrity and have not misrepresented or fabricated or falsified any idea/data/fact/source in my submission. I understand that violation of the above will be a cause for disciplinary action by the University and can also evoke penal action from the sources which have thus not been properly cited from whom proper permission has not been taken when needed.

Date: **Nisha Goyal**

This is to certify that the above statement made by Nisha Goyal is correct to the best of my knowledge.

Date: **Dr. Phool Singh Gurjar**

Supervisor & Head of Department,
Political Science
Govt. PG College, Jhalawar

Specimen 'B' : Approval Sheet

Thesis Approval for Doctor of Philosophy

This thesis entitled {भारतीय राजनीतिक चिन्तन में धर्म और धर्म निरपेक्षता (मनु एवं कौटिल्य के सन्दर्भ में अध्ययन)} by Mrs. NISHA GOYAL submitted to the Department of Political Science in Govt. PG College Jhalawar, University of Kota, Kota is approved for the award of Degree of Doctor of Philosophy.

Examiners

.....

.....

.....

Supervisor(s)

.....

.....

.....

Date: .....

Place: .....

प्राक्कथन

प्राचीन भारत में राज्य और शासन की संस्थाओं का विकास हुआ। इन सभी संस्थाओं और विचारों का आधार धर्म था। यह एक अकाट्य सत्य है कि प्राचीन भारत में राजनीति का सर्वप्रमुख आधार ही धर्म था; अतः धर्म और राजनीति एक–दूसरे से किसी भी क्षेत्र में पृथक न थे। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय राजनीति आधुनिक राजनीति से पूर्णतया भिन्न थी। प्राचीन राजनीति में धर्म को ही सर्वोपरि माना और जीवन के प्रत्येक कार्य को धर्म से सुशासित रखा। प्राचीन भारत में राजा धर्म से बँधा था तथा राजा का व्यक्तिगत जीवन और उसकी दैनिक दिनचर्या धर्म से नियमित थे। परिजन तथा पुरजन, यहाँ तक कि शत्रु के साथ भी उसका संबंध धर्म के आधार पर था और युद्ध विषयक नीति भी धर्म–निर्दिष्ट थी। केवल राजा ही नहीं प्रजा भी अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में सदा ही धर्म का पालन करती थी।

जब पक्षी कुल प्रातःकाल मधुर गीत गाते हैं और भगवान की महिमा का कीर्तन करते हैं; तब कहा जाता है कि यह पक्षियों का धर्म है, अर्थात् ''धर्म'' शब्द का स्वभाव के अर्थ में व्यवहार किया जाता है। ''धर्म'' ऐसे नियमों को भी कहते हैं, जिनका किसी समाज या किसी सम्प्रदाय को अवश्य पालन करना चाहिए। सत्य और न्याय का अनुगामी होने के लिए जो सनातन रीति–नीतियाँ हैं, उनको भी धर्म कहते हैं। यथार्थ धर्म तो वह है, जिसके द्वारा हम मनुष्य और देवता में जो संबंध है, उसकी धारणा व्यक्त करते हैं – जैसे वह उपास्य है और मनुष्य उपासक है, वह भगवान है और मनुष्य भक्त है। तभी तो मनुष्य भगवान को ईश्वर समझ कर उसकी आराधना करता है – यह उसका धर्म है। कोई संस्कृति या सभ्यता टिक नहीं सकती, जिसका सत्य धर्म आधार नहीं है। ''श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्सवधर्मे निविशेत वै'' अर्थात् वेद के प्रमाण से कर्तव्य जानकर निश्चय कर के पण्डित अपने धर्म में स्थित रहें।

रिलीजन (Religion) लैटिन भाषा के शब्द रेलिगरे (Religare) से निकला है, जिसका अर्थ होता है बाँधना। इस व्युत्पत्ति के आधार पर यदि रिलीजन को समझा जाये तो उसका अर्थ उस वस्तु से होगा जो आराध्य तथा आराधक, उपास्य तथा उपासक को बाँधती है। वास्तव में धर्म का यही सृजनात्मक स्वरूप रहा है। पर भारतीय दृष्टिकोण से धर्म शब्द का अर्थ और भी व्यापक है।

महाभारत में धर्म शब्द की व्युत्पत्ति ''धृ'' (धारण करना) नामक धातु से सम्बद्ध है। अतः यहाँ धर्म का अर्थ वह वस्तु है, जो समस्त विश्व को धारण कर रही है। इसीलिए तो कणाद ने धर्म को उन्नति एवं उत्कर्ष का कारक माना है। वास्तव में धर्म एक ऐसी आधारशिला है, जिस पर व्यक्ति अपना उत्कर्ष कर सकता है।

धर्मशास्त्रकारों ने मानव के सामान्य धर्मों की चर्चा करते हुए नैतिक गुणों को बहुत महत्व दिया है और इनके पालन के लिए भी बल दिया है, किन्तु धर्मशास्त्र में उनका सीधा सम्बन्ध व्यावहारिक जीवन से था, अतः उन्होंने सामान्य धर्म की अपेक्षा वर्णाश्रम धर्म की विशद् व्याख्या करना अधिक उचित समझा। इसी प्रकार प्राचीन काल से पुरूषार्थ का भी भारतीय राजनीतिक चिन्तन में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। चार पुरूषार्थ कहे गये हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, जिनमें अन्तिम तो परम लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति जिस किसी को ही हो पाती हैं, अधिकांश के लिए यह केवल आदर्श मात्र है। काम सबसे निम्न श्रेणी का पुरूषार्थ है, इसे केवल मूर्ख की सर्वोत्तम पुरूषार्थ मानते हैं।

भारतीय संस्कृति में धर्म का अर्थ सम्प्रदाय कदापि नहीं है। धर्म का अर्थ है सदाचरण और कर्तव्य पालन। सामान्य प्रजाजन का सत्य, अहिंसा आदि को अपनाते हुए राज्य और राजा के प्रति निष्ठा रखना, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने–अपने कर्तव्यों का निर्वाह करना, राजा द्वारा प्रजा रंजन के साथ और राज्य की सुरक्षा–रक्षा और सैनिकों द्वारा युद्ध नियमों का पालना करना ये सभी आचरण धर्म हैं और सर्वमुखी उन्नति की सिद्धि करने वाले हैं। अतः अपने कर्तव्य का पालन करना धर्म है और अपने कर्तव्य से हटना अधर्म है।

शोध ग्रन्थ के अध्ययन को सरल बनाने की दृष्टि से इसे छः अध्यायों में विभाजित किया गया है –

प्रथम अध्याय में, धर्म का परिचय, भारतीय राजनीतिक चिन्तन में धर्म का महत्व, मनुस्मृति एवं अर्थशास्त्र में धर्म और राजनीति की अन्तःक्रिया, धर्म, राज व्यवस्था और धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। परिचयात्मक इस अध्याय में प्रस्तुत शोध के उद्देश्य, महत्व व शोध प्रविधि पर भी प्रकाश डाला गया है। शोध कार्य की परिकल्पना स्पष्ट करते हुए शोध ग्रन्थ में सहायक कतिपय उपलब्ध साहित्य की समीक्षा का प्रयास भी किया गया है।

द्वितीय अध्याय में, मनुस्मृति में धर्म और राज व्यवस्था की अन्तःक्रिया का अध्ययन प्रस्तुत किया है। मनु के अनुसार ''वेदोखिलो धर्म मूल'' अर्थात् सम्पूर्ण वेद, वेद के जानने वालों की स्मृति और उनका शील, धार्मिकों का आचार और अपने मन की प्रसन्नता में धर्म के मूल हैं। वेदों को मानव के कर्तव्य का निर्धारण का आधार स्वीकार किया गया है। चार युगों, चार वर्णाश्रमों की अवधारणा तथा तदनुरूप निर्धारित कर्तव्यों के पालन को ''धर्म'' माना गया है। प्रत्येक युग में मनुष्यों के अलग–अलग धर्म निर्धारित किए गए हैंः सतयुग में तप, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ ओर कलियुग में दान को प्रमुख माना गया है। मनु ने अर्थ व काम की अपेक्षा धर्म को श्रेष्ठ माना है तथा धर्म को कभी न त्यागने की बात कही है। उनका मानना है कि मरने के पश्चात परलोक में व्यक्ति के साथ केवल धर्म ही जाता है। मनु के अनुसार ''नष्ट हुआ धर्म कहीं हमको न मारे'' यह विचार कर धर्म का नाश नहीं करना चाहिए।

मनु का धर्म मूलतः राजधर्म है वह समाज–व्यवस्था, अर्थ–व्यवस्था, दण्ड–विधान, प्रशासन, शासन–प्रबन्ध, करारोपण, न्याय इन सभी संदर्भों में अधिकांश दायित्व राजा पर डालता है ताकि वह धर्म की स्थापना कर सके और स्थापित धर्म की रक्षा कर सके।

तृतीय अध्याय में, अर्थशास्त्र में धर्म और राज व्यवस्था की अन्तःक्रिया प्रस्तुत की गई है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में धर्मशास्त्र की परम्परा

के समान ही अर्थशास्त्र की परम्परा भी उल्लेखनीय है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में धर्म को महत्वपूर्ण स्थान दिया है किन्तु उसका मानना है कि धर्म, अर्थ और काम में 'अर्थ' ही प्रधान है क्योंकि धर्म और काम अर्थ मूलक होते हैं अर्थात् अर्थ ही इन तीनों का कारण है। कौटिल्य राज्य के कार्य क्षेत्र में मनुष्य जीवन के धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक समस्त क्रियाकलापों को निहित मानते हैं। कौटिल्य आदर्शवादी विचारक न होकर एक यथार्थवादी विचारक थे। यही कारण है कि हमें अर्थशास्त्र में आदर्शात्मक बातों, वर्णाश्रम, धर्म आदि के बारे में उतनी जानकारी नहीं मिलती जितनी कि व्यावहारिक बातों की, राज्य को बनाये रखने के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद सभी उपायों को अपनाने की मिलती है।

आंतरिक नीति में कौटिल्य का राज्य ब्राह्मण प्रमुख समाज–व्यवस्था वाला है तथा राज्य की बाह्य नीति भी धार्मिक महत्व के द्वारा ही निर्देशित है। कौटिल्य ने राजा के लिए ''धर्म–प्रवर्तक'' शब्द का प्रयोग किया है।

चतुर्थ अध्याय में, मनुस्मृति और अर्थशास्त्र में धर्म और राज व्यवस्था का तुलनात्मक विश्लेषण किया गया है। जहाँ मनु एक आदर्श व्यवस्था की स्थापना करते हैं, कौटिल्य ने अपनी व्यवस्था में व्यावहारिकता और यर्थाथता को स्थान दिया है।

मनु के राज्य का झुकाव जीवन के भौतिक पक्ष की अपेक्षा आध्यात्मिक प्रतीत होता है जबकि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राज्य का झुकाव भौतिक पक्ष की ओर अधिक है।

कौटिल्य की राज–व्यवस्था मनु की राज–व्यवस्था की अपेक्षा अधिक जटिल समस्याओं से ग्रस्त व दण्ड और अर्थ के ऊपर आधारित प्रतीत होती है। मनु ने सर्वत्र धर्म को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है।

मनु का राजा दैवीय अंशों से युक्त है। कोई भी उसके बनाये नियमों का उल्लघंन नहीं कर सकता है। मनु का संप्रभुता का सिद्धान्त राजनीतिक शक्ति

की अपेक्षा नैतिकता की शर्तो पर आधारित है, जबकि कौटिल्य का मानना है कि व्यवहार में कोई भी दैवीय शक्ति संप्रभु के चारों तरफ नहीं है।

मनु के राजदर्शन में तर्क का कोई स्थान नहीं है, धर्म की प्रमुख है। मनु ने तीन विधाओं त्रयी, वार्ता और दण्डनीति में वेद को ही मुख्य माना है जबकि कौटिल्य के अनुसार आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति चार विद्यायें हैं। आन्वीक्षकी तार्किक प्रक्रिया है, सब धर्मों का आश्रय भूत है।

मनुस्मृति में प्रत्येक कर्म के पीछे धर्म की शक्ति या प्रेरणा है, अर्थशास्त्र में अर्थ की।

मनु और कौटिल्य दोनों ही राजा का प्रमुख धर्म प्रजा का कल्याण मानते हैं। दोनों की वैचारिक भिन्नता को हम किसी विरोध की स्थिति न मानकर समय के अनुरूप राज्य की प्रकृति में आया अन्तर मान सकते हैं।

पंचम अध्याय में, धर्म और राजव्यवस्था तथा धर्म निरपेक्षता के दृष्टिकोण की प्रासंगिकता को सिद्ध किया गया है। धर्म के स्वरूप में परिवर्तन का तात्पर्य इसकी प्रासंगिकता में कमी आना नहीं है। वर्तमान में भी राजनीति को दुर्नीति, कपटाचारण व भ्रष्टाचार से बचाने के लिए धर्म की आवश्यकता है। धर्म से ही विश्व में शान्ति स्थापित हो सकती है।

भारत प्राचीन काल से ही धर्म प्रधान देश रहा है। पश्चिम के कतिपय प्रगतिशील देशों ने अपने यहाँ के प्रचलित प्रदान धर्म को राजधर्म के रूप में ग्रहण कर रखा है। फिर भारत में नये संविधान और लोकतंत्र की स्थापना करते समय पंथ निरपेक्षता का सिद्धान्त क्यों अपनाया गया?

राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान भारत में साम्प्रदायिक राजनीति का विकास हुआ, जिसके परिणामस्वरूप देश का विभाजन हुआ। इस घटना चक्र से भारतीय संविधान निर्माताओं ने यह शिक्षा ली, कि धर्म और सम्प्रदाय को राज्य और राजनीति से पृथक रखा जाना चाहिए। भारत जैसे देश में धार्मिक परम्पराओं के आपसी संवाद से सेकुलरवाद निकलना चाहिए था, लेकिन कृत्रिम तरीके से विकसित हुए राज्य द्वारा क्रियान्वित किये जाने के कारण

सेकुलरवाद को प्रशासकीय और कार्य विधिक प्राथमिकताऐं तो मिल गई पर वह सामाजिक प्रामाणिकता हासिल करने में संघर्षरत है।

षष्टम अध्याय में, समग्र मूल्यांकन करते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। धर्म एक गतिशील विचार है जिसकी परिस्थिगत व्याख्या देश और काल के अनुरूप भिन्न–भिन्न हो सकती हैं। धर्म सार्वकालिक विचार है, संभवतः प्राचीन राजनीति चिंतन में धर्म की कतिपय व्याख्याऐं आज प्रासंगिक न हों किन्तु निर्विवाद है कि प्रत्येक युग का एक धर्म होता है, धर्म के चरण काल के अनुसार परिवर्तित होतें रहते हैं, किन्तु उसकी प्रासंगिकता फिर बनी रहती है। प्राचीन भारतीय राजनीति चिन्तन की यह विरासत आज भी राजनीति विचारों के अध्येताओं के लिए न केवल चिन्तन और मनन अपितु शोध का विषय है।

अध्ययन के अन्त में विषय से संबंधित संदर्भ ग्रन्थों की एक सूची भी प्रस्तुत की गई है जो इस विषय पर अधिक जानकारी चाहने वालों के लिए अधिक उपयोगी होगी और भावी अध्ययनकर्ताओं के लिए मार्गदर्शक साबित होगी।

शोध कार्य की सफलता गुरूजन के निर्देशन, मित्र, सहयोगी व संस्थानों के सहयोग पर निर्भर करती है, अतः उनके प्रति आभार व्यक्त करना मेरा धर्म है।

सर्वप्रथम धन्यवाद उस ईश्वर को जिसकी अनुकम्पा से यह महत्वपूर्ण कार्य संभव हो पाया है। मैं अपने शोध निदेशक डॉ0 फूल सिंह गुर्जर, व्याख्याता, राजनीति विज्ञान, राजकीय महाविद्यालय, झालावाड़ के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने न केवल इस विषय पर अध्ययन के लिए प्रेरित किया, अपना अमूल्य समय व्यय किया व आत्मीय वातावरण प्रदान किया अपितु उचित मार्गदर्शन व विद्वतापूर्ण दिशा–निर्देश दिये। साथ ही मैं अपनी सहेली एवं शोध निर्देशक की धर्मपत्नी डॉ0 सज्जन पोसवाल, व्याख्याता, इतिहास विभाग, राजकीय महाविद्यालय, झालावाड़ का भी ह्रदय से आभार व्यक्त करती हूँ,

जिसकी सतत् प्रेरणा, उत्साहवर्धक एवं स्नेहिल सहयोग के कारण यह गुणात्मक शोध कार्य पूर्ण कर सकी।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने में उपयोगी एवं नवीनतम सामग्री उपलब्ध करवाने हेतु राजस्थान विश्वविद्यालय, कोटा विश्वविद्यालय, राजकीय महाविद्यालय झालावाड़, महारानी श्री जया कॉलेज भरतपुर व रामेश्वरी देवी कन्या महाविद्यालय भरतपुर के पुस्तकालय प्रभारियों व कर्मचारियों के प्रति भी अपना आभार व्यक्त करती हूँ।

उन विद्वानों के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने समय–समय पर प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष सहयोग प्रदान किया है। मेरे इस कार्य में मेरी मित्र श्रीमती रेखा शर्मा (व्याख्याता, संस्कृत, रामेश्वरी देवी कन्या महाविद्यालय, भरतपुर), डॉ0 सतीश त्रिगुणायत (परीक्षा नियंत्रक एवं व्याख्याता, इतिहास, ब्रज विश्वविद्यालय, भरतपुर), डॉ0 अशोक कुमार बंसल (प्राचार्य, रामेश्वरी देवी कन्या महाविद्यालय, भरतपुर) एवं प्राचार्य राजकीय महाविद्यालय, झालावाड़ को धन्यवाद प्रदान करती हूँ, जिनका समय–समय पर अविरल स्नेह, प्रोत्साहन, सहयोग व उपयोगी परामर्श प्राप्त हुआ है।

मैं अपने परिवारीजन के प्रति यथायोग्य आभार व्यक्त करती हूँ, जो मेरे प्रेरक बने तथा निरन्तर भावनात्मक रूप से सहयोग प्रदान किया। मैं अपनी स्वर्गीय माँ श्रीमती सरला गुप्ता, पिता श्री दोमादर लाल गुप्ता, आदरणीय श्वसुर श्री द्वारका प्रसाद गोयल जी एवं श्रद्धेय गुरूजी श्री पवन कुमार गुप्ता जी के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिनका आर्शीवाद व स्नेह सदैव मेरे साथ रहा। मैं अपनी पति श्री महेश चन्द गोयल (सहायक अभियंता, भरतपुर) का ह्रदय से धन्यवाद देती हूँ, जिन्होंने शोध के समय हर कठिन परिस्थिति में अतुलनीय सहयोग व मार्गदर्शन किया। साथ ही अपनी दोनों पुत्रियों सुश्री पूजा गोयल, सुश्री प्राची गोयल एवं पुत्र श्री कनिष्क गोयल की भी आभारी हूँ, जिन्होंने कार्य पूर्ण करने में हमेशा मेरा उत्साहवर्धन किया। मैं अपने सहोदर स्व0 कर्नल मुकेश व श्री संजय बंसल एवं सहोदरा श्रीमती मंजू गुप्ता का भी आभार प्रदर्शित करती हूँ, जिनकी शुभकामनाऐं एवं अविरल स्नेह ने मुझे इस मुकाम तक पहुँचाया।

मैंने इस शोध प्रबन्ध को यथासंभव सम्यक् एवं शुद्धतापूर्वक पूर्ण करने की चेष्टा की है। मेरी अज्ञानता या भूलवश यदि कोई अशुद्धि हो तो विद्धतजन भूल सुधार कर अध्ययन करने की चेष्टा करें। इस शोध ग्रन्थ के आकर्षक, स्वच्छ, स्पष्ट, सुरूचिपूर्ण तथा शुद्ध मुद्रण के लिए कम्प्यूटर ऑपरेटर श्री केवल सिंह चाहर को हार्दिक धन्यवाद देती हूँ।

श्रीमती निशा गोयल
व्याख्याता, राजनीति विज्ञान
रामेश्वरी देवी कन्या महाविद्यालय
भरतपुर (राज.)

अनुक्रमणिका

अध्याय	विवरण	पृष्ठ संख्या
	प्रमाण पत्र	i - iii
	प्राक्कथन	iv - xi
प्रथम अध्याय	परिचयात्मक	01–48
द्वितीय अध्याय	धर्म और राजव्यवस्था की अन्तःक्रिया और मनुस्मृति	49–99
तृतीय अध्याय	धर्म और राजव्यवस्था की अन्तःक्रिया और अर्थशास्त्र	100–152
चतुर्थ अध्याय	धर्म और राजव्यवस्था तथा मनुस्मृति और अर्थशास्त्र की तुलना	153–194
पंचम अध्याय	धर्म और राजव्यवस्था तथा धर्मनिरपेक्षता	195–235
षष्टम अध्याय	समग्र मूल्यांकन	236–283
	संदर्भ ग्रन्थ सूची	284–293
	शोध पत्रिकाऐं	294

अध्याय – प्रथम

परिचयात्मक

भारतीय परम्परा में जीवन दर्शन और तदनुरूप व्यवस्था पायी जाती है, जिसमें सामाजिक एवं राजव्यवस्था के स्वरूप का विवेचन पाया जाता है। इस परम्परा के अन्तर्गत वेद, संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद, ग्रन्थ व स्मृतियों से चली आई परम्परा है। चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दर्शनों की मान्यता है कि –''अखिल ब्रह्माण्ड'' के पीछे कोई उद्देश्य निहित है। यह ब्रह्माण्ड अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढ़ रहा है। जीवन की निम्न अभिव्यक्तियों की तुलना में मानव जीवन श्रेष्ठ है और मानव जीवन का ब्रह्म से तादात्म्य ही इस सृष्टि का उद्देश्य है। सकल ब्रह्माण्ड की एकरूपता के पीछे धर्म की शक्ति है।

प्राचीन काल में धर्म संबंधी धारणा बड़ी व्यापक थी और वह मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करती थी। धर्मशास्त्रकारों के मतानुसार ''धर्म'' किसी सम्प्रदाय या मत का द्योतक नहीं है, प्रत्युत यह जीवन का एक ढंग या आचरण संहिता है, जो समाज के किसी अंग एवं व्यक्ति के रूप में मनुष्य के कर्मों एवं कृत्यों को व्यवस्थित करता है तथा उसमें क्रमशः विकास लाता हुआ उसे मानवीय अस्तित्व के लक्ष्य तक पहुँचने के योग्य बनाता है। धर्म 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है – धारण करना अर्थात् जो तत्व सारे संसार के जीवन को धारण करता हो, जिसके बिना लोक स्थिति संभव न हो, जिससे सब संयमित, सुव्यवस्थित एवं सुसंचालित रहे, उसे 'धर्म' कहते हैं।

''धारणाद्धर्ममित्याहुधर्मेण विधृताः प्रजाः।[1]

हिन्दू धर्म की एक विशेषता है कि इसका कोई निजी नाम नहीं है। प्राचीन शास्त्रों में ''हिन्दू धर्म'' नाम का उल्लेख देखने को नहीं आता। ''हिन्दू'' शब्द ''सिन्धु'' का विकृत रूप है। सिंधु नदी के पार बसने वाले लोगों को पश्चिम के लोग ''हिन्दू'' कहते थे और उनके धर्म को ''हिन्दू धर्म'' कहते थे। प्राचीन शास्त्रों में हिन्दू धर्म को केवल ''धर्म'' शब्द मात्र से ही उल्लेख किया गया है। इससे जान पड़ता है कि प्राचीन युग में हिन्दू धर्म के सिवा दूसरा कोई धर्म नहीं था। कहीं–कहीं इस धर्म को ''सनातन धर्म'' भी कहा जाता था। ''सनातन धर्म'' शब्द

से हिन्दू धर्म के केवल एक गुण का उल्लेख होता है। ''सनातन'' का अर्थ है नित्य स्थायी अर्थात् उसकी उत्पत्ति नहीं है। किसी समय विशेष में; किसी व्यक्ति विशेष द्वारा यह धर्म प्रचलित नहीं हुआ है। राम या कृष्ण, व्यास या वाल्मिकी कोई भी हिन्दू धर्म के संस्थापन नहीं है। यह धर्म उनसे पहले भी था। उन्होंने भी इसको अनादि ''सनातन धर्म'' कहा है। कहीं–कहीं हिन्दू धर्म को वर्णाश्रम धर्म नाम से अभिहित किया गया है। इसका कारण यह है कि वर्णाश्रम व्यवस्था हिन्दू धर्म की एक महत्वपूर्ण व्यवस्था है। अन्य किसी धर्म में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं है।[2]

'धर्म' शब्द उन संस्कृत शब्दों में है जिनका प्रयोग कई अर्थों में होता आया है। यह शब्द ''धृ'' धातु से बना है, जिसका तात्पर्य है – धारण करना, आलम्बन देना, पालन करना। ऋग्वेद की ऋचाओं में यह शब्द संज्ञा अथवा विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ प्रायः ''ऊँचा उठाने वाला'', ''प्राण तत्व का पालन पोषण करने वाला'' है। अधिक स्थानों पर 'धर्म', 'धार्मिक विधियों' या धार्मिक क्रिया संस्कारों के रुप में ही प्रयुक्त हुआ है। कहीं–कहीं धर्म का अर्थ 'निश्चित नियम (व्यवस्था या सिद्धान्त) या आचरण–नियम है।

अथर्ववेद में ''धर्म'' शब्द का प्रयोग ''धार्मिक क्रिया संस्कार करने से अर्जित गुण'' के अर्थ में हुआ है।

ऐतरेय ब्राह्मण में ''धर्म'' शब्द सकल धार्मिक कर्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

छान्दोग्योपनिषद में धर्म का एक महत्वपूर्ण अर्थ मिलता है, जिसके अनुसार धर्म की तीन शाखाऐं मानी गयी हैं – (1) यज्ञ, अध्ययन एवं दान अर्थात् गृहस्थ आश्रम, (2) तपस्या अर्थात् तापस धर्म तथा (3) ब्रह्मचरित्व अर्थात् आचार्य के घर में अन्त तक रहना। यहाँ धर्म शब्द आश्रमों के विलक्षण कर्तव्यों की ओर संकेत कर रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म शब्द का अर्थ समय–समय पर परिवर्तित होता रहा है किन्तु अन्त में यह मानव के विशेषाधिकारों, कर्तव्यों, बंधनों का

द्योतक, आर्य जाति के सदस्य की आचार–विधि का परिचायक एवं वर्णाश्रम का द्योतक हो गया।

''तैत्तिरीयोपनिषद्'' में छात्रों के लिए जो धर्म शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह इसी अर्थ में है यथा – 'सत्यं वद', धर्मं चर' अर्थात् 'सत्य बोलो', ' धर्म का आचरण करो'।

'भगवद्गीता' के 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' में भी धर्म शब्द का यही अर्थ है। धर्मशास्त्र साहित्य में धर्म शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मनुस्मृति के अनुसार मुनियों ने मनु से सभी वर्णों में धर्मों की शिक्षा देने के लिए प्रार्थना की थी। यही अर्थ याज्ञवल्क्य स्मृति में भी पाया जाता है। तन्त्रवार्तिक के अनुसार धर्म शास्त्रकारों का कार्य है, वर्णों एवं आश्रमों के धर्मों की शिक्षा देना।

मनुस्मृति के व्याख्याता मेधातिथि के अनुसार स्मृतिकारों ने धर्म के पाँच स्वरूप माने हैं – (1) वर्ण धर्म, (2) आश्रम धर्म, (3) वर्णाश्रम धर्म, (4) नैमित्तिक धर्म (यथा प्रायश्चित्त) तथा (5) गुणधर्म (अभिषिक्त राजा के संरक्षण संबंधी कर्तव्य)।

पूर्व मीमांसा सूत्र में जैमिनि ने धर्म को – 'वेदविहित प्रेरक' लक्षणों के अर्थ में प्रयुक्त किया है, अर्थात् वेदों में प्रयुक्त अनुशासनों के अनुसार चलना ही धर्म है। धर्म का संबंध उन क्रिया–संस्कारों से है, जिनसे आनन्द मिलता है और जो वेदों द्वारा प्रेरित एवं प्रशंसित हैं।

वैशेषिक सूत्रकार कणाद – 'धर्म वही है, जिससे आनन्द एवं निःश्रेयस की सिद्धि हो। (यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः) को स्वीकार करते हैं।

अनुशासन पर्व में 'अहिंसा परमो धर्मः', वन पर्व में 'आनृशंस्यं परो धर्मः', मनुस्मृति में 'आचारः परमो धर्मः' कहकर धर्म को परिभाषित किया गया है। बौद्ध धर्म साहित्य में धर्म शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कभी–कभी इसे भगवान बुद्ध की सम्पूर्ण शिक्षा का द्योतक माना गया है। इसे अस्तित्व का एक तत्व अर्थात जड़ तत्व, मन एवं शक्तियों का एक तत्व भी माना गया है।[3]

हिन्दुत्व में धर्म का सम्बन्ध नैतिक नियमों से है। धर्म के अनुसरण से व्यक्ति अपनी जाति तथा हिन्दू सिद्धान्तों के अनुसार अपने आचरण को निश्चित करता

है। ऐसा कहा जाता है कि धर्म के पालन से ही व्यक्ति को पुनर्जन्म मिलता है। हिन्दुत्व ही अपने आप में ''सनातन धर्म'' या ''अनन्त नियम'' कहा जाता है। बुद्ध के अनुसार ''सत्य का सार'' ही धर्म है। सनातन धर्म में रहने वाले प्राणियों में पवित्रता, सद्भावना, दया, धैर्य, आत्म संयम, उदारता, ईमानदारी जैसे गुण होते हैं।[4]

प्रत्येक व्यक्ति के नैतिक एवं धार्मिक कर्तव्य और अधिकार ही हिन्दुत्व के अनुसार धर्म हैं। सामान्यतः इसका सम्बन्ध धर्म द्वारा संस्थापित कर्तव्यों से है, किन्तु इसका अर्थ सद्गुणों या उत्तम व्यवहार, पवित्र नियमों का संग्रहण है और हिन्दू धर्म भी 'सनातन धर्म' कहलाता है, जिसका अर्थ है – सम्पूर्ण धर्म। धर्म के प्रति बौद्ध तथा जैन धर्म का भी यही दृष्टिकोण है।[5]

महाभारत में आया है – एक समझदार व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम तीनों पुरूषार्थों को प्राप्त करता है, किन्तु यदि तीनों की प्राप्ति न हो सके तो वह धर्म एवं अर्थ प्राप्त करता है, किन्तु यदि उसे एक ही चुनना है तो वह धर्म का ही चुनाव करता है। गौतम ने धर्म को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है। याज्ञवल्क्य ने भी यही बात कही है। आपस्तम्ब ने कहा है कि धर्म के विरोध में आने वाले सभी सुखों का भोग करना चाहिए, इस प्रकार उसे दोनों लोक मिल जाते हैं। भगवद्गीता में कृष्ण अपने को धर्माविरुद्ध काम के समान कहते हैं। कौटिल्य का कहना है कि धर्म एवं अर्थ के अविरोध में काम की तृप्ति करनी चाहिए, बिना आनन्द का जीवन नहीं बिताना चाहिए किन्तु अपनी मान्यता के अनुसार कौटिल्य ने अर्थ को ही प्रधानता दी है, क्योंकि अर्थ से ही धर्म और काम की उत्पत्ति होती है।

मनुस्मृति, विष्णुधर्मसूत्र एवं भागवत ने धर्म को ही प्रधानता दी है। कामसूत्रकार वात्सायन ने धर्म, अर्थ एवं काम की परिभाषा की है और क्रम से प्रथम एवं द्वितीय को द्वितीय एवं तृतीय से श्रेष्ठ कहा है, किन्तु राजा के लिए उन्होंने अर्थ को सर्वश्रेष्ठ कहा है। कामन्दक ने धर्म को प्रधानता दी। अर्थ की प्राप्ति का आधार धर्म को ही बताया है।[6]

आदिकाल में इसे ऋत् के नाम से जाना गया। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र के अनुसार सबसे व्यापक और मूलभूत संप्रभुता 'ऋत्' की है। ऋत् उस शक्ति का

नाम है जो मानव को सत्पथ पर प्रेरित करती है। ऋत् से तात्पर्य उन विशाल व्यापक आदेशों से है जो मानव मात्र के कल्याण के निमित्त आवश्यक हैं। ऋत् वे नियम हैं, जो ब्रह्माण्ड को संचालित करते हैं।[7]

बृहदारण्योपनिषद् में ऋत् का उल्लेख – ब्रह्मा ने धर्म की सृष्टि की। सृष्टि के निर्माता को यह अनुभव हुआ कि चार वर्णों की रचना के बाद भी सामाजिक व्यवस्था की रक्षा हो पायेगी अथवा नहीं; अतः उसने अपनी अद्भुत कृति 'धर्म' की रचना और स्थापना की जो कि निर्बल को भी सबल के आतंक से बचाता है।[11]

प्रकृति में निरन्तर परिवर्तन हो रहे हैं, तद्नुरूप धर्म का विचार भी एक गतिशील विचार है। सृष्टि जन्म और पुनर्जन्म वास्तव में 'कर्म' के लिए ही अवसर प्रदान करते हैं। 'कृ' धातु से बना 'कर्म' क्रिया का द्योतक है। भारतीय चिन्तन के आस्तिक उपासक यहाँ तक कहते हैं कि हम अपने निर्माता को नकार सकते हैं, क्योंकि उसने हमें इसकी भी आजादी दी है। पुरुषार्थ चतुष्ट्य में अन्तिम पुरुषार्थ 'मोक्ष' का तात्पर्य है–व्यक्ति का ब्रह्म से तादात्म्य। मोक्ष प्राप्ति के लिए सन्यासियों ने योग की साधना की किन्तु कर्म से मुक्ति नहीं हुई। वास्तव में कर्मयोग का तात्पर्य संसार त्यागना नहीं है।

कर्मों का प्रारम्भ न करने से ही पुरुष को नैष्कर्म्य में प्राप्ति नहीं हो जाती और कर्मों का त्याग करने से ही सिद्धि नहीं मिल जाती क्योंकि कोई भी मनुष्य कर्म किए बिना क्षणभर भी नहीं रह सकता है। प्रकृति के गुण प्रत्येक परतंत्र मनुष्य को सदा कुछ न कुछ कर्म करने में लगाया ही करते हैं।[9]

इस प्रकार कर्म आवश्यक ही नहीं अपितु अपरिहार्य है। मनुष्य की वास्तविक प्रकृति उसकी आत्मा है, किन्तु उसे आत्मा की पूर्णता का भान हुए बिना भी कर्म करना पडता है। उसका समय और स्थान के अनुरूप प्रत्येक कर्म उसके अखिल ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध को स्थापित करता है। गीता 'स्वधर्म' की शिक्षा देती है

पराये धर्म का आचरण सुख से करते बने, तो भी उसकी अपेक्षा अपना धर्म अर्थात् चातुर्वर्ण्य विहित कर्म ही अधिक श्रेयस्कर है फिर चाहे वह विगुण अर्थात् स्वदोष भले ही हो स्वधर्म के अनुसार (आचरण करने पर) मृत्यु हो जाये तो भी उसमें कल्याण है, (परन्तु) परधर्म भयावह है।[10]

हिन्दुओं के लिए वेद ही सम्पूर्ण ज्ञान और धर्म के स्रोत हैं, उनके पश्चात धर्मशास्त्र आते हैं। महाभारत में कहा गया है कि शील ही धर्म का कारण है। शील से ही तीनों लोग जय किये जा सकते हैं; इस लोक में शीलवान् मनुष्यों के लिए कोई भी कार्य असाध्य नहीं है। भीष्म ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि अभ्युदय, अपीड़न और धारण अर्थात् संरक्षण जिस उपाय से हो, वही धर्म है। कृष्ण अयंगर ने लिखा है कि धर्म का तात्पर्य है – मर्यादा बनाये रखना, पोषण करना तथा सम्पालन करना। महर्षि कणाद लौकिक व पारलौकिक उन्नति को ही धर्म मानते हैं; गीता के अनुसार यज्ञ, दान एवं तप रूप कर्म ही धर्म है। संक्षेप में जिससे समस्त प्राणियों का संरक्षण तथा उन्नति होती है, वही धर्म है। दूसरे शब्दों में; जिससे सम्पूर्ण समाज का पूर्ण व सर्वांगीण विकास हो वही धर्म हे।[11]

चारों वर्ण, चारों आश्रम, सम्पूर्ण लोकाचार और नष्ट होते हुए सभी धर्मों का रक्षक राजा है, इसीलिए उसे धर्म का प्रवर्तक माना जाता है। स्वधर्म पालन से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है, स्वधर्म के उल्लघंन से सर्वथा अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी, अतः राजा को चाहिए कि वह प्रजा को स्वधर्म का अतिक्रमण न करने दे।[12]

शुक्रनीति में भी कहा गया है कि राजदण्ड के भय से समस्त जन अपने–अपने धर्म में तत्पर रहते हैं। राजा के लिए यह आवश्यक है कि प्रजा को स्वधर्म में निरत रखे। इसी कारण राजा को 'धृतब्रत' कहा गया। यद्यपि प्राचीन भारत में राजा को शासन की सर्वोच्च सत्ता प्राप्त थी, फिर भी वह स्वयं धर्म के अधीन था। हिन्दू विचारों के अनुसार विधि के शासन के रूप में धर्म राज्य का सच्चा प्रभु है। राजा कार्यपालिका है जो दण्ड कहलाता है और जो आध्यात्मिक प्रभु (धर्म) के आदेशों को स्थिर रखता है एवं लागू करता है। इस प्रकार हिन्दू राज्य में विधि (कानून) का स्रोत लौकिक प्रभु नहीं है। विधि के स्रोत उससे ऊपर और आगे हैं, वे उसकी रचना नहीं है। वह तो उनके पालन को देखता है।[13]

प्राचीन भारतीय विचारकों की एक आधारभूत धारणा स्मृतियों में प्रतिपादित सामाजिक व्यवस्था में धर्म की सर्वोच्चता का सिद्धान्त था। स्मृतियों में कहा गया है कि स्थूल रूप में धर्म सामाजिक पद्धति की इकाइयों के लिए विहित कर्तव्यों की

सम्पूर्ण योजना है, जिसे वेदों, पवित्र परम्पराओं और अच्छी प्रथाओं से लिया गया है। स्मृतियों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का प्रभाव समानान्तर ग्रन्थों में उनके लेखकों–कौटिल्य और कामन्दक आदि ने स्मृतियों के सिद्धान्त को ही अपनाया है और धार्मिक नियमों एवं प्रथाओं को कानून का स्रोत माना है।[14]

धर्म भारतीय संस्कृति का प्राण है। भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले वेदों के सम्पूर्ण वर्ण्य विषयों को धर्म का मूल माना गया है – 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'। 'धर्म' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है – धारण करने वाला। वामन शिवराम आप्टे के अनुसार – 'ध्रियते लोकोऽनेन, धरति लोकं वा' अर्थात् धर्म ही ऐसा तत्व है, जो व्यक्ति को देशकालानुसार आचरण की प्रेरणा देकर समाज में रहने योग्य बनाता है। ''धारयते लोकम् इति धर्मः'' व्युत्पत्ति सूचित करती है कि धर्म ही परिवार, समाज और राष्ट्र को एकसूत्र में पिरोने का कार्य करता है। इसी अर्थ को ध्यान में रखकर महिर्ष वेदव्यास ने बताया है – ''धर्म के सम्बन्ध में ऐसा निश्चय है कि जो अहिंसायुक्त है, वही धर्म है। हिंसा को हिंसा से रोकने के लिए धर्म की यह व्याख्या की गई है। धर्म ही प्रजा को धारण करता है और धारण करने के कारण ही उसे धर्म कहते हैं, इसलिए जो प्राणरक्षा से युक्त हो–जिसमें किसी जीव की हिंसा न की जाती हो, वही धर्म है।[15]

आचार्य हेमेन्द्र ने भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में इस पृथ्वी को स्थिर रहने का कारण धर्म को ही माना है। आचार्य चाणक्य ने भी कहा है– धर्मेण धार्यते लोकः। धर्मशास्त्रियों ने बताया है कि मानव व्यवहार के लिए उचित समस्त तत्व धर्म है। आचार्य मनु और याज्ञवल्क्य ने वेद, स्मृति, सदाचार एवं मन की प्रसन्नता को धर्म का मूल माना है। महर्षि याज्ञवल्क्य सम्यक् संकल्प से उत्पन्न काम को भी धर्म मानते हैं। स्पष्ट है कि वेद धर्म के स्रोत है; स्मृतियाँ धर्म के स्रोत हैं; सज्जनों का आचरण एवं मनस्तुष्टि भी धर्म का स्रोत है।

अतः वेद शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार सदाचारियों का अनुसरण करते हुए ऐसे कार्य करना धर्म है, जिनसे नैतिक उन्नति होने के साथ–साथ आत्मतुष्टि भी मिले। मानव के आचरण में जिन महत्वपूर्ण तत्वों का समावेश होना चाहिए; उनको दृष्टि में रखकर हमारे प्राचीन विद्वानों ने धर्म के लक्षण बताये हैं। विचारवान मनुष्य

दृढसंकल्प करके इस सभी तत्वों को जीवन में उतार सकता है और अपनी उन्नति करते हुए एक नैतिक आचरण युक्त नागरिक बन सकता है।

धर्म शब्द की व्युत्पत्ति, परिभाषा, स्रोत, लक्षणों को समझने से स्पष्ट हो जाता है कि, जो कार्य और आचरण व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र की उन्नति करने में समर्थ हैं, वे धर्म हैं। इसके विपरीत अवनति की ओर अग्रसर करने वाला आचरण अर्थ है। अतएव व्यक्ति को वर्णाश्रमव्यवस्था के अनुसार कर्तव्य पालन करना चाहिए; सत्य, अहिंसा, क्षमा आदि का सेवन करना चाहिए तथा अपने परिवार और समाज के प्रति उत्तरदायित्व वहन करना चाहिए। इस प्रकार आत्मिक उन्नति के साथ–साथ राष्ट्रियोत्थान के लिए भी प्रयत्नशील होना चाहिए। राजा को प्रजा का पालन ठीक से करना चाहिए। राज्य की उन्नति को दृष्टि में रखकर अपने अन्दर गुणों का आधान करना भी राजा का धर्म है। महाभारत (शांतिपर्व) व अर्थशास्त्र (तृतीय अधिकरण) के अनुसार प्रजारंजन व वर्णाश्रम धर्म की रक्षा राजा का परम धर्म है। शुक्रनीति में आचार्य शुक्र ने धर्मस्थापना से ही राष्ट्ररक्षा को सम्भव बताते हुए राजाओं को सदुपदेश दिया है कि – देशधर्म, जाति धर्म, कुल धर्म, सनातन धर्म, प्राचीन धर्म और नवीन धर्म सभी धर्मों का पालन करना चाहिए।

पाश्चात्य भाषाओं में धर्म के सदृश विलक्षण अर्थ वाला शब्द शायद है ही नहीं। अंग्रेजी का शब्द Religion तथा जर्मन का शब्द Sittlichkeit (जिटलिशकाइट) धर्म का पूर्ण, सच्चा अर्थ व्यक्त करने में असमर्थ है। मुस्लिमों का 'मजहब' भी धर्म जैसा भाव नहीं रखता। वैसे स्वेज नहर से पश्चिमी संसार धर्म से अभिप्राय ''ईश्वर और मनुष्य का सम्बन्ध रखने वाला (Relation between God and Man) तथा स्वेज से पूर्वी संसार, जीवन का पथ (Way of Life) अर्थ मानता है। 'सम्प्रदाय' शब्द धर्म की अपेक्षा अधिक संकीर्ण एवं हीन अंगों वाला है। वह धर्म के समक्ष टिक नहीं सकता। महात्मा गाँधी तथा टैगोर आदि महानुभावों ने धर्म की विलक्षणता स्वीकार कर इसकी बडी ऊँची श्रेणी मानी है। वस्तुतः धर्म ही जीवन की गति है, इसके बिना यह निष्प्राण है, निरर्थक है। जितने जीवन–सम्बन्धी गुण सांसारिक स्वरूपों से सम्बन्ध रखते हैं, धर्म के दिव्य सूत्र के संयुक्त है। वही तत्व धर्म कहा जा सकता है, जो व्यक्तियों के चरित्र और नैतिक भावनाओं को परिष्कृत कर विकसित करे। तभी तो ''अहिंसा परमो धर्मः', ''न हि सत्यात् परो धर्मः'', ''आचारः परमो

धर्मः'' कहा गया। जिससे प्रत्येक मुनष्य के ह्रदय में बुझी अग्नि जलने लगे, जो अन्तर में एक अद्भुत प्रकाश दे, सद्दिशा दिखाए और सद्गति देकर सत्य लक्ष्य तक पहुँचाए, यही तो हमारी संस्कृति का श्रेष्ठ तत्व है।

सारांशतः जिससे मानव जीवन के व्यावहारिक, आध्यात्मिक पक्षों में विकास हो, सभी प्रकार का सबका और अपना हित हो, जिससे सबको सुख–संतोष मिले, जो जीवन में व्यवस्था, नियमबद्धता, चेतनता एवं पवित्रता के साथ पूर्णता लाए–वही आदर्श आर्य महापुरुषों, सनातन साधु महात्माओं एवं सद्ग्रन्थों का निर्देश ही धर्म है, जो हमारी संस्कृति का प्राण है। आज हमें इसी सच्चे धर्म पालन की परम आवश्यकता है। तभी हमारा कल्याण होगा।[16]

मनुस्मृति और अन्य स्मृतियों में धर्म का आचार शास्त्रीय रूप प्रस्तुत किया गया है। राधाकृष्णन् को मनु द्वारा कहे गये धर्म के दस लक्षण–धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध को मान्य समझा है। मनुस्मृति के अनुसार धर्म के चार स्रोत हैं – (1) वेद (2) वेदवेत्ता द्वारा मान्य स्मृति और शील (3) साधु पुरुषों का आचार और (4) आत्मसंतुष्टि। ईशोपनिषद में कहा है कि समस्त भूतों को आत्मा में देखने वाला शोक और मोह का अतिक्रमण करता है। गीता में उल्लेख है कि समदर्शी, ब्राह्मण और चाण्डाल में पार्थक्य नहीं करता। इन्हीं आशयों को व्यक्त करने वाली ऋषि देवल की इस पंक्ति का राधाकृष्णन् ने उल्लेख किया है–''आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्''।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के धर्मस्थीय प्रकरण में दीवानी कानून का विस्तृत विवेचन है। धर्मस्थ में धर्म शब्द कानून का बोध कराता है। फौजदारी कानून के लिए कण्टकशोधन शब्द का प्रयोग किया गया है। कानूनी विवादों के समानार्थक चार कारक निर्दिष्ट किए गए हैं –''धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन। कौटिल्य ने कहा है कि –''धर्म सत्य में स्थित है। मीमांसा दर्शन के प्रवर्तकों और व्याख्याओं ने धर्म का अर्थ यज्ञीय कर्मकाण्ड को करने के अर्थ में किया है। ''चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। जैमिनी, शबर, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, पार्थ, सारथि आदि मीमांसा शास्त्र विशारदों ने धर्म के इस कर्मकाण्ड अभिप्राय को ग्रहण किया है। धार्मिक

व्यापकतावाद और अन्तः प्रज्ञावाद का पोषण राधाकृष्णन् करते हैं। महात्मा गाँधी का परम सिद्धान्त था कि प्रत्येक धर्म के परिव्याप्त नैतिक आदर्श समान ही हैं।[17]

पारम्परिक चिन्तन में वर्णाश्रम का आदर्श एक प्रकार से पारिवारिक आदर्श का ही विस्तार है। जहाँ सबके कुछ अधिकार और सबके कुछ दायित्व पाये जाते हैं और सबका काम सबकी सहायता करना और सबके कल्याण के लिए काम करना होता है। वर्णाश्रम विहित पारम्परिक समाज में प्रत्येक व्यक्ति को वर्ण के आधार पर जीवन में स्थान, व्यवसाय, मित्र–मण्डली, आकांक्षाओं की तृप्ति का अवसर प्राप्त होता था, जो जीवन पर्यन्त सहकार उपस्थित करता था। इस प्रकार सहकार की रक्षा करता था। सामुदायिक व्यक्तित्व का इसी रूप में विकास होता था। वर्णाश्रम द्वारा शताब्दियों से परम्पराओं, अभ्यासों, विधि, धार्मिक विश्वासों, नैतिकता और इस प्रकार स्वधर्म का निर्वाह होता था और ये पीढी दर पीढी चले आते थे।

धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में प्राप्य युगों की कल्पना इस प्रकार की गई है – **सतयुग** में सारा ब्रह्माण्ड सीधा धर्म द्वारा नियंत्रित था। प्रत्येक व्यक्ति स्वधर्म का निर्वाह करता था जिसकी समस्वरता अखिल ब्रह्माण्ड के साथ थी। **त्रेतायुग** में धर्म की शक्ति कुछ क्षीण हो गयी। समस्वरता में बाधा पडने लगी। धर्म सीधा नियंत्रित और संचालित नहीं कर सकता था। समाज में सामाजिक समूह बनने लगे ताकि जीवन की आसुरी वृत्ति से रक्षा हो सके। यद्यपि बृहत्तर व्यवस्था अब भी सुरक्षित थी। **द्वापर युग** में धर्म केवल आधार रह गया। राज्य की स्थापना आवश्यक हो गयी ताकि राजनीतिक व्यवस्था के द्वारा सामाजिक व्यवस्था की रक्षा हो सके। **कलियुग** में धर्म की अवनति हुई। जब धर्म के तीन चरण कट गये और वह अपने मूल स्वरूप से एक चौथाई रह गया। बिना राज्य के समाज का विघटन हो जायेगा, जीवन के उद्देश्यों की रक्षा न हो पायेगी आदि तथ्यों को ध्यान में रखते हुए राज्य अस्तित्व अपरिहार्य हो गया।

यद्यपि राज्य का उद्देश्य नैतिक तथा जीवन के उद्देश्य से व्यक्ति को जोड़ने वाला था तथापि ऋषि प्रणीत धर्म उस रूप में धार्मिक नहीं वरन् लौकिक था। राज्य किसी मत विशेष से सम्बद्ध नहीं था अपितु सहिष्णु राज्य था। जीवन के

भौतिक प्रसंगों में उसका हस्तक्षेप था, किन्तु इस रूप में धर्म राज्य था कि राज्य का उद्देश्य नैतिक था। भारत धर्म का यूरोप के समान चर्च नहीं था।[18]

प्राचीन भारतीय शासन प्रणाली में राजा से भी बडा राजा था धर्म अर्थात् धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक, न्यायिक और प्रशानुगत विधान, जो लोगों के जीवन को मूलतः परिचालित करता था। इस निवैयक्तिक धर्म सत्ता को इसके मूलभाव में तथा इसके बाह्य रूप को समष्टि में पवित्र तथा सनातन माना जाता था। मूल धर्म में हस्तक्षेप करने का किसी भी लौकिक सत्ता को कोई निरंकुश अधिकार नहीं था। स्वयं ब्राह्मण भी धर्म सम्बन्धी लेखों को सुरक्षित रखने वाले तथा धर्म के व्याख्याकार थे, वे न तो धर्म की रचना करते थे, न उन्हें अपनी इच्छानुसार उसमें कोई परिवर्तन करने का अधिकार था। राजा तो धर्म का केवल रक्षक, परिचालक और सेवक होता था, उसका यह दायित्व था कि वह धर्म का पालन करवाये और हर प्रकार के अपराध, भयानक उच्छृंखलता तथा धर्मोल्लघंन को रोके। वह स्वयं सबसे पहले धर्म का अनुसरण करने तथा उस कठोर नियम का पालन करने के लिए बाध्य होता था, जिसे यह उसके व्यक्तिगत जीवन और कर्म पर तथा उसके राजकीय पद और प्रभुत्व के क्षेत्र, सामर्थ्यों और कर्तव्यों पर लागू करता था।

धर्म के प्रति राजशक्ति की इस प्रकार की अधीनता कोई मनगढ़न्त सिद्धान्त नहीं जो व्यवहार में क्रियाशील न हो, क्योंकि सामाजिक धार्मिक विधान का शासन जनता के सम्पूर्ण जीवन को सक्रिय रूप में मर्यादित रखता था और इसीलिए वह एक जीवित–जागृत सत्य था तथा राजनीतिक क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और क्रियात्मक परिणामों को उत्पन्न करता था। धार्मिक कार्यों में सर्वसाधारण को सुनिश्चित स्वाधीनता प्राप्त थी तथा कोई भी लौकिक सत्ता सामान्यतया उसका अतिक्रमण नहीं कर सकती थी। प्रत्येक धार्मिक समाज प्रत्येक नया या पुरातन धर्म अपनी निजी जीवन प्रणाली तथा संस्थाओं का निर्माण कर सकता था और उसके धर्माधिकारी या व्यवस्थापक संघ होते थे, जो अपने निज क्षेत्र में पूर्ण स्वतंत्रता का प्रयोग करते थे।

इसी प्रकार शासन व्यवस्था के क्षेत्र में भी राजा की शक्ति धर्म के प्रचलित संविधान के द्वारा संचालित और मर्यादित थी। उसका कर लगाने का अधिकार राजस्व के अत्यन्त प्रधान स्रोतों में तो एक नियम प्रतिशत से अधकि कर न लगा सकने की सीमा के द्वारा सीमित था। उसका शासन करने का अधिकार प्रजाजन की संतुष्टि और सद्भावना पर ही आश्रित था। राजपद की पवित्रता और मान–मर्यादा स्वीकार करते हुए भी यह नियम बनाया गया था कि यदि राजा धर्म को सच्चाई के साथ कार्यान्वित करना छोड दे तो प्रजा उसका आदेश मानने के लिए बाध्य नहीं होगी। मनु ने तो यहाँ तक व्यवस्था दी है कि अन्यायी और अत्याचारी राजा को पागल कुत्तों की तरह मार डालना प्रजा का कर्तव्य है।[19]

धर्म राज्य की अवधारणा पारम्परिक भारतीय राज्य सिद्धान्त का सबसे महत्वपूर्ण योगदान कहा जा सकता है। राज्य का कोई भी कार्य धर्म के क्रियान्वयन से अधिक नहीं हो सकता था, राज्य शक्ति कभी भी धर्म के नियम का उल्लंघन नहीं कर सकती थी।

भारतीय राजनीतिक दर्शन स्वशासित स्वराज्यों का दर्शन था। कुछ संशोधनों के साथ यह सिद्धान्त बौद्ध और जैन राज्यों में प्राप्त हुआ है। वैदिक राज्यों और स्वशासित जनसमुदाय के बारे में जानकारी कुछ कम है। पुराणों में वैदिक राज्यों का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु उनकी वास्तविक संरचना की झलक ही प्राप्त होती है। रामायण में राम–राज्य पृथ्वी पर पारम्परिक राज्य का महानतम आदर्श माना जाता है। ई.पू. चौथी शताब्दी में यूनानी आक्रमण के समय भारत में धर्मराज्य का उच्छेद होने लगा। नंदवंश के उच्छेद चंद्रगुप्त के शासन में धर्मराज्य एकतंत्र बन गया। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में शासन संचालन के नियम के रूप में यथार्थवाद रहा किन्तु उसका यर्थाथवाद भी धर्म के समादर पर ही निर्मित था। राज्य का उद्देश्य धर्म की रक्षा करना था। मौर्य शासन का अशोक के अधीन संरक्षण और परिवर्धन हुआ; धर्म राज्य का निर्वाह हुआ। अशोक के उत्तराधिकारी क्षीण थे अतः अस्थिरता आ गई। शुंगवंश ने स्थान लिया शुंगवंश के अधीन भी आर्यधर्म का निर्वाह हुआ।

गुप्तकाल में कला, साहित्य, दर्शन का पर्याप्त विकास हुआ, बर्बर आक्रमण हुए। आक्रमण और प्रतिरोध का क्रम चलता रहा तथा इस युग में छोटे राज्यों के रूप में स्वराज्य तथा धर्मराज्य का निर्वाह होने लगा। कई जातियाँ आई और भारत धर्म में विलीन हो गयी। विजेताओं ने स्वराज को भंग किया पर राज्य स्थापित हो गये किन्तु उन विजेताओं उत्तराधिकारियों ने भारतीय सभ्यता के मूल्यों को ग्रहण किया तथा सनातन धर्म के अनुरूप ढल गये। समस्वरता का पुनरोदय हुआ और धर्मराज्य की पुनर्स्थापना हुई।

मुगल शासन काल में सामाजिक व्यवस्था कठोर हो गयी। वर्णाश्रम धर्म जो कि जाति प्रथा का रूप ले चुका था उसने आर्य धर्म की रक्षा की। वर्णाश्रम की शिथिलता का कारण था कि राजव्यवस्था में धर्म राज्य समाप्त हो चुका था। इसी से जाति प्रथा के रूप में कठोर सामाजिक व्यवस्था की गई। ऐहिक कर्म का स्थान केवल परलोकवाद पर अति आग्रह ने ले लिया।

शिवाजी ने मराठा राज्य के रूप में पुनः स्वराज्य और धर्मराज्य के आदर्श को ग्रहण किया। रामदास की शिक्षाओं पर चले। पेशवा और चितपावन ब्राह्मण जो राजनीतिक समुदाय पर शासन चलाने के भागीदार थे, उन्होंने स्वराज्य के इस आदर्श को पुनः ग्रहण किया, किन्तु 19वीं शताब्दी के आरम्भ में विध्वंसक युद्धों के बाद मराठा साम्राज्य का पतन हुआ और इस प्रकार स्वराज्य का वह पारम्परिक स्वरूप एक बार फिर समाप्त हो गया। इसके बाद का काल है ब्रिटिश सामाज्य का शासन काल और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उभरा भारत का पुनर्जागरण, जिसकी अभिव्यक्ति थी–सुधार आन्दोलन, सांस्कृतिक और राजनीतिक स्वतंत्रता के संघर्ष के रूप में।

पुनर्जागरण काल से आज तक भारतीय चिन्तन के रूप में केवल भारतीय मानस को अपनी खोज के लिए प्रेरित किया है वरन् अनेक पश्चिमी अध्येताओं को भी आकर्षित किया है। इस संदर्भ मे धर्म का विचार अपने लौकिक सामाजिक अर्थ में आज भी सान्दर्भिक है।

मानव के अन्दर सबसे अधिक धर्म की ही एक ऐसी सहज प्रकृति विद्यमान है, जो नष्ट नहीं की जा सकती, वह केवल अपने रूप बदल लेती है। धर्म की

एक विशेष प्रधानता जीवन पर इसका छा जाना अथवा कम से कम उसे अपने रंग में रंग देना, धार्मिक संस्कारों तथा धार्मिक विचार का दूसरे समस्त संस्कारों तथा मौलिक विचारों के ऊपर आसीन होना रही है। प्राचीन भारतीय धर्म ने तो मानव को आत्मा को अस्वीकार करने की भी स्वतंत्रता दी है, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत में दर्शन और विज्ञान ने धर्म से अलग होने की कभी आवश्यकता ही अनुभव नहीं की, बल्कि धर्म में, धर्म के प्रकाश में ही वे विकसित हुए।[20]

हिन्दू धर्म विश्व के प्राचीनतम धर्मों में से एक है। इसकी जडें विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में पाई जाती है। कालक्रमानुसार अन्य वेदों, उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों आदि के द्वारा इस धर्म का स्वरूप अन्य सभी धर्मों से अलग है, क्योंकि इसका कोई एक धर्मग्रन्थ नहीं; संस्थापक नहीं और न कोई देवी–देवता विशेष है, इसीलिए इसे सनातन धर्म भी कहा जाता है। यह कोई साम्प्रदायिक धर्म नहीं है। इसमें वेद पुराण एवं स्मृतियों का बहुदेववाद है तो उपनिषदों का ब्रह्मवाद अथवा वेदान्त का एकेश्वरवाद भी है जो मनुष्य के उच्चतर एंव शाश्वत जीवन मूल्यों के विकास में सहायक बने, उसके लौकिक एवं पारलौकिक जीवन को संवारने में सहायक बने और अन्य धर्मों एवं सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णु होकर मनुष्य को समाज में उचित समायोजन करके शान्ति एवं सद्भाव के साथ रहना सिखाए वही वास्तविक हिन्दू धर्म है।[21]

आधुनिक राजनीतिक चिन्तक सामान्यतः धर्म और राजनीति को पृथक–पृथक मानते हैं। सोचते हैं कि धर्मपरायण व्यक्ति राजनीति कुशल नहीं हो सकता है। इसके पीछे निहित तर्क आज धर्म को संकीर्ण अर्थ में; धार्मिक पूजा पाठ से संबंधित मानना है। प्राचीन भारत में जहाँ धर्म की व्यापक अवधारणा मिलती है, धर्म और राजनीति का घनिष्ठ संबंध था। धर्म से पृथक राज व्यवहार नहीं था। राजा और प्रजा दोनों का धर्म वर्णाश्रम नियमों के अनुसार कर्तव्य पालन करवाना था। धर्मशास्त्रकारों ने राजधर्म का विशद विवेचन किया है। राज्य ''सप्तांग सिद्धान्त'' (राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र) में राजा को प्रमुख स्थान दिया है। आचार्य शुक्र के अनुसार ''राज्य शरीर के अंगों में राजा सिर है, मंत्री नेत्र हैं, मित्र कान हैं, कोष मुख, बल मन, दुर्ग हाथ और पैर राष्ट्र है।''

सर्वोच्चता की स्थिति में भी राजा स्वेच्छाचारी नहीं है, सम्प्रभु है, लेकिन ऑस्टिन का सम्प्रभु नहीं अपितु धर्म के अधीन है। स्वयं धर्म का पालन करते हुए प्रजा को धर्म पर चलने की प्रेरणा देना उसका कर्तव्य है। **ऋग्वेद** के अनुसार राजा का धर्म प्रजा का पालन करना, उसके लिए अन्न, धन, निवास स्थान, शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करना, उसे समृद्ध व शक्तिशाली बनाये रखना; उसकी रक्षा करना; प्रजा पीड़क, चोर–डाकुओं को दण्ड देना, प्रजा के कल्याण के लिए विविध योजनाऐं बनाना, दुष्टों का दमन करना, राज्य की सुरक्षा व्यवस्था करना, सर्वत्र गुप्तचरों की नियुक्ति करना, प्रजा से कर ग्रहण की समुचित व्यवस्था करना, राज्य विस्तार के लिए बाह्य तथा अभ्यान्तर शत्रुओं का विनाश करना तथा समाजवाद को प्रश्रय देना आदि था।

यजुर्वेद में राजा का धर्म दुष्कर्माओं का दमन करना, उनका विनाश करना, पिता के समाज प्रजा का पालन करना, न्यायप्रिय सज्जनों की रक्षा करना, प्रजा की स्वीकृति से ही राज्य करना, राज्य की उन्नति करना, न्यायपूर्ण कार्यों में प्रजा का सहयोग प्राप्त करना, योग्य न्यायकर्ता बनने के लिए सत्य और धर्म से प्रीति रखना और स्वयं न्यायाधीश का पद प्राप्त करके न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा करना है। यह भी राजा का कर्तव्य बताया गया है कि श्रेष्ठ वीरों को सेना में नियुक्त करे, अपराध के अनुसार दण्ड दे, राज्य को विध्नों से रहित करे, प्रजा को अपने अंगों के समान ही महत्वपूर्ण समझे और आवश्यकता होने पर उसे कर मुक्त भी कर दे।

अथर्ववेद के अनुसार क्षत्रियेत्तर प्रजाजनों ने अपनी रक्षा करने में असमर्थ होने के कारण, राष्ट्र की व्यवस्था और प्रजा की रक्षा के लिए राजा को चुना। श्रेष्ठ राजा उसे माना है जो पशुओं की रक्षा करे और राजकोष की वृद्धि करे। राजा का परम् कर्तव्य मित्र बनाना, प्रजा की रक्षा करना, उसकी समृद्धि को बढ़ाना, राष्ट्र को क्षात्रतेज से सम्पन्न, शत्रुओं को पराजित करना और आयु, स्वास्थ्य व उत्साहवर्धक विभिन्न प्रकार की औषधियों के रस बनने वाली ''पर्णमणि'' धारण करना माना है।[22]

मनुस्मृति के अनुसार ईश्वर ने अत्याचारियों के भय से डरी हुई प्रजा की रक्षा के लिए राजा को उत्पन्न किया। अतएव अभिषिक्त राजा का कर्तव्य है कि वह

न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा करे। अपने कार्यों की सिद्धि और प्रजा को धर्म में लगाने के उद्देश्य से राजदण्ड धारण करे। अन्याय करने वालों को दण्ड दें; वर्णाश्रम व्यवस्था की सुरक्षा के लिए तथा देश को व्यभिचार से बचाने के लिए दण्ड सोच विचार कर ही दे। राजा को क्रमशः स्वामी, मंत्री, दुर्ग, राष्ट्र, कोष, दण्ड और मित्र इस सप्तप्रकृतियों के व्यसन को दूर करने का प्रयत्न करना, अपनी तथा शत्रु की शक्ति को जानना, व्यसनादि की कमी या अधिकता के अनुसार ही संधि–विग्रहादि करना और शत्रुओं के विनाश के बाद भी अपने राज्य की उन्नति का प्रयत्न करना चाहिए।[23]

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार राजा को ब्राह्मणों के प्रति क्षमाशील, मित्रों के प्रति स्नेहयुक्त, शत्रुओं के प्रति क्रोधमुक्त एवं प्रजा के प्रति वात्सल्ययुक्त होना चाहिए, उसे न्यायपूर्वक प्रजा का पालन, लुटेरों आदि से उसकी रक्षा करनी चाहिए। अनुकूल आचरण वालों को सम्मानित व प्रतिकूल आचरण वालों को दण्डित करना चाहिए। शत्रु, मित्र और उदासीन राजाओं और उनके राज्यों का ध्यान रखना चाहिए, सन्धि, विग्रह, यान, आसन, आश्रय तथा द्वैधीभाव, इन छः गुणों का आवश्यतानुसार सहारा लेना चाहिए। सप्तांग के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। धर्मभ्रष्ट लोगों को पुनः धर्म में लगाना चाहिए।[24]

बोधायन स्मृति के अनुसार राजा का कर्तव्य है कि प्रजा को आय से छठा भाग कर के रूप में ग्रहण करके उसकी रक्षा करे, चारों वर्णों को उनके कर्तव्यों में लगाए, सभी कार्यों की धुरी पुरोहित को बनाये, युद्ध से पीछे न हटे, विषयुक्त बाणों से प्रहार न करे। **''वशिष्ठ स्मृति''**, **''पाराशर स्मृति''**, **''गौतम स्मृति''** में मनु व याज्ञवल्क्य के अनुसार ही राजधर्म का वर्णन मिलता है।

मत्स्य पुराण व अग्नि पुराण में प्रायः मिलते–जुलते राजधर्म का वर्णन मिलता है कि राजा को तीनों वेदों व शास्त्रों के ज्ञाता ब्राह्मणों का सम्मान करना चाहिए, प्रजा का पालन व चोरों आदि से रक्षा करनी चाहिए, वर्णाश्रम धर्म को व्यवस्थित करना, पुरूषार्थचतुष्ट्य का सेवन करना, राष्ट्र की रक्षा करना, सप्त प्रकृतियों को देखना, न्यायपूर्वक धन का अर्जन करना, राज्य को सप्तांगों के व्यसन

से बचाने के लिए साम, दाम, भेद, दण्ड, इन्द्रजाल, उपेक्षा और माया इन सात उपायों का प्रयोग करना चाहिए।[25]

महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म द्वारा राजधर्म का वर्णन किया गया है। प्रजा की रक्षा करना राजा का परम धर्म है। सम्पूर्ण प्राणियों पर दया और उनकी रक्षा करने से बढकर कोई धर्म नहीं है। राज्य की रक्षा के लिए राजा का अत्यधिक महत्व है। राजा एवं राजशास्त्र की उत्पत्ति संसार में अराजक स्थिति से उत्पन्न होने वाली बुराईयों को दूर करने के लिए हुई है। राजा को ब्राह्मणों को दण्ड न देने वाला, धर्मशास्त्र का अध्ययन करने वाला, चारों वर्णों पर दया करने वाला, व्यसनों के प्रति अनासक्त, राज्य के सप्तांगों के विपरीत आचरण करने वालों, अपराधियों को दण्डित करने वाला, सत्य का रक्षक, वेदत्रयी का ज्ञाता, षाड्गुण्यों की जानकारी रखने वाला, न्याय परायण, कोष संग्रहशील, प्रजाजनों को निर्भय करने वाला होना चाहिए। उसे चारों आश्रमों में क्रमशः नियमपूर्वक रहना चाहिए, प्रजापालन और युद्धभूमि में प्राण त्यागते हुए सभी धर्मों में सवश्रेष्ठ राजधर्म का पालन करना चाहिए।[26]

आचार्य बृहस्पति के अनुसार राजा को इन्द्रियजयी तथा दण्डनीति का ज्ञाता, प्रजा विरोधी कार्य न करने वाला, लोक–कल्याण करने वाला, कामादि व्यसनों से दूर रहने वाला, सामादि उपायों से शत्रु को नियंत्रित करने वाला, राष्ट्र के गौरव को बढ़ाने वाला, कृषि, पशुपालन, व्यापार आदि को उन्नत बनाने वाला, मंत्रियों से मंत्रणा करने वाला, न्यायपूर्वक कोष संचय करने वाला, षाड्गुण्य का प्रयोग करने वाला, धर्म, अर्थ, पुरूषार्थ का सेवन करने वाला होना चाहिए। अपने राष्ट्र में कुशल चिकित्सकों, ज्योतिषियों तथा मंत्रवेत्ता ब्राह्मणों के रहने की समान व्यवस्था करनी चाहिए। दुष्ट व्यक्तियों का विनाश करना चाहिए, शरणागत की रक्षा, ग्राम, नगर तथा मन्दिर की रक्षा–सुरक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। वही राजा विजयी हो सकता है जो विषयासक्ति प्रमादादि दुर्गुणों से दूर रहने वाला, धार्मिक, पराक्रमी, भावी आपत्ति को जानने और उसको दूर करने में समर्थ हो। राजा को देशकाल के प्रतिकूल कोई कार्य नहीं करना चाहिए, अर्थोपार्जन करना चाहिए, अर्थ की सहायता से मित्र, धर्म विद्या, पराक्रमादि गुणों का संग्रह करना चाहिए।

आचार्य शुक्र ने राजा के लिए नीतिशास्त्र ज्ञान, धर्माचरण एवं दोषराहित्य को अनिवार्य बताया है। उसके व्यवहार में आठ गुणों को अनिवार्य माना है, दुष्ट निग्रह, दान देना, प्रजा पालन, राजसूयादि यज्ञ करना, न्यायपूर्वक कोष में वृद्धि करना, कर वसूल करना, शत्रुओं का मान–मर्दन करना व राज्य की भूमि में वृद्धि करना।[27]

कौटिल्य के अनुसार राजा को आन्वीक्षकी, वेदत्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति का ज्ञाता, काम आदि दुर्व्यसनों का त्याग करने वाला, गुप्तचरों की सहायता से स्वदेश और शत्रुदेश का वृतान्त जानने वाला, अनुशासनपूर्वक प्रजा को उसके कर्तव्यों की ओर प्रेरित करने वाला, काम का सेवन, धर्म और अर्थ के अनुकूल करने वाला, मंत्रियों के साथ संधि–विग्रहादि विभिन्न विषयों पर मंत्रणा करने वाला, दूतों की व्यवस्था करने वाला होना चाहिए। राजा को प्रजा को प्रिय लगने वाला कार्य ही करना चाहिए। उसकी ''मत्स्य न्याय'' से रक्षा करनी चाहिए, कोष की रक्षा करनी चाहिए तथा राजकीय धन का ह्रास करने वालों को दण्डित करना चाहिए। अर्थसंकट के समय कोषसंग्रह करना व प्रजा से न्यायपूर्वक कर एकत्र करना चाहिए। सप्त प्रकृति युक्त होना चाहिए, षाड्गुण्य नीति का पालन करना चाहिए। राज्य की सुरक्षा, आन्तरिक प्रशासनिक व्यवस्था, विदेशी राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध, वर्णाश्रम नियमों का पालन करना व करवाना राज्य का कर्तव्य है।[28]

मनुस्मृति एक आचार संहिता है। नीति के व्यापक अर्थ में यह मानव जीवन के समस्त कार्य व्यवहार को अपने क्षेत्र में समाहित करती है। व्यापक अर्थ में मनुस्मृति में मानव जीवन के समस्त पक्षों में सम्यक् कर्तव्यों के निर्वाह और कर्तव्यों के अनुपालन को धर्म की परिधि में शामिल किया गया है।

मनुस्मृति में धर्म के पारलौकिक महत्व पर अधिक बल दिया गया है। मनुष्यों के सांसारिक आचरण को धर्म के अनुरूप नियमित करना उनके पारलौकिक कल्याण को सुनिश्चित करता है। व्यक्ति यदि अपने लौकिक आचरण को धर्म के अनुकूल संचालित करता है तो वह जीवन के अन्तिम पुरूषार्थ मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। परलोक में सिर्फ धर्म ही एकमात्र सहायक के रूप में व्यक्ति के साथ रहता है, अतः मनुष्य को आजीवन धर्म का संचय करते रहना चाहिए।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी सुख का मूल कारण धर्म ही है। अर्थशास्त्र मूलतः एक राजनीतिक ग्रन्थ है। आचार्य कौटिल्य ने मानवीय व्यवहार को अर्थ की संज्ञा दी है। साथ ही मनुष्यों से युक्त भूमि को भी अर्थ बताया है। इस प्रकार मानवीय वृत्ति और मनुष्यों से युक्त भूमि की प्राप्ति और उसके पालन के उपायों को अर्थशास्त्र की विषयवस्तु माना जा सकता है। सुख का मूल धर्म है, धर्म का आधार अर्थ है, अर्थ का मूल राज्य है। आत्म नियंत्रण और अनुशासन के द्वारा ही राज्य की सत्ता रह सकती है। नम्रता और सदाचार इस प्रकार के आत्मनियंत्रण और अनुशासन की पूर्व शर्त है। इस प्रकार धर्म, अर्थ और राज्य के बीच स्पष्ट सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। धर्म पारलौकिक कल्याण की ओर संकेत देता है। वहीं अर्थ पर उसकी निर्भरता उसे मानव के लौकिक व्यवहार के साथ जोड़ देती है। अर्थ की राज्य पर निर्भरता यह स्पष्ट करती है कि मानव के लौकिक व्यवहार का धर्मानुकूल नियमन राज्य का दायित्व है। राज्य भी अपने इन दायित्वों का स्वेच्छा या निरंकुशतापूर्ण निर्वाह नहीं कर सकता वरन् उसे स्वयं अनुशासन और सदाचार के कुछ नियमों के अधीन रहते हुए ही इन दायित्वों का निर्वाह करना है। इस प्रकार धर्म पारलौकिक प्रेरणा से जुड़ा होते हुए भी एक साथ लोक व राज्य दोनों की मर्यादा निर्धारित करता है। आचरण के नियमों के रूप में धर्म के तत्वों को स्पष्ट करते हुए आचार्य कौटिल्य ने दया, सत्य, दान और अहिंसा आदि को धर्म का लक्षण बताया है। सत्य धर्म के विचार का केन्द्रीय तत्व है और इससे पारलौकिक व लौकिक दोनों प्रकार का कल्याण संभव है।

मनुस्मृति में धर्म और राज्य को परस्पर निर्भर माना गया है। राज्य का अस्तित्व ही धर्म के प्रवर्तन के लिए है। अतः राज्य धर्म पर निर्भर है। धर्म के नैतिक बल को व्यवहार में लागू करने के लिए किसी भौतिक शक्ति की आवश्यकता होती है। दण्ड ऐसी भौतिक शक्ति है जो धर्म को बाध्यकारी रूप में प्रवर्तित कर सकती है। राज्य इस बाध्यकारी बल के प्रयोग के लिए अधिकृत है, किन्तु राज्य इस दण्डशक्ति का स्वामी न होकर अभिकर्ता मात्र है जो कि धर्म के सिद्धान्तों और विधि प्रक्रिया के अधीन रहते हुए निश्चित प्रयोजन के लिए दण्ड का उपयोग करता है। राजा द्वारा धर्म के विरुद्ध दिया गया दण्ड लोक में राजा की अपकीर्ति और परलोक में उसके नरक गमन का कारण बनता है। दण्ड का

दुरूपयोग करने पर यह दण्ड ही राजा को नष्ट कर देता है अर्थात् राजा स्वयं भी दण्ड की सम्प्रभु शक्ति के अधीन है।

कौटिल्य के अनुसार राजा धर्म के द्वारा प्रजा के व्यवहार को नियंत्रित करता है। इस प्रकार धर्म राजकीय शक्ति के प्रजा पर प्रयोग की स्वाभाविक मर्यादा है। कौटिल्य ने राज्य को ऐसी अधिकृत संस्था माना है, जो धर्म के संरक्षण के लिए भौतिक शक्ति का प्रयोग करती है। उसके वैध नियंत्रण को लोगों द्वारा चुनौती नहीं दी जा सकती। राज्य द्वारा प्रयुक्त यह भौतिक शक्ति दण्ड है। इस प्रकार दण्ड की अनुल्लघंनीयता और धर्म की नैतिक शक्ति संयुक्त रूप से राज्य की सम्प्रभुता का आधार है। धर्म को कौटिल्य ने मनुष्य के सार्थक और उद्देश्यपूर्ण जीवन के लिए आवश्यक नियमों की संहिता, नैतिक मूल्यों तथा राज्य–सत्ता पर नियंत्रण के रूप में चित्रित किया है। कौटिल्य के अनुसार न्यायिक प्रशासन का मुख्य उद्देश्य विधि के शासन को सुनिश्चित करना है। न्यायाधीश जहाँ एक ओर राज्य की विधायी शक्ति को धर्म के नियंत्रण में रखते थे, वहीं दूसरी ओर वे स्वयं भी विधि के निंयत्रण से परे नहीं माने गये थे। इस प्रकार धर्म राज्य की विधायी कार्यपालिका और न्यायिक शक्तियों को एक साथ मर्यादित रखने का माध्यम था।

प्राचीन भारत में राजा को सर्वोच्च सत्ता प्राप्त थी फिर भी वह धर्म के अधीन था। राजा से सदैव ही यह अपेक्षित था कि वह धर्म के अनुसार ही आचरण करे। राजा स्वधर्म का पालन करके ही सभी वर्णों के व्यक्तियों को स्वधर्म पालन हेतु बाध्य और प्रेरित कर सकता है। राजकीय दायित्वों को राजधर्म की संज्ञा दी गई है। राज्य के संविदात्मक स्वरूप में व्यवस्था है कि राजा के धर्म विमुख होने पर प्रजा उसे पदच्युत कर सकती है तथा किसी अन्य योग्य व्यक्ति को अपना राजा नियुक्त कर सकती है। वहीं राज्य के दैवीय स्वरूप के अन्तर्गत यह उल्लेख है कि धर्म से विमुख होने पर राजा में देवत्व की कमी हो जाती है और राजा शनैः–शनैः नष्ट हो जाता है।[29]

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में धर्म का विचार विभिन्न शास्त्रों, स्मृतियों, नीतिकारों और आप्त पुरूषों द्वारा जिस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है, एक व्यापक विचार है, जो केवल उपासना की पद्धति, राजनैतिक मर्यादा के नियम और

विधि विधान, सामाजिक व्यवस्था के नियामक नियम, जीवन के प्रति दृष्टि, दण्ड विधान, कर्म विधान, लोक–परलोक में आस्था ऐसे किसी एक पक्ष तक सीमित नहीं है, यद्यपि धर्म मे इन सबका निषेध भी नहीं है, परन्तु यह एक ऐसा सनातन समय–सापेक्ष विचार है, जिसका सार तत्व एक होते हुए भी इसकी व्याख्या समय–समय पर नए ढंग से की जाती रही है। जीवन के अन्य आयाम चाहे उन्हें पुरूषार्थों के रूप में जाना जाये, आश्रमों के रूप में जाना जाये या वर्णों से जुड़ी हुई भूमिकाओं के रूप में जाना जाये, कहीं न कहीं अपने मूलरूप में धर्म से ही जुड़े हुए हैं।

इस प्रकार, भारत प्राचीन काल से ही धर्म प्रधान देश रहा है लेकिन भारत को धर्मनिरपेक्षता से जोड़ना लगभग विरोधाभास सा प्रतीत होता है क्योंकि लोकप्रिय धारणाओं और विद्वतापूर्ण अनुसंधानों द्वारा भारतीय ऐतिहासिक सभ्यता के धार्मिक अभिमुखीकरण पर बल दिया गया है। भारत सरकार की एक धर्मनिरपेक्ष राज्य के निर्माण से प्रतिबद्धता को अनिवार्यतः उसकी सम्पूर्ण आधुनिकीकरण से प्रतिबद्धता के महत्वपूर्ण संदर्भ में देखा जाना चाहिए। भारतीय नेताओं की विचारधाराओं में धर्मनिरपेक्ष राज्य का अभिप्राय धर्म–विरोधी राज्य से नहीं है। उसका सीधा सा अर्थ धार्मिक कार्यों को राज्य के कार्य–क्षेत्र से अलग करना है।

भारतीय दृष्टि में सिद्धान्ततः धर्मनिरपेक्षता राज्य व चर्च के पृथक्करण की पश्चिमी धारणा के समानुपाती है और वह भी फ्रांसीसी परम्पराओं से अधिक अमेरिकी परम्पराओं के अनुकूल है। राज्य कानूनी या संवैधानिक दृष्टि से किसी विशिष्ट धर्म के साथ जुड़ा हुआ नहीं है। नागरिकता के अधिकार व कर्तव्य भी किसी तरह से व्यक्तिगत धर्म पर आधारित नहीं है और व्यक्ति को राज्य द्वारा किसी प्रकार के हस्तक्षेप के बिना अपने धर्म का पालन व प्रयोग करने की पूर्ण स्वतंत्रता है।[30]

नेहरू धर्मनिरपेक्षता के महान समर्थक व साम्प्रदायिकता के घोर विरोधी थे। नेहरू के प्रयासों का परिणाम रहा कि भारत में ऐसे समय में धर्मनिरपेक्षता को स्थापित किया गया जबकि अन्य पड़ौसी राज्यों में विभिन्न धार्मिक मूल्यों का व्यापक आधार पर प्रयोग हो रहा था। उन्होंने भारत की धर्मनिरपेक्षता राष्ट्रीयता की इस

परम्परा का निर्वाह किया जो 1885 में आरम्भ हुई। 1937 में ही कांग्रेस ने मूल अधिकारों से संबंधित एक ऐसा प्रस्ताव स्वीकार किया था, जिसको भारत के भावी संविधान में स्थान दिया जाना था। इन अंगीकृत सिद्धान्तों में से एक सिद्धान्त यह था कि राज्य सभी धर्मों के सम्बन्ध में तटस्थता का व्यवहार करेगा। यह वास्तव में ईसाई शासन व हिन्दू–मुस्लिम प्रजा के बीच संघर्ष को रोकने की ब्रिटिश सरकार की लम्बी स्थापित नीति थी। 1940 में जबकि मुस्लिम लीग ने अलग मुस्लिम राज्य व भारत के विभाजन की मांग की थी, कांग्रेस के अध्यक्ष इस्लाम के एक प्रमुख विद्वान मौलाना अबुल कलाम आजाद थे। धर्मनिरपेक्षता का विचार उस समय स्वतंत्रता के साथ ही यकायक नहीं उत्पन्न हो गया था।[31]

सिद्धान्ततः धर्मनिरपेक्षता धर्मेतर, धर्म–विरोधी व संशयवादी हो सकती है, लेकिन भारतीय धर्मनिरपेक्षता ऐसी नकारात्मक दृष्टि को स्वीकार नहीं करती। वह धर्म की आवश्यकता और उसके अस्तित्व को मान्यता देती है यद्यपि धर्म को राज्य व उसकी सामाजिक आर्थिक गतिविधियों से पृथक करने का उसका एक सुविचारित प्रयास भी होता है। यह भारतीय धर्मनिरपेक्षता का एक सकारात्मक पक्ष है। भारत में धर्मनिरपेक्षता धर्म की समस्या के प्रति नकारात्मक, यहाँ तक कि निष्क्रिय दृष्टि भी नहीं अपनाती। निःसंदेह यह धर्म को श्रद्धा की दृष्टि से देखती है लेकिन साथ ही यह धर्म को उचित सीमा में कार्यशील रखने के लिए भी कृत संकल्प है। इसका यह आग्रह है कि धर्म इन सामाजिक आर्थिक समस्याओं की सीमा तक न पहुँचे जिनका आधुनिक समाज को सामना कम करना होता है और यह अनिवार्यतः नागरिकों के सामाजिक–आर्थिक व्यवहारों के निर्धारण का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रयास न करे, जब तक धर्मनिरपेक्षता धार्मिक रूप से इसके प्रति तटस्थ रहती है।[32]

भारतीय संविधान के अन्तर्गत धर्म निरपेक्षता एक तर्क बुद्धिपरक वैज्ञानिक दृष्टि पर आधारित है। यह विवेक की पूजा में विश्वास करती है, उस पर आधारित निष्कर्षों को अनुभव की कसौटी पर कसती और आवश्यकतानुसार इनमें परिवर्तन करती है। इसको अपने निष्कर्षों को संशोधित करने में कोई भय प्रतीत नहीं होता क्योंकि अनुभव पर आधारित संशोधनवाद जीवन का परिचायक है, और इसमें जीवन के प्रगतिशील दृष्टिकोण का पता चलता है। धर्मनिरपेक्षता पूर्ण निरपेक्ष

सिद्धान्तों में विश्वास नहीं करती, इसकी दृष्टि मतांध नहीं है और यह कथित धर्म सिद्धान्तों अथवा अंधविश्वासों को मान्यता नहीं देती। वास्तव में इसकी दृष्टि आनुभविक व परिणामवादी है और इसका लक्ष्य भारत में ऐसे एकरूप समुदाय का निर्माण करना है जो इस देश के प्रति निष्ठावान हों, जिसके नागरिक भारत की एकता व अखण्डता के आदर्श के प्रति समर्पित हो और जो सामाजिक आर्थिक न्याय उपलब्ध कराने के राष्ट्रीय लक्ष्य की दिशा में अपना योगदान दें। इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता एक समग्र व्यापक व गतिशील विचार है। इसका मात्र राजनीतिक स्वरूप ही नहीं है। अपने सार रूप में यह नैतिक है और इसके नैतिक तत्वों से अनिवार्यतः समस्त नागरिकों को प्रेरित होना चाहिए।[33]

भारतीय नागरिक चाहे वे किसी धर्म, भाषा, रक्तवंश, संस्कृति, व्यवसाय या प्रदेश से सम्बन्ध रखते हों, धर्मनिरपेक्षता को व्यापक धर्म की धारणा के साथ असम्प्रदायवाद या सर्व धर्म समभाव के रूप में ग्रहण करना चाहते हैं। गाँधी ने अपने विचारों में व्यापक धर्म, सत्य, ईश्वर या नैतिकता को सर्वोपरि स्थान दिया है। गाँधीजी की विधारधारा धर्म, धर्मचारिता और धर्मनिरपेक्षता की त्रिवेणी है। धर्मनिरपेक्षतावाद के विचारों का आधुनिक स्रोत जवाहर लाल नेहरू तथा मानवेन्द्र नाथ राय को माना जाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व तथा पश्चात् धर्मनिरपेक्ष विचारधारा के महानतम प्रतिपादक नेहरू ही रहे हैं। उन्होंने धर्मनिरपेक्ष राज्य के निर्माण को अपने जीवन की महत्वपूर्ण उपलब्धि माना।

पंथ निरपेक्ष राज्य के जिस सर्वसम्मत अर्थ को विश्व में मान्य किया गया है, उसके अनुसार पंथ निरपेक्ष राज्य वह है जिसका अपना कोई धर्म न हो अर्थात राज्य की ओर से किसी धर्म के प्रति आबद्धता न हो। संविधान में जहाँ सेकुलर शब्द के पर्याय के रूप में पंथ निरपेक्ष शब्द का प्रयोग किया गया है, वहीं अनेक स्थानों पर संविधान में धर्म शब्द का भी प्रयोग किया गया है। संविधान की प्रस्तावना के ही तृतीय चरण की प्रतिज्ञा ''विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता में धर्म शब्द विराजमान है।'' इस प्रतिज्ञा में धर्म शब्द अंग्रेजी के फेथ शब्द का पर्याय बन कर प्रयुक्त हुआ है। संविधान में अनुच्छेद 25 से 28 तक में धर्म और धार्मिक शब्द अंग्रेजी के रिलीजन और रिलीजस शब्दों के पर्याय बने हैं। पंथ और धर्म इन दो पृथक शब्दों के प्रयोग से संविधान में पंथ और

धर्म शब्द के भेद को लक्ष्य किया गया है तथापि न कहीं इस भेद को स्पष्ट किया गया है और न कहीं इस भेद का कोई संकेत दिया गया है, और न ही इन दोनों में से किसी शब्द की कोई परिभाषा प्रदान की गई है।[34]

धर्म और पंथ में जो भेद है उसकी दार्शनिक प्रतीति यह है कि धर्म अनादि, अनश्वर और सनातन है। यह एक स्वयंभू तत्व और स्वचालित तंत्र है। यह अपौरूषेय पदार्थ है, कोई पुरूष विशेष इसका प्रवर्तक नहीं है। गीता में धर्म के ह्रास को तो स्वीकारा गया है, किन्तु इसके नाश को स्वीकार नहीं किया गया । युगावतारों के द्वारा अधर्म से ग्लानि, धर्म का पुनरूद्धार होता है, किन्तु निर्माण नहीं, युगावतार धर्म का संस्थापन करते हैं, उसकी स्थापना नहीं।[35]

पंथ प्रचलित होते हैं, पंथों का निर्माण किया जाता है और पुरूष विशेष इनके प्रवर्तक होते हैं। इस तरह बाइबिल के प्राचीन ग्रन्थ में यहूदियों के इस आदेश और भारत के सत्यं वद, धर्मं चर का वैदिक वचन किसी पुरूष विशेष की कृति नहीं है। युगावतारों, सन्तों, मसीहाओं और ऋषियों ने धर्म का बखान किया है, इसका निर्माण नहीं। मनुस्मृति के अनुसार महात्माओं का एक समुदाय महर्षि मनु के समीप प्रणिपात हुआ और उनसे विविध जातियों के यथोचित धर्मों को क्रमशः बखान करने की याचना की। इस प्रकार मनुस्मृति में जिस धर्म का बखान हुआ है वह मनुक्त है, किन्तु मनुकृत नहीं। मनु ने स्वयं का धर्म को कर्ता नहीं माना। उन्होंने वेद, स्मृति, शील, साधुओं का आचरण और आत्मसंतुष्टि इन पाँच को धर्म का मूल माना है। तत्पश्चात् वेद, स्मृति सदाचार और आत्मप्रियता इन चार को धर्म के साक्षात लक्षण कहकर विख्यात किया है।[36]

धर्म के आधार पर मत विशेष को ही पंथ कहा जा सकता है। इस प्रकार यदि पंथ निरपेक्ष शब्द का पर्याय खोजा जाये तो मत निरपेक्ष शब्द उसका उचित पर्याय होगा।

भारतीय मनीषियों ने व्यक्ति और राज्य दोनों की पूर्णता एवं अभ्युदय हेतु स्वधर्म पालन अर्थात् वर्णाश्रम धर्म पर विशेष बल दिया। चारों वर्णों के धर्म की रक्षा करने को राजा का प्रमुख कर्तव्य माना, क्योंकि धर्म संकर होने से प्रजा को बचाना राजा का धर्म है। यह भी माना गया कि यदि कोई व्यक्ति धर्म मार्ग से विचलित हो

तो उसे दण्ड देना भी राजा का कर्तव्य है। स्वधर्म पालन से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है, उल्लघंन से सर्वथा अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी।[37]

राजदण्ड के भय से समस्त जन अपने–अपने धर्म में तत्पर रहते हैं। राजा के लिए आवश्यक है कि वह प्रजा को स्वधर्म में निरत रखे।

भारतीय वाड्मय में, धर्म एक अति समृद्ध शब्द है। इसके भाव–विस्तार और इसकी धर्म व्यापकता के कारण ही जैन, बौद्ध, सिख, ईसाई, इस्लाम आदि पंथ होते हुए भी कालान्तर में, धर्म बनकर प्रतिष्ठित हो गये और धर्म की ही संज्ञा में इनका भी बोध होने लगा। राज्य धर्म संविधान में निवास करता है। राज्य धर्म का स्रोत संविधान है। संविधान की प्रस्तावना में इसी राज्य धर्म के सूत्र विद्यमान हैं।

''धर्मनिरपेक्ष'' तथा ''धर्मनिरपेक्षता'' शब्दों का भारतीय संविधान में कहीं प्रयोग नहीं हुआ फिर भी धर्मनिरपेक्षता का विचार संविधान की लगभग प्रत्येक महत्वपूर्ण व अर्थवान धारा में परिलक्षित होता है। संविधान ने भारतीय नागरिकों से लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना तथा सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय की उपलब्धि का वायदा किया है। यह आदर्श स्वयं सम्पूर्ण संविधान पर धर्म निरपेक्षता की प्रेरणास्पद दीप्ति की छाप छोड़ता है।

<u>अध्ययन के उद्देश्य :–</u>

धर्म एक ऐसा व्यापक विचार है जो कि व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पक्ष को कदम–कदम पर संचालित व मर्यादित करता है व समाज में उसकी उपयुक्त भूमिका का निर्धारण करता है। भारतीय राजनीतिक चिन्तन में इहलोक और परलोक संबंधी लक्ष्यों के विषय में एक शाश्वत द्वन्द्व पाया जाता है। पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन की तुलना में भारतीय चिन्तन व्यापक धर्म की धारणा से सम्बद्ध तथा उसका स्वरूप प्रमुखतः आध्यात्मिक एवं नैतिक है। भारत में दीर्घकाल तक धर्म अथवा अध्यात्मवाद का इहलोक–संसार, समाज, मानव–जीवन, राज्य–संगठन आदि से एकत्व बना रहा। मनु एवं कौटिल्य के चिन्तन में इसी दृष्टिकोण का प्राधान्य देखा जा सकता है। जब धर्म और अध्यात्मवाद इहलोक से पृथक होकर हावी होने लगा, उसने समस्त भारत को न्यूनाधिक मात्रा में परलोकवादी, भाग्यवादी, मायावादी एवं अकर्मण्य बना दिया।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मेरी इसी जिज्ञासा का परिणाम है कि भारतीय राजनीतिक चिन्तन में प्राचीन समय में परस्पर सम्बद्ध समाज व्यवस्था व राज व्यवस्था में धर्म की भूमिका तथा वर्तमान में भी उस विचार की प्रासंगिकता क्या है? हमारे समकालीन परिप्रेक्ष्य में धर्मनिरपेक्षता के बिना कोई भी धर्म मीमांसा अधूरी सी है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर प्रस्तुत शोधग्रन्थ में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा का आकलन किया गया है तथा समकालीन सामाजिक–सांस्कृतिक व सांविधानिक पृष्ठभूमि में उसका विश्लेषण। धर्म के समान ही धर्मनिरपेक्षता की पृष्ठभूमि में विविध सामाजिक राजनीतिक आदि कारण सक्रिय होते हैं। कभी राजनीतिक प्रतिबद्धता, कभी प्रशासनिक अनिवार्यता, तो कहीं परम्परा धर्मनिरपेक्षता को प्रभावित करती रही है। किसी भी धर्म की शोभा इसी में है कि वह सहज रूप से अपनी गुणवत्ता और महत्ता के आधार पर ग्राह्य हो। एक अच्छे धर्मनिरपेक्ष वातावारण के लिए आवश्यक है कि हम बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक का भेदभाव भूलकर प्रत्येक समूह को स्वेच्छानुसार धर्माचरण करने दें जैसी अपेक्षा हमारे संविधान में की गई है।

धर्म भारतीय राजनीतिक चिन्तन का केन्द्रीय व आधारभूत तत्व है। भारतीय राजनीतिक चिन्तन के प्रतिनिधि स्रोतों में धर्म की प्रभाव पूर्ण सत्ता को भली–भाँति स्पष्ट किया गया है। मनुस्मृति एवं अर्थशास्त्र में धर्म को राज्य के अस्तित्व के आधार के रूप में चित्रित किया गया है। भारतीय ग्रन्थों के अनुसार राज्य सत्ता धर्म पर निर्भर है, वस्तुतः धर्म ही राज्य के अस्तित्व का मूल प्रयोजन है क्योंकि राज्य की रचना धर्म की रक्षा कि लिए की गई है। इस शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत करने का मेरा उद्देश्य जनमानस को यह स्पष्ट करना है कि भारतीय चिन्तन में प्रयुक्त शब्द धर्म अंग्रेजी के रिलिजन शब्द का पर्याय नहीं है। भारतीय चिन्तन में धर्म को अराधना की किसी पद्धति अथवा किसी पांथिक मत के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त नहीं किया गया। धर्म की विराट परिधि में नैतिक नियमों, व्यवस्था के मूल आधारों, सामाजिक और राजनीतिक आधारभूत नियमों, व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण की नैतिक अपेक्षाओं, परम्पराओं, अभिसमयों तथा राज्य निर्मित विधि तक को सम्मिलित किया गया है। भारतीय चिन्तन परम्परा में धर्म नैतिक नियमों के संग्रह के रूप में तथा राज्य की पूर्ववर्ती व्यवस्था के रूप में व्यक्त होता

है, अतः धर्म को राज्य सत्ता के औचित्य के मापदण्ड के रूप में चित्रित किया गया है।

धर्म, दण्ड और राज्य की अन्तनिर्भरता भी वास्तविक रूप में भारतीय राजनीतिक चिन्तन में राज्य के औचित्य के निर्धारण का एक प्रामाणिक आधार है। भारतीय राजनीतिक चिन्तन के संदर्भ में धर्म एवं दण्डनीति की अवधारणा का मनुस्मृति एवं अर्थशास्त्र के संदर्भ में तुलनात्मक अध्ययन करना ही प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का मुख्य प्रयोजन है।

मनुस्मृति में मानव जीवन के समस्त पक्षों, सम्यक् कर्तव्यों के निर्वाह और कर्तव्यों के अनुपालन को धर्म की परिधि में शामिल किया गया है। धर्म के पारलौकिक महत्व पर अधिक बल दिया गया है। व्यक्ति यदि अपने लौकिक आचरण को धर्म के अनुकूल संचालित करता है तो वह जीवन के अन्तिम पुरूषार्थ मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। परलोक में सिर्फ धर्म ही एक मात्र सहायक के रूप में व्यक्ति के साथ रहता है। अतः मनुष्य को आजीवन धर्म का संचय करते रहना चाहिए।

कौटिल्य के अनुसार सुख का मूल कारण धर्म है, धर्म का आधार अर्थ है, अर्थ का मूल राज्य है। इस प्रकार धर्म, अर्थ और राज्य के बीच स्पष्ट सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। धर्म पारलौकिक कल्याण की ओर संकेत करता है वहीं अर्थ पर उसकी निर्भरता उसे मानव के लौकिक व्यवहार के साथ जोड़ देती है। अर्थ की राज्य पर निर्भरता यह स्पष्ट करती है कि मानव के लौकिक व्यवहार का धर्मानुकूल नियमन राज्य का दायित्व है।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में धर्म का महत्व इस बात से भी स्पष्ट है कि राजकीय दायित्वों को राजधर्म की संज्ञा दी गई है। धर्म की नैतिक शक्ति को व्यवहार में क्रियान्वित करने हेतु जिस भौतिक स्वावलम्बन की आवश्यकता होती है, वह भौतिक स्वावलम्बन ही दण्ड है। अतः धर्म, दण्ड एवं राज्य में पारस्परिक निर्भरता है। भारतीय राजनीतिक चिन्तन में धर्म एवं दण्डनीति के व्यापक महत्व को समझना ही प्रस्तुत शोध का उद्देश्य है।

सर्वपल्ली डॉ0 राधाकृष्णन भारत को धर्मों की प्रयोगशाला मानते हैं, जहाँ प्रायः सभी धर्म गुलदस्ते में रखे हुए फूलों के समान हैं, जो अपनी–अपनी खुशबू चारों ओर बिखेर रहे हें। सभी सह अस्तित्व के दर्शन के आधार पर अपना विकास कर रहे हैं। मोटे तौर पर भारतीय संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता का अभिप्राय सर्व धर्म समभाव की नीति से है। सभी धर्मावलम्बियों की भावनाओं के हितों का संरक्षण एवं पोषण ही सच्ची धर्मनिरपेक्षता है। धर्मनिरपेक्षता के इसी दृष्टिकोण को समझाना शोध का उद्देश्य है कि आज भू–मण्डलीकरण के दौर में परस्परावलम्बन के युग में धर्मनिरपेक्षता वांछनीय ही नहीं अपितु अनिवार्य भी है।

भारत के राजनीतिक चिन्तन में प्राचीन समय में मनु एवं कौटिल्य के काल में धर्म का जो स्वरूप रहा है केवल उस धर्म का ज्ञान प्राप्त करना ही मेरे इस शोध का उद्देश्य नहीं है, अपितु धर्म की उस अवधारणा के आधार पर वर्तमान की राजनीतिक एकीकरण की एक प्रमुख समस्या साम्प्रदायिकता को हल करने में हमें कहाँ तक सफलता मिल सकती है, ये ज्ञान प्राप्त करना, इस शोध का उद्देश्य है। भारतीय संस्कृति के वसुधैव कुटुम्बकम् के तथा समन्वित संस्कृति के आदर्श को हम आज एक धर्म विशेष को राज्य का धर्म घोषित करके नहीं वरन् धर्मनिरपेक्षता के दृष्टिकोण को अपना कर ही प्राप्त कर सकते हैं।

शोध कार्य का महत्व :–

आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता के विस्तार ने धर्म के दायरे को बहुत संकीर्ण कर दिया है। आजादी के बाद भारत में राज्य के दायरे धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को अपनाया जो पश्चिमी अवधारणा से भिन्न है। शोध का महत्व इस तथ्य में निहित है कि प्राचीन काल से ही भारतीय चिन्तन में राजनीति और धर्म की अन्तःक्रिया का महत्वपूर्ण स्थान था। धर्म किसी संकीर्ण संप्रदाय का पर्याय न होकर राज्य के दायित्वों का प्रतीक था। यद्यपि इन दायित्वों के निर्धारण का स्रोत तात्कालीन धर्मशास्त्र तथा परम्पराऐं थी, लेकिन ये दायित्व राज्य पर प्रभावी नियंत्रण का काम करते थे। वर्तमान में साम्प्रदायिक चुनौती का सामना करने तथा राजनीति को नैतिकता और मूल्य आधारित दिशा देने में यह शोध एक अकादमिक प्रयास है।

इस शोध का महत्व भारतीय राजनीतिक चिन्तन में धर्म की अवधारणा, व्यापकता, महत्ता को स्पष्ट करते हुए वर्तमान में इसके परिवर्तित स्वरूप में इसकी प्रासंगिता को सिद्ध करना है जो साम्प्रदायिक संकीर्णता फैलाये, सहिष्णुता एवं सौहार्द्र की उपेक्षा करे उसे धर्म कदापि नहीं कहा जा सकता। रिलीजन की तुलना में धर्म शब्द अत्यन्त व्यापक है। रिलीजन एक प्रकार की उपासना पद्धति अथवा विश्वास को ध्वनित करता है, जो श्रद्धा का विषय है। उसमें विचार, विज्ञान–बुद्धि, तर्कानुमोदन एवं दर्शन की व्यापक पृष्ठभूमि नहीं होती जबकि धर्म के ये अनिवार्य तत्व हैं।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध ''धर्म और राजनीति'' जैसे महत्वपूर्ण एवं संवेदनशील विषय से सम्बन्धित भारतीय राजनीतिक चिन्तन में मनु एवं कौटिल्य के काल मे धर्म की प्रधानता के साथ ही आधुनिक धर्मनिरपेक्ष भारत में धर्म के परिवर्तित स्वरूप की एक मीमांसा करने का प्रयास है।

धर्म एक ऐसा व्यापक विचार है जो कि व्यक्ति के जीवन के हर पक्ष को कदम–कदम पर संचालित व मर्यादित करता है व समाज में उसकी उपयुक्त भूमिका का निर्धारित करता है। जिस प्रकार प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में धर्म का स्थान महत्वपूर्ण व अपरिहार्य रहा है। उसी प्रकार आज की राजनीतिक व्यवस्था में धर्म कितना सांदर्भिक है, इस कौतुहल के परिणाम ही प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में गहन अध्ययन, चिन्तन एवं मनन करके सार्थक परिणाम निकालने का प्रयत्न किया जा रहा है।

उपलब्ध साहित्य की समीक्षा :–

काणे, पाण्डुरंग वामन : ने धर्मशास्त्र का इतिहास (प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय धर्म तथा लोक विधियाँ) प्रथम भाग, (हिन्दी समिति प्रभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ) के चतुर्थ संस्करण 1992 में धर्मशास्त्र के सभी अंगों का विशद् अध्ययन, उनके विश्लेषण की सूक्ष्म दृष्टि और उन्हें परम्परा में संजोकर प्रस्तुत किया है। इस अतुलनीय ग्रन्थ में हिन्दू धर्मशास्त्र की सभी परम्पराऐं जीवंत रूप में उल्लिखित हैं। भारतीय संस्कृति के अतीत के चिंतन वैभव के गौरव की अनुभूति के साथ आज के अपने आचार–विचारों के मूल उत्स का परिचय भी प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में

स्पष्ट किया गया है कि हिन्दू धर्म और संस्कृति केवल अध्यात्मजीवी ही नहीं रहे हैं, उन्होंने सुनिश्चित व्यवस्थित व्यवस्थाऐं एवं मर्यादाऐं निर्धारित की हैं।

मनुस्मृति : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, जवाहर नगर, बंगलो रोड, दिल्ली 1985 सम्पूर्ण मनुस्मृति बारह अध्यायों में विभाजित है। मनुस्मृति में उन सभी विषयों को मान्यता मिली है तो वेद, पुराण, रामायण तथा महाभारत में भी स्थान पाए हुए हैं। प्रथम अध्याय में सृष्टि की उत्पत्ति, विवाह के प्रकार व धर्म, द्वितीय में धर्म परिभाषा, लक्षण व विवेचन, तृतीय में संस्कार विधि, ब्रह्मचारी के लक्षण, चतुर्थ में गृहस्थ आश्रम का वर्णन, पंचम में भक्ष्य तथा अभक्ष्य पदार्थों का वर्णन, षष्ठम में वानप्रस्थ कर्तव्य तथा संन्यास के नियमों का वर्णन, सप्तम में राजधर्म का विस्तृत विवेचन, अष्टम में न्यायालय व दण्ड व्यवस्था, नवम में पति–पत्नी के कर्तव्य व दाय भाग, दशम में सामाजिक व्यवस्था, एकादश में विभिन्न पापों के प्रायश्चित का वर्णन एवं द्वादश अध्याय में मानसिक कर्मों का वर्णन, जीवात्मा का परिचय, सत्व, रज व तम गुणों के लक्षण, धर्मज्ञ के लक्षण मोक्ष प्राप्ति आदि का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

गैरोला, वाचस्पति : कौटिलीय अर्थशास्त्रम् चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी के चतुर्थ संस्करण 2003 में पन्द्रह अधिकरण, एक सौ पचास अध्याय, एक सौ अस्सी प्रकरण और छ हजार श्लोक हैं। इस अर्थशास्त्र में तत्वार्थ और पदों का प्रयोग किया है। यह संस्करण डॉ. शाम शास्त्री और महामहोपाध्याय गणपति शास्त्र के संस्करण पर आधारित होने के कारण इसमें प्रत्येक सूत्र के आगे संख्या नहीं अपितु पैराग्राफ का संयोजन पढ़ने का मिलता है। पहला अधिकरण 'विनयाधिकारिक' (राजवृत्ति), दूसरा–अध्यक्ष प्रचार (अध्यक्षों का निरूपण), तीसरा–धर्मस्थीय (न्याय का निरूपण), चौथा–कण्टक शोधन, पाँचवाँ–योगवृत्त, छठा–मण्डल योनि (प्रकृतियों का निरूपण), सातवाँ–षाडगुण्य (छ गुणों का निरूपण), आठवाँ–व्यासनाधिकारिक (व्यसनों का निरूपण), नौवां–अभियास्यत्कर्म (आक्रमण का निरूपण), दसवाँ–साङ्ग्रामिक (संग्राम का निरूपण), ग्यारहवाँ–वृत्त संघ (संघ वृत निरूपण), बारहवाँ–आबलीयस, तेरहवाँ–दुर्गलम्भोपाय (दुर्गप्राप्ति का निरूपण), चौदहवाँ–औपनिषदिक, पन्द्रहवाँ–तन्त्रयुक्ति है। अन्त में चाणक्य–सूत्रों का समावेश भी है।

वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद : ''वैदिक राजनीतिशास्त्र'' बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी पटना–3, 1975 ज्ञान विज्ञान के भण्डार के रूप में विश्रुत वेदों की सामान्य जन तक पहुँच नहीं के बराबर ही है। इस पुस्तक के माध्यम से लेखक ने वैदिक ज्ञान के राजनीतिक पक्ष को पाठकों के लिए सुलभ कर दिया है। तेरह अध्यायों में विभक्त पुस्तक में 8 अध्यायों में वैदिक राजनीति के ऐतिहासिक आधार, आर्थिक आधार, सामाजिक आधार, राजनीतिक व्यवस्था, व्यवहार और संस्थाऐं, राजशक्तिवाद, आदर्शवाद, देवगाथाशास्त्र और राजनीति पर प्रकाश डाला है। तीन अध्यायों में यजुर्वेद में अध्वराश्रित राजनीति, यथार्थवाद व राजनीतिक आदर्शवाद का विवेचन किया है। बारहवें अध्याय में अर्थववेद में राजनीतिशास्त्र, तेरहवें में वैदिक राजनीतिक व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। तीन परिशिष्टों में से अन्तिम परिशिष्ट में प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटों के सिद्धान्तों तथा वैदिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

शरण, परमात्मा : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाऐं (मीनाक्षी प्रकाशन, 4, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली) पुस्तक भारतीय राजनीतिक विचारों की थाती समाहित किए हुए है। इसमें प्राचीन भारत की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था का वर्णन है। जैन एवं बौद्ध साहित्य में आये विचारों का विश्लेषण है। महाकाव्य काल के अन्तर्गत रामायण एवं महाभारत का तुलनात्मक अध्ययन है। कौटिल्य अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, कामन्दकीय नीतिसार एवं शुक्रनीतिकी व्याख्या है। शासन के स्वरूप राजतंत्र, गणतंत्र, प्रतिनिधिक संस्थाओं, मंत्री और पुरोहित, प्रशासनिक पद्धति, न्याय पद्धति, आय–व्यय, अन्तरराज्य संबंधों के साथ ही प्राचीन भारत की राजशास्त्र को देन का वर्णन भी प्रस्तुत करती है।

टण्डन, किरण : प्राचीन भरतीय राजनीतिक विचारक (ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 2006) ने अपनी पुस्तक में भारत की धरोहर स्वरूप भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत भाषा की रक्षा सुरक्षा, इनके प्रति आदर–सम्मान का, भारत की गौरव शालिनी व प्रेरणादायिनी संस्कृति, उसको अक्षुण्य बनाये रखने के हमारे कर्तव्यों का उल्लेख किया है। यह प्रसास भी किया है कि भारतीय संस्कृति का समर्थक कोई एक

व्यक्ति नहीं था, अपितु इसके समर्थक उस समय के ऋषि–महर्षि, कवि–लेखक, राजा–कर्मचारी सभी थे।

घोषाल, यू.एन : हिन्दू राजस्व व्यवस्था का इतिहास (अनुवादक : अजयमित्र शास्त्री), ग्रन्थ शिल्पी (इण्डिया) प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2010, प्रथम संस्करण 1997, महाभारत के श्लोक से प्रारम्भ पुस्तक चार खण्डों में, चौदह अध्यायों में समाहित है। देश की राजस्व व्यवस्था ही उसकी अर्थव्यवस्था का महत्वपूर्ण हिस्सा होती है। प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन में यह एक महत्वपूर्ण पुस्तक है। भारतीय इतिहास में आर्थिक सिद्धान्तों में आधारभूत स्तर पर भारतीय समाज और राजस्व व्यवस्था की किस हद तक ताकत थी, इसका विवेचन भी प्राप्त होता है। प्राचीन भारत की संस्थाओं और आर्थिक सिद्धान्तों का पश्चिमी संस्थाओं से तुलनात्मक अध्ययन प्राप्त होना भी इस पुस्तक की विशेषता है।

महाभारत : तृतीय भाग, अनुवादक परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 1987 में महाभारत के 18 पर्वों में से शान्ति पर्व, अनुशासन पर्व, आश्वमेधिक पर्व, आश्रमवासिक पर्व, मौसल पर्व, महाप्रस्थानिक पर्व व स्वर्गारोहण पर्व का वर्णन है। शान्ति पर्व में भीष्म द्वारा राजधर्म, राजा के धर्मानुकूल नीतियों, व्यवहार, कर्तव्य, दण्डनीति, प्रज्ञापालन रूपी परमधर्म, यज्ञ, वर्णाश्रम–धर्म, राजा की व्यवहार नीति, दण्ड का औचित्य, दूत के गुण, राष्ट्र की रक्षा, कर, धर्म के लक्षण, सदाचार, आपत्ति में राजा के धर्म, सत्य के लक्षण आदि विविध विषयों पर मनोरम, सारगर्भित तथा मार्मिक उपदेशों का ज्ञान प्राप्त होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता : गीता प्रेस, गोरखपुर, गोविन्द भवन कार्यालय कोलकाता, 1982 यह एक परम रहस्यमय ग्रन्थ है। इसमें सम्पूर्ण वेदों का सार–संग्रह किया गया है। इसकी संस्कृत भी सुन्दर एवं सरल है, परन्तु आशय इतना गंभीर है कि आजीवन अभ्यास करते रहने पर भी इसका अन्त नहीं आता। गीता शास्त्र में मनुष्य मात्र का अधिकार है, चाहे वह किसी भी वर्ण, आश्रम में स्थित हो, परन्तु भगवान में श्रद्धालु और भक्तियुक्त अवश्य होना चाहिए, क्योंकि भगवान ने अपने भक्तों में ही इसका प्रचार करने के लिए आज्ञा दी है तथा यह भी कहा है कि स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापयोनि भी मेरे परायण होकर परमगति को प्राप्त होते हैं,

अपने–अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा मेरी पूजा कर के मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होते हैं। अट्ठारह अध्यायों में विभक्त श्रीमद्भगवद्गीता के पद–पद में परम रहस्य, गूढ़ ज्ञान भरा हुआ प्रत्यक्ष प्रतीत होता है।

याज्ञवल्क्यस्मृतिः : (जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, झालानियों का रास्ता, जयपुर, 2004) डॉ0 कमल नयन शर्मा द्वारा संपादित यह धर्मशास्त्र सरल एवं सुबोध भाषा में अनुवादित है। इसमें हमारा सनातन धर्म निगूहित है। धर्मः धारण करने के कारण ही धर्म कहलाता है कि अभिव्यक्ति सरल, सुबोध रूप में की गई है। 13 अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ में उपोद्घात, ब्रह्मचारी, विवाह, वर्णजाति विवेक, गृहस्थ, स्नातक, भक्ष्याभक्ष्य, द्रव्यशुद्धि, दान, श्राद्ध, गणपतिकल्प, ग्रहशान्ति व राजधर्म प्रकरण विस्तृत रूप में ज्ञान में वृद्धि करते हैं।

अल्तेकर, ए.एस. : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, भारती पुस्तक भण्डार, लीडर रोड, इलाहबाद, सातवाँ संस्करण, 1983 – 17 अध्यायों में विभक्त भारतीयों के राज्य शासन विषयक तत्वों और सिद्धान्तों का सांगोपांग विवेचन करके उनकी शासन पद्धति का साधार और सम्पूर्ण वर्णन करने वाली इस सारगर्भित पुस्तक का 1948 में सर्वप्रथम हिन्दी में प्रकाशन हुआ। प्रथम चार अध्यायों में राज्य शासन के मूल सिद्धान्तों, भारत के राज्य शासन में ग्रन्थों का इतिहास, राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप, ध्येय, कार्य, राज्य व नागरिक के परस्पर सम्बन्ध, देशी–विदेशी नागरिकों में भेदभाव तथा नागरिकों की विभिन्न श्रेणियों के अधिकार का विवेचन है। पंचम में शासन पद्धति, षष्ठम में गणतंत्र या प्रजा तंत्रात्मक राज्य की उत्पत्ति, सप्तम में केन्द्रीय लोकसभा के अधिकार, अष्टम व नवम में केन्द्रीय सरकार की रूपरेखा, दशम व एकादश में प्रांतों, जिलों, नगरों व ग्रामों के शासन प्रबन्ध, द्वादश व त्रयोदश में सम्राट व करद सामंतों के सम्बन्ध, चतुर्दश अध्याय में विविध कालों में सम्पूर्ण राज्यतंत्र किस प्रकार था, इसका, पंचदश में राज्य शासन का ऐतिहासिक सर्वेक्षण, षष्ठदश में उत्तर–दक्षिण भारत की शासन पद्धतियाँ व अन्तिम सप्तदश में प्राचीन भारतीय शासन पद्धति के गुण–दोष, उनसे राष्ट्र को लाभ–हानि का विवेचन प्राप्त होता है।

शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाऐं, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1990 में लेखक ने प्राचीन भारत में राज्य निर्माण के चरण एवं प्रक्रिया, राजनीतिक संस्थाओं और विचारों का आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तनों से संबंध, वैदिक काल से लेकर गुप्तकाल तक परिवर्तित राजतंत्र के स्वरूप, वर्णव्यवस्था का राजतंत्र के विभिन्न अंगों पर, विशेषतः विधि–व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव को स्पष्टतः विश्लेषित किया है। 21 अध्यायों में कौटिलीय अर्थशास्त्र में धर्म और राजनीति जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला है।

सालेटोरे, बी.ए. : एनशियेन्ट इण्डियन पॉलिटिकल थॉट एण्ड इंस्टीट्यूशन्स, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1963, यह बृहद पुस्तक छ भागों में विभक्त है– प्रथम भाग में धर्म और दण्डनीति के मध्य संबंध दूसरे भाग में प्रमुख राजनीतिक विचारक कौटिल्य के दर्शन एवं महत्व का तीसरे भाग में राज्य की उत्पत्ति, आवश्यकता, प्रकृति, प्रकार एवं कार्यों के बारे में चौथे भाग में मनु, कौटिल्य, हमुराबी व अरस्तू जैसे महान विचारकों का तुलनात्मक अध्ययन, पॉचवें भाग में राजनीतिक संस्थाओं तथा राज्य के तत्वों के बारे में व्यापक अध्ययन तथा अन्तिम एवं छठवें भाग में धर्म की अवधारणा, अर्थशास्त्र एवं नीतिशास्त्र, सरकार के प्रकारों, राज्य के तत्व जैसे–राजा, मंत्री, कोष, राष्ट्र, स्थानीय सरकार आदि के बारे में व्यापक विश्लेषण के अलावा अन्तिम दो अध्यायों में क्या कौटिल्य आदर्शवादी थे? की भी व्याख्या गहन अध्ययन के बाद प्रस्तुत की है।

जायसवाल, के.पी. : हिन्दू पॉलिटी, द बैंगलोर प्रिंटिंग एण्ड पब्लिशिंग कम्पनी लिमिटेड, बैंगलोर सिटी, चतुर्थ संस्करण 1967 में हिन्दू राजव्यवस्था के संबंध में व्यापक जानकारी प्रदान की गई है। यह पुस्तक दो भागों में विभक्त है, प्रथम भाग में वैदिक सभाओं एवं गणतंत्र का एवं द्वितीय भाग में राजतंत्र एवं साम्राज्यवाद का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने मुख्यतः इस बात के अध्ययन पर बल दिया है कि प्राचीन भारत में संवैधानिक प्रगति की क्या स्थिति थी। 35 अध्यायों में विभिक्त पुस्तक में प्रमुख रुप से 1–वैदिक काल की सम्प्रभु सभा, 2–वैदिक काल की न्यायिक सभा, 3–1000 बी.सी. से 600 ए.डी. के मध्य हिन्दू गणतंत्र, 4–वैदिक समय से 600 ए.डी. तक हिन्दू शासन, 5–जनपद और पौर

सभा 600 बी.सी. से 600 ए.डी तक, 6–हिन्दू राजतंत्र के अधीन मंत्रिपरिषद 1000 बी.सी. से 600 ए.डी. तक, 7–हिन्दू राजतंत्र के अधीन न्यायिक प्रणाली 700 बी.सी. से 600 ए.डी., 8–कर व्यवस्था 1000 बी.सी. से 600 ए.डी. तक, 9– हिन्दू साम्राज्य 1000 बी.सी. से 600 ए.डी. तक, 10–हिन्दू शासन की संवैधानिक परम्पराओं के पतन व पुनरूत्थन 650 ए.डी. से 1650 ए.डी. तक विषयों पर लेखक ने विद्वतापूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं। भारतीय राजनीतिक चिन्तन की परम्परा का अध्ययन एवं शोध के लिए यह एक उपयोगी पुस्तक है।

चतुर्वेदी, मधुमुकुल : प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2011 प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के संदर्भ में धर्म एवं दण्डनीति की अवधारणा का महाभारत, मनुस्मृति, शुक्रनीति एवं कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र के विशेष संदर्भ में तुलनात्मक अध्ययन करना है। धर्म, दण्ड और राज्य की अन्तनिर्भरता भी वास्तविक रूप में प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में राज्य के औचित्य के निर्धारण का एक प्रामाणिक आधार है। मनुस्मृति महाभारत, शुक्रनीति एवं अर्थशास्त्र में राज्य का स्वरूप, शासन एवं प्रशासनिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था, अन्तर्राज्य संबंध, कर, धर्म की अवधारणा, विधि एवं न्याय, दण्ड एवं दण्डनीति आदि विषयों का तुलनात्मक विवेचन लेखक के गहन अध्ययन एवं विद्वतापूर्ण उच्च कोटि के विचारों का परिचायक है।

मिश्र, कौशल किशोर : मनुस्मृति में राजसत्ता के प्रमुख आधार, राहुल पब्लिशिंग हाउस, शास्त्री नगर, मेरठ, 2012 पुस्तक पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम–'मनुस्मृति का काल निर्धारण एवं उसका प्रतिपाद्य', द्वितीय–'राजसत्ता की अनिवार्यता का प्रश्न', तृतीय–'राजसत्ता का दैवी सिद्धान्त', चतुर्थ–'राजसत्ता की शक्ति दायित्व एवं नियंत्रण की प्रविधि', पंचम–'मनुस्मृति की परम्परा का वैश्वीकरण' तथा उपसंहार। लेखक ने मनुस्मृति के संबंध में फैले भ्रामक विचारों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है तथा इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मनुस्मृति एक राष्ट्रवादी एवं सुशासन का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है और अकेले भारत में बौद्धिक–वैश्वीकरण का पर्याय है। धर्मनियंत्रित राजतंत्र ही मनुस्मृति का प्रतिपाद्य राजनीति व्यवस्था है।

प्रवीन, शीबा : वर्तमान काल में मनुस्मृति की प्रासंगिकता, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2007 में लेखिका स्मृतियाँ, जो कि धर्मशास्त्र ग्रन्थ हैं, उनमें मनुस्मृति को व्यापक, विशाल एवं समस्त स्मृतियों का आधार मानती है। स्मृतियों से ही धर्म का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। धर्म के ज्ञान के बिना इहलोक तथा परलोक दोनों व्यर्थ हो जाते हैं। पुस्तक में स्मृतियों में धर्म का स्वरूप, वर्णाश्रम धर्म, राजधर्म, दाय भाग, दण्ड व्यवस्था, नारी की स्थिति, विवाह एवं विभिन्न पापों के प्रायश्चित की व्यवस्था आदि पर प्रकाश डाला गया है। मनुस्मृति मानव जीवन के लिए उपादेय, व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन में आदर्श रूप, अनुकरणीय मार्गदर्शक, जीने का रास्ता दिखलाने वाली स्मृतियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण होने के साथ आज भी प्रासंगिक है।

तोमर, हर्षवर्धन सिंह : मनु का दण्ड विधान (अखिल भारतीय इतिहास–संकलन योजना) नई दिल्ली, 2011 प्रस्तुत ग्रन्थ डॉ0 तोमर द्वारा किया गया शोध कार्य है। इसमें इन्होंने सुगम और बोधगम्य भाषा में अपराध और दण्ड विधान के सन्दर्भ में मनुस्मृति के मूल तत्वों को विवेचित किया है। लेखक ने सात अध्यायों में विभक्त पुस्तक में मनु और मनुस्मृति से संबंधित विवादों, प्रश्नों पर पक्षपातरहित नवीन दृष्टिकोण से सप्रमाण और युक्तियुक्त विवेचन किया है, वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों से मनु के भावों को उद्घाटित एवं पुष्ट किया है। पुस्तक 07 अध्यायों में विभक्त है, जिसमें मनुस्मृति के परिचय के साथ अपराध व दण्ड विधान की पूर्व परम्परा, विधि–निषेध, न्याय–विधान की परम्परा व क्रियान्वयन आदि का उल्लेख है।

शर्मा, अन्जू : प्राचीन भारत में न्यायिक प्रणाली, श्याम प्रकाशन, जयपुर, 2001 प्रस्तुत कृति प्राचीन भारत की न्याय प्रणाली की समस्त जटिलताओं का सूक्ष्य विश्लेषण करती है। प्रथम अध्याय–स्रोत सामग्री, द्वितीय–न्याय प्रशासन, तृतीय–न्यायालयों के संगठन, चतुर्थ–न्यायिक प्रक्रिया, पंचम तथा षष्ठम्–अपराध तथा दण्ड व्यवस्था पर आधारित है। लेखिका के दृष्टिकोण से कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित बहुत से नियम एवं व्यवस्थाऐं मनुस्मृति में पाई जाती हैं, किन्तु मनु ने अपना विधान एक समाजशास्त्री एवं न्यायविद दोनों रूप में प्रस्तुत किया है। प्राचीन भारतीय समाज की संरचना में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका थी तथा प्राचीन काल में मनुष्य के लिए धर्म तथा व्यवहार पर्याय थे। सारी न्याय प्रणाली

का नियंता धर्म ही था। धर्मशास्त्र सम्मत न्याय व्यवस्था की रक्षा करना राजा का परम कर्तव्य माना जाता था।

प्रसाद, मणिशंकर : कौटिल्य के राजनीतिक एवं सामाजिक विचार, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1998 पुस्तक में कौटिल्य के राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों पर व्यापक सामग्री प्राप्त होती है। कौटिल्य के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के साथ राज्य संबंधी विचार, राजतंत्र, प्रशासन, अन्तर्राज्य संबंध, कृषि एवं उद्योग, सामाजिक विचारों के साथ कौटिल्य की प्लेटो, अरस्तू, मैकयावेली जैसे पाश्चात्य विचारकों तथा मनु वृहस्पति जैसे भारतीय विचारकों के साथ तुलना, कौटिल्य की भारतीय राजनीतिक चिन्तन की देन एवं उनके विचारों की प्रासंगिता आदि की व्यापक जानकारी प्राप्त होती है।

आचार्य, दीपंकर : कौटिल्यकालीन भारत (उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण 1968) ने अपने दृष्टिकोण से मानव सभ्यता के विकास का सिंहावलोकन करते हुए ''कौटिल्यकालीन भारत'' के समाज का एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। इससे तत्कालीन राजनीति एवं अर्थव्यवस्था का आभास मिलता है तथा आचार्य कौटिल्य के महान् बौद्धिक व्यक्तित्व का पता चलता है, जिन्होंने अपने सुविख्यात ''अर्थशास्त्र'' ग्रन्थ में राजतंत्र के अन्तर्गत लोक कल्याण शासन का सूत्रपात किया था। इस पुस्तक के अध्ययन से प्राचीन भारतीय राजनीतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक एवं सामाजिक परम्पराओं से भली–भाँति अवगत हो सकते हैं।

शरण, आर : प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन का स्वरूप (राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2008) पुस्तक में प्राचीन भारत के सांस्कृतिक गौरव की महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। हमारी प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर में धर्म और दर्शन की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका रही है। हमारे देश में धर्म के साथ दर्शन प्रायः उसी प्रकार जुड़ा रहा है जैसे देह के साथ आत्मा। प्रस्तुत पुस्तक में धर्म एवं दर्शन के स्वरूप को सरल व बोधगम्य भाषा शैली के माध्यम से समझाया गया है।

थापर, रोमिला : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास (अनुवादक–आदित्य नारायण सिंह), ग्रन्थ शिल्पी (इण्डिया) प्राइवेट लिमिटेड, ईस्ट ज्योति नगर, दिल्ली, 2012 यह पुस्तक प्राचीन भारत के सामाजिक इतिहास के विभिन्न महत्वपूर्ण पहलुओं पर

प्रकाश डालती है। इस पुस्तक के 14 अध्यायों में लेखिका के लेखों का संकलन है। इसमें प्राचीन भारत से संबंधित तथ्यों की नये सिरे से व्याख्या की गई है। इसमें सामाजिक गतिशीलता, आदिकालीन पुरातात्विक अवधारणाऐं, क्षेत्रीय इतिहास का अध्ययन, प्राचीन भारतीय समाज का अध्ययन, उत्तरी भारत में प्रथम सहस्राबदी ई.पू. में आचारशास्त्र धर्म और सामाजिक विरोध जैसे विविध विषयों का संकलन है।

कमल, के.एल. : भारतीय राजनीतिक चिन्तन (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1998) पुस्तक भारतीय चिन्तन में व्यष्टि और समष्टि, नागरिक और राज्य, राज्य और समुदाय, स्वतंत्रता और समानता, अधिकार और कर्तव्य, धर्म और राजनीति, शासन और प्रशासन, राजा और राज्य, संप्रभुता एवं इसकी सीमाऐं, राज्य के कार्यक्षेत्र और उद्देश्य, नौकरशाही आदि विषयों पर प्रकाश डालती है। प्रमुख तौर पर धर्म और नैतिकता की परिधि में चर्चा हुई है। प्राचीन भारत की सांस्कृतिक धरोहर और इसकी दार्शनिक परम्परा की चर्चा की गई है।

आसोपा, लक्ष्मीनारायण (सं.) : संस्कृतवाड़मय में लोकतंत्र (हंसा प्रकाशन, जयपुर, 2010) द्वारा संपादित पुस्तक में विभिन्न मनीषियों के विचार और अन्वेषण संस्कृत वाड़मय में वर्णित जनतांत्रिक मूल्य एवं उनकी वर्तमान में उपयोगिता के संदर्भ में पढ़ने को मिलते हैं। इसके अन्तर्गत राजा, राजधर्म, शासन स्वरूप, दण्ड, जनकल्याणकारी नीतियाँ, मानवाधिकार, सैन्य संचालन, नागरिक अधिकार, कर्तव्य परायणता, मानव व्यवहार, शान्ति, सहअस्तिव आदि तत्वों का आदि स्वरूप प्राप्त होता है। यही तत्व जनतांत्रिक मूल्यों का आधार हो सकते हैं, इन्हीं मूल्यों का अन्वेषण इस में वर्णित है।

वर्मा, एस.एल. एवं मिश्रा, मधु : महात्मा गाँधी एवं धर्मनिरपेक्षता, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1999 लेखक द्वय ने पुस्तक में राष्ट्रपिता गाँधी के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं चिन्तन का सहारा लेकर धर्म और धर्मनिरपेक्षता की प्रकृति, समस्याओं और उनके व्यावहारिक समाधान को समझाने का एक सुन्दर प्रयास किया है। पुस्तक की विषय वस्तु राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में भारतीय लोकतंत्र के लिए निरन्तरता तथा उपयोगिता की दृष्टि से, धर्मनिरपेक्षता विषय में उपादेय निष्कर्ष

निकालने तथा धर्म–लौकिकता, सत्यता के प्रकाश में, राष्ट्रपिता गाँधी के धर्मनिरपेक्ष नेतृत्व का मूल्यांकन करने से संबंधित है। भारत में बढ़ते सम्प्रदायवाद, आतंकवाद तथा धार्मिक कट्टरता का सामना करने के लिए समकालीन भारतीय नेतृत्व एवं विचारकों के लिए ठोस मार्गदर्शन प्रदान करती है।

किश्वर, मधुपूर्णिमा : राष्ट्रवाद की चाकरी में धर्म, अनुवादक योगेन्द्र दत्त, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2005 दिल्ली और उत्तर भारत के कई दूसरे स्थानों पर नवम्बर 1984 में सिखों के नरसंहार के बाद लिखे गए इन लेखों में लेखिका ने सांम्प्रदायिक हिंसा और तनाव की स्थितियों का विश्लेषण किया हैं वे सवाल उठाती हैं कि साम्प्रदायिक नरसंहार क्यों होते हें, वे हमारी राजनीतिक व्यवस्था का एक नियमित अंग क्यों बनते जा रहे हैं, ऐसा क्यों है कि इस तरह की हत्याओं के लिए जिम्मेदार लगभग सभी लोग खुले घूम रहे हैं और ताकतवर माने जाते हैं, इस निर्मम कृत्यों को किस तरह वैधता मिल रही है और इन्हें रोकने के लिए क्या किया जा सकता है?

नेहरू, जवाहरलाल : द डिस्कवरी ऑफ इण्डिया, जवाहरलाल नेहरू मेमोरियल फण्ड, नई दिल्ली ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1981, ये ज्ञानवर्धक पुस्तक 10 अध्यायों में विभक्त है। इन्दिरा गाँधी ने इसके पूर्वकथन में लिखा है कि यह पुस्तक राष्ट्रीय व्यक्तित्व के स्रोतों के बारे में एक गहरी खोज है। इसमें भारतीय संस्कृति की बौद्धिक, आध्यात्मिक विरासत से अवगत करवाया गया है। इसमें ब्रिटिश राज में भारतीयों का शोषण एवं भारत का आर्थिक, बौद्धिक, नैतिक ह्रास किया गया उसका विश्लेषण नेहरू द्वारा किया गया है। नेहरू ने ये पुस्तक अहमदनगर फोर्ट कारागार में 1944 (अप्रैल से सितम्बर) में लिखी थी। प्रथम अध्याय में अहमदनगर फोर्ट के बारे में, दूसरे में जर्मनी में अपने परिवार व मुसोलिनी के संबंध में, तीसरे में हिन्दुस्तान की ताकत, कमजोरियों व उसके अतीत के बारे में, चौथे अध्याय में सिन्धुघाटी सभ्यता एवं वेद पुराण महाभारत एवं विभिन्न धर्मों का विशद् वर्णन है। पाँचवें में हिन्दुत्व, बौद्ध धर्म व अन्य देशों से संबंधों का, कला का छठवें अध्याय में अरब, मंगोल, अफगानी संस्कृति व भारत से सम्बन्ध का, विभिन्न संस्कृतियों की उत्पत्ति, एशिया व यूरोप के औद्योगिक विकास का तुलनात्मक अध्ययन, अंग्रेजों की बेहतर तकनीक का सातवें में ब्रिटिश राज के

आधिपत्य जमाने व भारत राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय का, आठवें में कांग्रेस के उदय, विकास व गाँधी नेतृत्व, जिन्ना आदि के विचारों का, नवाँ अध्याय द्वितीय विश्वयुद्ध, असहयोग, सविनय अवज्ञा एवं भारत छोडो आन्दोलन के संबंध में है। दसवें एवं अन्तिम अध्याय में भारत में होने वाले राष्ट्रीय आन्दोलनों, उनके संबंध में विदेशों में होने वाली चर्चाओं और निकट भविष्य में भारत के निर्माण में आने वाली समस्याओं का व्यापक उल्लेख किया गया है।

गाँधी, मोहन दास कर्मचन्द : एन ऑटोबायोग्राफी ऑर द स्टोरी ऑफ माय एक्पेरीमेंन्ट्स विथ ट्रुथ, नवजीवन ट्रस्ट, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1940 में गाँधी ने स्वीकार किया है कि मेरे सत्य और अहिंसा के साथ प्रयोग हैं, यही मेरी जिन्दगी की वास्तविकता है। अतः इसे ही मेरी आत्मकथा कह सकते हैं। पाँच भागों में विभक्त पुस्तक के प्रथम भाग में गाँधी के बचपन, शादी, पिता की मृत्यु, लन्दन गमन आदि का, द्वितीय भाग में उनके पहले केस, दक्षिण अफ्रीका प्रवास, धर्म के तुलनात्मक अध्ययन, हिन्दुस्तान वापसी का उल्लेख है। तृतीय भाग में ब्रह्मचर्य गोखले के साहचर्य व अफ्रीका निवास का विस्तृत वर्णन, सत्याग्रह प्रयोग का प्रारम्भ, उपवास, हिन्दुस्तान वापसी का उल्लेख एवं पाँचवें व अन्तिम भाग में शान्ति निकेतन, सत्याग्रह आश्रम, गिरमिटिया उत्प्रवास का उन्मूलन, चम्पारन में नील की खेती, खेड़ा सत्याग्रह, रौलट एक्ट, नवजीवन व यंग इण्डिया, खिलाफत आन्दोलन, अमृतसर कांग्रेस, खादी का जन्म, हिन्दू–मुस्लिम एकता, छुआछूत निवारण एवं नागपुर में कांग्रेस अधिवेशन का वर्णन किया है।

बसु, दुर्गादास : भारत का संविधान–एक परिचय 11वाँ संस्करण लेक्सिस नेक्सिस पब्लिकेशन्स, गुडगांव, हरियाणा, 2015 नौ भागों में विभक्त यह पुस्तक संविधान के दस्तावेज की सुव्यवस्थित व्याख्या तथा वर्णन करती है। इसमें सारी सामग्री, भारतीय शासन अधिनियम, 1935 से लेकर, प्रथम संवैधानिक संशोधन से 100वें संशोधन तक, विविध विधानों द्वारा राज्यों के पुनर्गठन के बारे में तार्किक विश्लेषण प्राप्त होता है। भाग–1 में संविधान की प्रकृति का 10 अध्यायों में, भाग 2 में संघ का शासन का, 2 अध्यायों में, भाग – 3 में राज्यों का शासन का, 3 अध्यायों में, भाग – 4 में संघ राज्य क्षेत्रों का प्रशासन का, 1 अध्याय में, भाग – 5 में स्थानीय स्वायत्त शासन का 3 अध्यायों में, भाग – 6 में विशेष क्षेत्रों का प्रशासन का 1

अध्याय में भाग – 7 में न्यायपालिका का 3 अध्यायों में, भाग – 8 में परिसंघ भाग – 7 में न्यायपालिका का 3 अध्यायों में, भाग – 8 में परिसंघ प्रणाली का, 5 अध्यायों में तथा अन्तिम भाग – 9 में विविध विषयों का 6 अध्यायों में व्यापक वर्णन किया गया है।

जैन, एस.एन. : नेहरू का सांविधानिक चिन्तन प्रिन्टवैल पब्लिशर्स, जयपुर 1990 नेहरू का सांविधानिक चिन्तन : भारतीय संविधान के मूल दर्शन के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषणात्मक समग्रता तथा वैचारिक परिपक्वता के अधिकृत हस्ताक्षर के समकक्ष है। पं. नेहरू संविधान सभा के दार्शनिक, मार्गदर्शक और उसके प्रमुख सांविधानिक चिन्तक थे। उन्होंने विभिन्न सांविधानिक मुद्दों पर बौद्धिक एवं आदर्शवादी दृष्टिकोण से विचार किया। संविधान के मूल तत्वों पर पूरा व्यक्तिगत ध्यान दिया और उन पर बारीकी से विचार किया। नेहरू जिन मुद्ददों पर जी–जान से लगातार आग्रह करते रहे लेखक ने उनको तीन भागों में विभक्त कर नेहरू के असीमित सेवा संकल्प का रूपान्तरण कर नवीन संदर्भों में व्यक्त किया है। प्रथम भाग में भारतीय संविधान का मूल दर्शन 4 अध्यायों – न्याय, स्वतंत्रता और समता, धर्मनिरपेक्षता, संसदीय मंत्रिमण्डलीय लोकतांत्रिक व्यवस्था तथा संघात्मक प्रणाली में, द्वितीय भाग में नेहरू का सांविधानिक चिन्तन 5 अध्यायों में – उद्देश्य प्रस्ताव, मूल अधिकार, नीति निदेशक तत्व, संसदीय लोकतंत्र, सांविधानिक संशोधन तथा संविधान के कतिपय अन्य पक्ष और नेहरू में, तृतीय भाग – समग्र मूल्यांकन में संवैधानिक आदर्श और राजनैतिक यथार्थ में नेहरू के योगदान का विश्लेषण किया है।

नारायण, इकबाल (संपादक) : भारतीय सरकार एवं राजनीति एक लेख संकलन, खण्ड–I, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1974, पुस्तक में सरकारी संस्थाओं के संदर्भ में राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रथम खण्ड के संकलन में संवैधानिक रूपरेखा के साथ–साथ संस्थाओं के वास्तविक स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि राजनीतिक यथार्थ किस प्रकार, किस दिशा में संविधान निर्माताओं के आधारभूत मान्यताओं, मन्तव्यों और आकांक्षाओं को परिणत कर रहा है। इस प्रकार विश्लेषण का जो दृष्टिकोण इस पुस्तक में अपनाया गया है, उसका उद्देश्य संविधान के व्यावहारिक स्वरूप को राजनीतिक यथार्थ के संदर्भ में समझना और इन दोनों की

अन्तनिर्भरता पर प्रकाश डालना है। **डोनाल्ड स्मिथः** भारत में धर्मनिरपेक्षता, **पी.बी. गजेन्द्र गडकर, पी.बी.** : धर्मनिरपेक्षता तथा भारतीय संविधान जैसे शोधकर्ता व उच्च कोटि के लेखकों के साथ ए.अप्पादोराई, के.टी.शाह, ग्रेनविल ऑस्टिन, आइवर जेनिंग्स, मार्कुस फाण्डा, अशोक चन्दा, ए.एच.हेनसन व जेनेट डगलस, पी. बी. मुखर्जी, एस.एम.सीरवई, के.आर. बॉम्बवाल, एच.एम.जैन, हरीश खरे, एस.मोहन कुमारमंगलम, अरविन्द के. शर्मा, एम.मुतालिब के महत्वपूर्ण लेखों के अतिरिक्त स्वयं संपादक के व्यक्तिगत लेखों का एक ज्ञानवर्धक एवं महत्वपूर्ण संकलन है।

दुबे, अभय कुमार : द्वारा सम्पादित पुस्तक 'साम्प्रदायिकता के स्रोत' विनय प्रकाशन, दिल्ली 1993 बारह उत्कृष्ठ लेखों का संकलन है। इसमें ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, रजनी कोठारी, धीरू भाई सेठ जैसे लेखकों ने साम्प्रदायिकता के इतिहास, इसके स्रोत, विकास व धर्मनिरपेक्षता में इसकी बढ़ती हुई घुसपैठ आदि ज्वलंत मुद्दों पर विचार प्रकट किये हैं। क्या धर्म को राजनीति और प्रशासन से अलग कर देने भर से राष्ट्रवाद को बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता का आधार लेने से रोका जा सकता है? कया एक धर्म बहुल राष्ट्र में धर्मनिरपेक्षता का आग्रह व्यर्थ है? आदि प्रश्नों का जवाब देते हुए ये बारह लेख साम्प्रदायिकता की बहुमुखी और एक हद तक सर्वांगीण आलोचना प्रस्तुत करते हैं।

परिकल्पना :–

किसी भी शोध कार्य को आरम्भ करने से पूर्व उसकी दिशा निश्चित करना अनिवार्य होता है। विषय के सम्बन्ध में अपने पूर्व ज्ञान एवं पूर्व अनुभव के आधार पर शोधकर्ता कुछ सम्भावनाऐं लेकर चलता है अर्थात् परिकल्पना का निर्धारण करता है, जिससे निष्कर्ष निकाले जाएँ। मैं शोधकर्त्री अपनी परिकल्पनाओं को स्थापित कर, कुछ समाजोपयोगी सिद्धान्तों का निर्माण कर सकूँगी, ये भविष्य के गर्भ में विद्यमान है। शोधार्थी की निम्नलिखित परिकल्पनाऐं हैं :–

1. प्राचीन भारतीय राजनीति शास्त्र में, परस्पर सम्बद्ध समाज व्यवस्था व राजनीतिक व्यवस्था में धर्म की भूमिका तथा वर्तमान में भी उस विचार की प्रासंगिकता को जानने की मेरी जिज्ञासा का परिणाम है यह शोध प्रबन्ध।

2. जिस प्रकार प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में धर्म का स्थान महत्वपूर्ण एवं अपरिहार्य रहा है, उसी प्रकार आज की राजनीतिक व्यवस्था में धर्म कितना प्रासंगिक है?

3. राजनीति में धर्म की महत्ता और उपयोगिता क्या है? वास्तव में, धर्म का सैद्धान्तिक स्वरूप कैसा है? उसका व्यावहारिक स्वरूप कैसा है?

4. 'मनुस्मृति' एवं 'अर्थशास्त्र' में राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत अपनाई गई व्यापक धर्म की अवधारणा क्या वर्तमान में धर्मनिरपेक्ष राजनीति में परिलक्षित हो रही है?

5. धर्म ने राजनीति में हस्तक्षेप किया? या धर्म राजनीति की शतरंज का मोहरा बना? क्या धर्म एक ऐसी शक्ति के रूप में उभर पाया जो विभिन्न समुदायों में एकता स्थापित करे?

6. वर्तमान की राजनीतिक एकीकरण की प्रमुख समस्या साम्प्रदायिकता का समाधान क्या धर्मनिरपेक्षता के दृष्टिकोण को अपना कर प्राप्त कर सकते हैं?

7. ऐसी धर्मनिरपेक्षता जिसमें व्यापक धर्म, सत्य, ईश्वर या नैतिकता को सर्वोपरि स्थान दिया गया है, जो असम्प्रदायवाद या सर्व–धर्म–सम–भाव के रूप में संविधान में अपनायी गई है, भारत की साम्प्रदायिक समस्या के समाधान तथा उसके प्रगतिशील भविष्य के निर्माण के लिए क्या उपादेय होगी?

शोध प्रविधि :–

किसी भी अध्ययन की वैज्ञानिकता उसमें प्रयुक्त शोध विधि की मूल्य निरपेक्षता और वस्तुनिष्ठता पर निर्भर करती है। अतः शोध में प्रयुक्त विधि का दोष रहित होना अनिवार्य होता है। प्रस्तुत शोध में समाज विज्ञानों में प्रयुक्त वैज्ञानिक शोध पद्धति को अपनाया गया है, जिसके अन्तर्गत सर्वप्रथम भारतीय राजनीतिक चिन्तन में धर्म की और धर्मनिरपेक्षता की परम्परा विषय का चयन कर मनुस्मृति एवं अर्थशास्त्र में एवं प्रत्येक काल में धर्म और धर्मनिरपेक्षता की परम्परा, उसके राजनीति पर प्रभाव, धर्म की अवधारणा एवं धर्मनिरपेक्षता के स्वरूप आदि का

व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध अध्ययन करने का प्रयास किया है। समस्या को समस्त रूप में समझने के लिए उपयुक्त तथ्यों के संकलन हेतु मनुस्मृति एवं अर्थशास्त्र जैसे भौतिक ग्रन्थों के अतिरिक्त धर्म और धर्मनिरपेक्षता पर उपलब्ध विभिन्न पुस्तकों, पत्र पत्रिकाओं, धार्मिक साहित्यिक सांस्कृतिक ग्रन्थों, विद्वानों व इन्टरनेट के माध्यम से विषयवस्तु को एकत्र किया गया है। तत्पश्चात समस्त तथ्यों का संकलन करके उनको अध्यायानुसार क्रमबद्ध और व्यवस्थित वर्गीकरण किया है। प्रत्येक अध्याय के लिए एकत्रित तथ्यों का गहन अध्ययन करने का प्रयास किया गया है, जिसमें सम्बन्धित काल में धर्म का स्वरूप, राजनीति ओर धर्म की अन्तःक्रिया, उसके सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, नैतिक, धार्मिक, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव आदि का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत शोध में धर्म और राजनीति की अन्तःक्रिया के गर्भ में जाकर उसका मानव समुदाय, मानव व्यवहार, राजनीति पर प्रभाव, धर्मनिरपेक्ष स्वरूप आदि कार्य कारण संबंधों की वैज्ञानिक व्याख्या करके निष्कर्ष को समझने एवं प्रत्येक घटना से सम्बन्धित तथ्यों का विश्लेषण कर उसकी व्याख्या की गई है। तथ्यों की व्याख्या में सार्वभौमिकता, मूल्य निरपेक्षता और वस्तुनिष्ठता को ध्यान में रखकर समस्या का सैद्धान्तिक आधार पर भी विवेचन किया गया है। प्रस्तुत शोध के विभिन्न अध्यायों के अध्ययन यथा प्रथम अध्याय में विषय का परिचय देते हुए पूर्व में विषय से सम्बन्धित विद्वानों की पुस्तकों की समीक्षा और अध्ययन के उद्देश्य, द्वितीय अध्याय में मनुस्मृति में धर्म और राजनीति की अन्तःक्रिया का विश्लेषण, तृतीय अध्याय में अर्थशास्त्र में धर्म और राजनीति की अन्तःक्रिया का विश्लेषण, चतुर्थ अध्याय में मनुस्मृति एवं अर्थशास्त्र में धर्म और राजनीति के पारस्परिक सम्बन्धों का तुलनात्मक अध्ययन, पंचम अध्याय में भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण के स्वरूप का प्रतिपादन एवं षष्ठम व अन्तिम अध्याय में सम्पूर्ण विश्लेषण के उपरान्त शोध निष्कर्ष निकाला गया है। आवश्यकतानुसार विषय सामग्री को मर्यादित करने का प्रयास किया गया है, जिससे विषयान्तर न हो जाए। शोध प्रबन्ध के अध्ययन में मूलतः समाज वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक विश्लेषणात्मक पद्धतियों का प्रयोग कर अध्ययन को अधिक व्यावहारिक, तर्कपूर्ण एवं वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया गया है।

संदर्भ ग्रन्थ :–

1. कल्याण — धार्मिकांक, गीता प्रेस गोरखपुर, जनवरी 1966 लेखक श्री चारूचन्द्र चट्टोपाध्याय, पृ. 143

2. कल्याण — पृ. 212

3. काणे, पाण्डुरंग वामन — धर्मशास्त्र का इतिहास (प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय धर्म तथा लोक विधियाँ) प्रथम भाग, हिन्दी समिति प्रभाग, लखनऊ, चतुर्थ संस्करण, 1992 पृ. 3–5

4. एकेडेमिक अमेरिकन एनसाईक्लोपीडिया — ग्रालियर इनकॉरपॉरेटेड, 1983, भाग 6, पृ. 148

5. द कोलम्बिया एनसाईक्लोपीडिया — यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क एण्ड लन्दन, भाग 11, पृ. 568

6. काणे, पाण्डुरंग वामन — पूर्वोक्त, पृ. 103–105

7. वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद — वैदिक राजनीति शास्त्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना–3, 1975, पृ. 258

8. वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद — हिन्दू पॉलिटिकल थॉट एण्ड इट्स मेटाफिजीकल फाउण्डेशन्स, मोतीलाल बनारसीदास, पटना, 1955, पृ. 115

9. श्रीमद्भगवद्गीता — गीता प्रेस गोरखपुर, गोविन्द भवन कार्यालय, कोलकाता, 1982, पृ. 52–53

10. श्रीमद्भगवद्गीता — पृ. 61

''न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरूषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।3/4
''नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।3/5

''श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।3/35

11. शरण, परमात्मा	प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाऐं, मीनाक्षी प्रकाशन मेरठ, 1970, पृ. 534
12. कौटिलीय अर्थशास्त्रम्	गैरोला वाचस्पति, चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी 2003, तीसरा अधिकरण : धर्मस्थीय, अध्याय 1, प्रकरण 56–57, पृ. 259
13. मुकर्जी, आर.के	चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स, मोतीलाल बनारसी दास, पटना, 1966, पृ. 49
14. घोषाल यू.एन.	ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पॉलिटिकल आइडियाज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बॉम्बे, 1959, पृ. 529–30
15. संक्षिप्त महाभारत	कर्णपर्व, गीता प्रेस गोरखपुर, गोविन्द भवन, कोलकाता, 29वां संस्करण, द्वितीय खण्ड संवत् 2063, पृ. 52
16. कल्याण	पूर्वोक्त, पृ. 143–145
17. वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद	आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, धर्म मीमांसा और राधाकृष्णन, परिशिष्ट 11, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, संजय प्लेस, आगरा 2009, पृ. 836
18. घोष, अरविन्द	भारतीय संस्कृति के आधार, श्री अरविन्द सोसायटी, पाण्डिचेरी–2 1968 पृ. 408
19. घोष, अरविन्द	पृ. 393–397
20. घोष, अरविन्द	मानव चक्र, श्री अरविन्द सोसायटी, पाण्डिचेरी–2 1970 पृ. 196–197 व 205–206
21. गुप्त, नत्थूलाल	भारत की धार्मिक परम्परा, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2002 पृ. 113

22. टण्डन, किरन — प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारक, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1988, पृ. 1–3, 7 व 12–13

23. मनुस्मृति — पं. रामेश्वर भट्ट विरचित चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, जवाहर नगर, दिल्ली, 1985 अध्याय 7, पृ. 152–184

24. याज्ञवल्क्य स्मृतिः — जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, झालानियों का रास्ता, जयपुर 2004, तेरहवां अध्याय, राजधर्म प्रकरण, श्लोक संख्या 309–48, पृ. 366–401

25. टण्डन, किरण — पृ. 72 व 95–96

26. महाभारतम् — शान्तिपर्व, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1987 अध्याय 14, 15, 16, पृ. 975–982

27. टण्डन, किरन — पूर्वोक्त, पृ. 145–47, 150

28. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — पूर्वोक्त, प्रथम अधिकरण, विनयाधिकारिक, अध्याय 1–20, प्रकरण 1–16, पृ. 8–73

29. चतुर्वेदी, मधुमुकुल — प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 2011, पृ. 167–168

30. नारायण, इकबाल — (सं), भारतीय सरकार एवं राजनीति, एक लेख–संकलन खण्ड – 1, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर 1974 पृ. 90 (स्मिथ डोनाल्ड : भारत में धर्मनिरपेक्षता इण्डिया एज एक सेक्युलर स्टेट पर अंशतः आधारित प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1963, पृ. 494–501)

31. नारायण, इकबाल — पृ. 92–93

32. गजेन्द्र गडकर, पी.बी. — धर्मनिरपेक्षता तथा भारतीय संविधान, पृ. 103 नारायण इकबाल (सं), भारतीय सरकार एवं राजनीति, एक लेख–संकलन खण्ड – 1, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर 1974

33. गजेन्द्र गडकर, पी.बी. — पृ. 109–10

34. जैन, एस.एन — नेहरू का सांविधानिक चिन्तन (भारतीय संविधान के मूल दर्शन के परिप्रेक्ष्य में) अध्याय–2 ''धर्मनिरपेक्षता व पंथनिरपेक्षता'' प्रिन्टवैल पब्लिशर्स, जयपुर 1990, पृ. 25–26

35. श्रीमद्भगवद्गीता — पूर्वोक्त, अध्याय 42, श्लोक संख्या 7, पृ. 65

36. मनुस्मृति — पूर्वोक्त, अध्याय 2, श्लोक संख्या 6, 12 पृ. 17

37. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — पूर्वोक्त, प्रथम अधिकरण, विनयाधिकारिक, अध्याय 2, प्रकरण 1, पृ. 11

अध्याय – द्वितीय

धर्म और राजव्यवस्था की अन्तःक्रिया और मनुस्मृति

मनुस्मृति को समस्त स्मृतियों का मूल माना गया है क्योंकि मनुस्मृति सभी स्मृतियों में सबसे अधिक प्राचीन है। सभी धर्मशास्त्रों में मनृस्मृति को आधार मानकर ही स्मृतियों की रचना की है। वेदों में मनु का सादर उल्लेख है। ऋग्वेद में मनु को पिता के रूप में स्वीकार किया गया है। संहिताओं, ब्राह्मणों में मनु के वचनों को औषधि के समान माना गया है। महाभारत में भी मनु को स्वायंम्भुव मनु की संज्ञा दी गई है तथा यह भी कहा गया है कि मनु को ब्रह्मा ने एक लाख श्लोकों में धर्म का उपदेश दिया।

मनु के विषय में संस्कृत साहित्य में कहा गया है कि ''परम्परानुसार मनु मूलरूप से वैवस्वत, स्वाम्भुव एवं सावर्णि से संबंधित है। मनु सूर्य के पुत्र थे, इसी कारण वह वैवस्वतः हुए, स्वयं उत्पन्न होने से स्वायंम्भुव कहलाये।''[1]

मनु एक श्रेष्ठ कानूनी वक्ता थे। सर्वप्रथम कानून बनाने वाले का नाम मनु से मिलता–जुलता ही माना गया है। हम इस बावत को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते कि ग्रीक (यूनानी) भाषा के 'माइनोस', 'मिनेयुस' आदि शब्द संस्कृत के मनु शब्द के ही विकृत रूप हैं।

यास्क ने भी मनु को उद्धृत किया है। रघुवंश में कालिदास ने, कामसूत्र में वात्सायन ने मनु का उल्लेख किया है। ब्राह्मण के पाप करने पर जो दण्ड मनुस्मृति में दिया है, उसी का समर्थन मृच्छकटिकम् में भी दिया गया है। कम्बोडिया के लोग आज भी स्वयं को मनु का वंशज मानते हैं। मनु को अपने पूर्व के साहित्य का पर्याप्त ज्ञान था। उन्होंने तीन वेदों के नाम लिए हैं और अथर्ववेद को अथर्वांगिरसी श्रुति कहा है। मनुस्मृतियों में आरण्यक, छः वेदांगों और धर्मशास्त्रों की चर्चा आयी है।[2]

मनुस्मृति के रचनाकाल के संबंध में मतैक्य नहीं है। काल निर्धारण अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों पर आश्रित है। कतिपय विद्वान मनुस्मृति को महाभारत से प्राचीन मानते हैं तो कतिपय पश्चात् की रचना स्वीकार करते हैं। परम्परावादी भारतीय

विद्वान मनुस्मृति को वेद सदृश रचना मानते हैं। ऋग्वेद में मनु के विधान का ही विवरण नहीं है, उसके पालन का उल्लेख भी है। यास्क ने निरूक्त में व्यवहार शास्त्र प्रणेता के रूप में मनु का उल्लेख किया है।

मनुस्मृति की सबसे प्राचीन टीका 'मेधातिथि' की है, जिसका काल 900 ईस्वी है। याज्ञवल्क्य स्मृति के व्याख्याकार विश्वरूप ने मनुस्मृति के जो लगभग 200 श्लोक उद्धृत किये हैं, वे सब बारह अध्यायों के हैं। दोनों व्याख्याकारों ने वर्तमान मनुस्मृति से ही उद्धरण लिए हैं। वेदान्तसूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने मनु को अधिकतर उद्धृत किया है। कुमारिल के तन्त्रवार्तिक में मनुस्मृति को सभी स्मृतियों सेऔर गौतमसूत्र से भी प्राचीन कहा है। मृच्छकटिकम के उद्धरण एवं बलभीराज धारसैन के एक अभिलेख से पता चलता है कि सन् 571 ईस्वी में वर्तमान मनुस्मृति के प्रमाण थे। जैमिनी सूत्र के भाष्यकार शबर स्वामी ने भी, जो 500 ईस्वी के बाद नहीं हो सकते मनुस्मृति को उद्धृत किया है। बृहस्पति ने, जिनका काल 500 ईस्वी है, मनुस्मृति की भूरि–भूरि प्रशंसा की है। स्मृतिचन्द्रिका में उल्लिखित अंगिरा ने मनु के धर्मशास्त्र की चर्चा की है। अश्वघोष की वज्रसूचिकोपनिषद तथा रामायण में वर्तमान मनुस्मृति की बातें पायी जाती हैं।

उपर्युक्त बाह्य साक्षियों से स्पष्ट है कि द्वितीय शताब्दी के बाद के अधिकतर लेखकों ने मनुस्मृति को प्रमाणिक ग्रन्थ माना है।[3]

महाभारत के 12वें एवं 13वें पर्वों में जिस मानवधर्मशास्त्र की चर्चा हुई है, वह मनुस्मृति से ही सम्बन्धित है। महाभारत के बहुत से श्लोक मनुस्मृति से मिलते हैं। अतः मनुस्मृति महाभारत से पूर्व की रचना है। महाभारत में प्राचेतस का एक वचन उद्धृत है, जो वर्तमान मनुस्मृति में ज्यों का त्यों प्राप्त हो रहा है। श्री मंडलिक मनुस्मृति को महाभारत के बाद की रचना तो हापकिन्स तथा बुहलर महाभारत से पूर्व की रचना मानते हैं। ई.पूर्व चौथी शताब्दी से बहुत पूर्व स्वायंम्भुव मनुकृत एक धर्मशास्त्र ग्रन्थ था, जो सम्भवतः श्लोकबद्ध था, उसी प्रकार सम्भवतः प्राचेतस मनु का राजधर्म नायक ग्रन्थ का भी उसी समय अस्तित्त्व था।

डॉ. बुहलर ने मनुस्मृति का रचनाकाल 200 ई.पूर्व से 100 ई. के मध्य निर्धारित किया है। डॉ. जायसवाल ने भी मनुस्मृति का काल 150–200 ई.पूर्व के

मध्य माना है। वर्तमान मनुस्मृति याज्ञवल्क्य स्मृति से पूर्व की रचना है। मनुस्मृति में न्याय सम्बन्धी विवरण कम है और याज्ञवल्क्य स्मृति में इससे अधिक विवरण है। याज्ञवल्क्य स्मृति का समय तीसरी शताब्दी है। मनु इससे बहुत पहले के हैं।

मनु के विचार बृहदारण्यक उपनिषद् में भी प्राप्त होते हैं। तदनुसार पातंजलि ने धर्मसूत्रों को तो उल्लेख किया है, किन्तु मनुस्मृति का नहीं। मनुस्मृति की रचना उस समय तक नहीं हुई थी। पातंजलि का काल 188 ई.पूर्व है। अतः मनुस्मृति की रचना महाभाष्य के बाद की गई। एलपिस्तो के मत में मनुस्मृति की रचना 900 ई.पूर्व में हुई, क्योंकि वह उस काल की सामाजिक स्थिति का स्पष्ट वर्णन करती है। मनु ने मनुस्मृति में भारत से बाहर की जातियों का उल्लेख किया है, जिनमें यवन, कम्बोज, शक, पहल्व तथा चीन के नाम हैं। इनमें से कुछ लोगों का नाम प्रियदर्शी अशोक के पाँचवें शिलालेख में भी आया है। मनुस्मृति का गठन और विषय प्रतिपादन धर्मसूत्रों से बढ़कर हैं। अतः इसकी रचना धर्मसूत्रों (ई.पूर्व 600–300) के बाद मानी जा सकती है।[4]

उपर्युक्त अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों को आश्रय मानकर मनुस्मृति का रचनाकाल ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी एवं ईसा उपरान्त दूसरी शताब्दी के मध्य स्वीकार किया जा सकता है।[5]

सम्पूर्ण मनुस्मृति बारह अध्यायों में विभक्त है। मनुस्मृति में उन सभी विषयों को मान्यता मिली है, जो वेद, पुराण, रामायण तथा महाभारत में भी स्थान पाए हुए हैं। मनुस्मृति के बारह अध्यायों में सृष्टि की उत्पत्ति, धर्म की परिभाषा तथा विवेचन, संस्कार विधि, ब्रह्मचारी के कर्तव्य, गृहस्थ आश्रम का वर्णन, भक्ष्य एवं अभक्ष्य पदार्थों का निर्णय, वानप्रस्थ कर्तव्य, राजधर्म, राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था, पति–पत्नी के कर्तव्य, दाय भाग, चारों वर्णों के कर्तव्य, विभिन्न पापों का प्रायश्चित वैदिक कर्म की श्रेष्ठता और मोक्षप्राप्ति का वर्णन किया गया है।

भारतीय संस्कृति का झुकाव आध्यात्मिकता की ओर रहा है। मनुष्य जीवन का परम् एवं अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति माना गया है। मनुष्य के कर्मों के अनुसार ही स्वर्ग–नरक की प्राप्ति व पुनर्जन्म की कल्पना की गई है। अपौरूषेय वेदों को मानव के कर्तव्य निर्धारण का आधार स्वीकार किया गया है। चार युगों, चार

वर्णाश्रमों की अवधारणा तथा तदनुरूप निर्धारित कर्तव्यों के पालन को धर्म माना गया है।

''वेदोखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।।''

अर्थात् सम्पूर्ण वेद, वेद के जानने वालों की स्मृति और उनका शील, धार्मिकों का आचार और अपने मन की प्रसन्नता, ये धर्म के मूल हैं।[6]

मनु का धर्म से तात्पर्य मानव धर्म से है। इस मानव धर्म में मनु द्वारा प्रतिपादित धृति, क्षमा, दय, अस्तेय, शौच, इन्द्रियों को वश में करना, ज्ञान, विद्या, सत्य व क्रोध का त्याग करना– ये दस सामान्य धर्म के लक्षण समाहित हैं। मनु के विचार धर्मनिरपेक्षता पर आधारित हैं, जाति, कुल, देश, काल, लिंग, वय के मानवों को बिना किसी भेदभाव के ये लक्षण अनुकरणीय हैं, पालनीय हैं। मानव धर्म कहने का उद्देश्य है कि व्यक्ति चाहे किसी देश, जाति वर्ण, सम्प्रदाय का क्यों न हो उसका प्रथम परिचय है मानव होना और मानव वह है जिसमें मानवता होती है, मनुष्यता होती है और मनु प्रतिपादित दस धर्म लक्षण उसी मानवता के लक्षण हैं।

प्रत्येक युग में मनुष्यों के अलग–अलग धर्म निर्धारित किये हैं – सतयुग में तप, त्रेतायुग में ज्ञान, द्वापर युग में यज्ञ और कलियुग में दान को प्रमुख माना है।

मनु का मानना है कि मनुष्य, वेद और स्मृति में बताये हुए धर्म का पालन करता हुआ इस संसार में कीर्ति और मरकर निश्चित ही परमोत्तम सुख को पाता है। वेद और धर्मशास्त्र से ही धर्म की उत्पत्ति हुई है, जो द्विज इनका तर्क के आधार पर अपमान करता है, वह वेदनिन्दक है, उसे समाजच्युत कर देना चाहिए।

''वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्च्तुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।।''

अर्थात् वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी रूचि के अनुसार करना ये चारों धर्म के साक्षात् लक्षण हैं। अर्थ काम में अनासक्त व्यक्ति को धर्मज्ञान उपदेश किया जाता है, उसके लिए वेद ही उत्तम प्रमाण हैं।[7]

वस्तुतः मनु के धर्म का प्रेरक तत्त्व वैदिक दर्शन पर ही आधारित है। मनु ने स्वयं वेद तथा स्मृतियों पर आधारित धर्म के अनुसरण का आग्रह किया है। मनुस्मृति में धर्म एक ऐसे वृहत् निकाय के रूप में वर्णित हैं, जिसमें व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त नियम–विधानों से आबद्ध किया गया है। यहाँ धर्म व्यक्ति के आचार मूलक कर्मों व विधिक संस्था का पर्याय है। मनु का धर्म, वैदिक कर्मयोग का प्रतिपालक है, जो दृढ़संकल्प, व्रत, तप, नैतिकता व संकल्प पर आधारित है। मनुस्मृति में निहित धर्मरूपी विधि–विधानों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इसमें व्यक्ति से संयमित व नैतिक आचरण की अपेक्षा की गई है, जिसमें वह अपने कर्तव्यों का समुचित पालन करे। आचरण के विरुद्ध किए गए कार्य ही विस्तृत अर्थ में अपराध कहलाते हैं। ऐसे आचरण विरोधी कृत्यों के लिए मनु ने धर्म सम्मत दण्ड के विधान का प्रतिपादन किया है।

मनु ने इस संसार में सुख प्राप्ति व धर्म उपार्जित करने के लिए शास्त्र–सम्मत कर्म करने, सत्य उद्योग व अंहिसा को प्रमुखता दी है। अर्थ व काम की अपेक्षा धर्म को श्रेष्ठ माना है। अर्थ से युक्त होने पर भी धर्म से रहित व्यक्ति का शीघ्र पतन हो जाता है। मनुष्य को अपने धर्म का पालन इस प्रकार करना चाहिए, जिससे अन्य प्राणियों को कष्ट न हो। मनु ने धर्म को कभी न त्यागने की बात की है। उनका मानना है कि पिता, माता, पुत्र, स्त्री और जाति वाले, ये कोई परलोक में सहायता नहीं करते, केवल धर्म ही एक सहायक होता है। यही मरने के पश्चात् व्यक्ति के साथ जाता है।

धर्म पालन पर विशेष बल देते हुए मनु ने माना है कि –
''धर्म एवं हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षतः।
तस्मादधर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो हतोवधीत्।।''

अर्थात् नष्ट हुआ धर्म ही मारता है और रक्षा किया हुआ धर्म ही रक्षा करता है, इसलिए ''नष्ट हुआ धर्म कहीं हमको न मारे'' यह विचार कर धर्म का नाश नहीं करना चाहिए। भगवान् धर्म को वृष (कामनाओं की वर्षा करने वाला) कहते हैं। जो पुरुष धर्म का नाश करता है, देवता उसे वृषल अर्थात् शूद्र समझते हैं, इसलिए धर्म का लोप नहीं करना चाहिए।[8]

इस जगत् में राजा न होने से सब भय से व्याकुल होते हैं, इसलिए इन सबकी रक्षा के लिए ईश्वर ने राजा को उत्पन्न किया। मनु ने राजा की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को मानते हुए भी राजा को प्रज्ञा के प्रति उत्तरदायी बनाया है और राजधर्मों का उल्लेख किया है। उस समय नृपतंत्र या राजतंत्र सामान्यतः प्रचलित था व इसलिए शासनशास्त्र को राजधर्म या राज्यशास्त्र का नाम देना स्वाभाविक था। भारतीय राजनीतिशास्त्री भी राजसत्ता का अन्तिम आधार, दण्ड या बलप्रयोग समझते थे।[9]

सामाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने, नागरिकों के अधिकार, सम्पत्ति तथा जीवन की रक्षा करने के लिए, राज्य को अराजकता से बचाने के लिए राजा को अपराधियों को दण्डित करना होता है और इसी को दण्डात्मक व्यवस्था कहा जाता है। दण्ड प्राप्ति के भय से ही मनुष्य अपराध करने में पुनः प्रवृत्त नहीं होता है तथा दण्ड के द्वारा ही राजा प्रजा पर शासन करता है।

यदि राजसत्ता अपराधियों को दण्ड न देगी, तो समाज में मात्स्य या अराजकता शुरु होगी, दण्ड के भय से ही लोग न्यायपथ का अनुसरण करते हैं; जब सब लोग सोते हैं; तब दण्ड उनका रक्षण करता है। संक्षेपतः दण्ड ही धर्म है; ऐसी भारतीय शास्त्रियों की धारणा थी।

क्रमशः अपना–अपना धर्म करने वाले ब्राह्मण आदि चारों वर्णों की और ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों की रक्षा के लिए प्रजापति ने राजा को उत्पन्न किया।

क्षत्रिय राजा को न्यायपूर्वक संसार की रक्षा करनी चाहिए। राजा शिष्टों के प्रतिपालन और दुष्टों के दमन के लिए नियम नियत करता है। राजा प्राणियों की रक्षा के लिए धर्मरूप दण्ड धारण करता है, जिसके भय से कोई प्राणी धर्म से विचलित नहीं होता है। यथार्थ में दण्ड ही राजा, दण्ड ही पुरुष दण्ड ही राज्य का नेता और शिक्षक है और ऋषियों ने दण्ड को ही चारों आश्रमों के धर्म का साक्षी कहा है। दण्ड को यदि पूर्ण रीति से विचार कर दिया जाये तो सब प्रजा सुखी रहती है और बिना विचारे देने से सबका विनाश हो जाता है। यदि राजा भली–भाँति विचारकर दण्ड देता है तो उससे धर्म, अर्थ और काम की वृद्धि होती

है और जो राजा नीच, कामी और अनुचित दण्ड देने वाला होता है तो वह उसी दण्ड से मारा जाता है।[10]

प्राचीन भारत में अधिकतर संस्थाओं की उत्पत्ति दैवी ही मानी जाती थी और राज्य की उत्पत्ति भी इसी प्रकार समझी जाती थी। हिन्दू ग्रन्थकारों ने राजपद को दैवी बताया है न कि किसी राज्यव्यक्ति को। ईश्वरप्रणीत वर्णाश्रम धर्म प्रजा से पालन कराना राजा का कर्तव्य था। यदि राजा को दैवी माना जाये तो यह कर्तव्य प्रजा से अधिक अच्छी तरह से किया जा सके, ऐसी समाज की धारणा थी। राजपद को दैवी मानने से राजा की प्रतिष्ठा बढ़ने की संभावना थी व उसकी आज्ञाओं का पालन अधिक अच्छी तरह से हो सकता था, किन्तु राजा यदि अधर्मशील हो तो देवत्व के सहारे से वह अपने दुराचार या जुल्म का समर्थन नहीं कर सकता था, उसे धर्मशास्त्र में राक्षस का अवतार माना है। राजा के देवत्व के पूर्ण समर्थक मनु भी कहते हैं कि धर्म से विचलित होने पर राजा का नाश हो जाता है। राजा के देवत्व का अर्थ यह नहीं है कि राजा सब दोषों से परे है बल्कि साधारण जन की अपेक्षा उसके गलती करने की आशंका अधिक है, क्योंकि उसके सामने प्रलोभन भी बड़े रहते हैं। अतः उसे सर्वदा काम, क्रोध और लोभजन्य बुराईयों से बचने की सावधानीपूर्वक चेष्टा करते रहना चाहिए।[11]

मनुस्मृति एक आचार शास्त्र है, धर्मशास्त्र है। मनु ने ही सर्वप्रथम यह बताया कि मानव कदापि एकाकी नहीं रह सकता, उसे घर, परिवार साथ ही मानव समाज चाहिए। समाज में सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए मानव–मानव के मध्य मधुर एवं सुखद सम्बन्धों के लिए धर्म का पालन करना चाहिए। जाति, कुल, देश, काल, लिंग, वय किसी भी विजय को विभेदक रेखा न मानते हुए जो समस्त मनुष्यों के लिए सामान्य रूप से स्वीकार्य है, अनुकरणीय है, पालनीय है, वह ही सामान्य धर्म कहलाता है।

धर्म व्यक्तिगत तथा सामाजिक सुरक्षा की आधारशिला है, क्योंकि नियमरहित प्राकृतिक अवस्था अराजकता का पर्याय है। राजा का कर्तव्य अपनी प्रजा की रक्षा करना था और यदि राजा इस कर्तव्य का निर्वाह नहीं कर पाता था तो प्रजा का उसका त्याग कर देना उचित था। अराजकता के भय ने धर्म को दैवी धरातल पर

ले जाने की प्रेरणा दी और उधर उसके फलस्वरूप धर्म को राजा और सरकार दोनों से उच्चतर स्थान प्राप्त हुआ। धर्म की स्थिति को और भी सुरक्षित करने के लिए एक और अवधारणा को प्रवर्तन किया गया कि धर्म की रक्षा दण्ड से होती है।[12]

राजधर्म राजा का कर्तव्य है, इसके पालन करने से ही चतुष्कोणीय सामाजिक व्यवस्था बनी रहती है। मनु के अनुसार राजा का अस्तित्त्व ही राजधर्म से जुड़ा हुआ है, इसकी अनुपालना न करने पर दण्ड का प्रकोप होता है और अन्ततोगत्वा राजा मृत्यु को प्राप्त होता है। राजधर्म विश्व का सबसे बड़ा धर्म है। राजा वस्तुतः अपने युग का निर्माता होता है। राजधर्म अपने में साध्य नहीं है, यह तो सनातन धर्म की प्रगति और संसार की प्रसन्नता एवं समृद्धि में आने वाली विपदाओं को दूर करने का साधन है। प्रजाधर्म समाज के प्रत्येक नागरिक सदस्य का स्वधर्म है जो नियमों द्वारा निर्धारित किया गया है। यह सनातन धर्म ही है जो सभी स्थानों एवं कालों में एक सा ही है।[13]

मनु ने राजा की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को मानते हुए भी राजा को प्रजा के प्रति उत्तरदायी बनाया है और राजधर्मों का उल्लेख किया है। क्षत्रिय राजा को न्यायपूर्वक संसार की रक्षा करनी चाहिए। राजा प्राणियों की रक्षा के धर्मरूप दण्ड को धारण करता है जिसके भय से कोई प्राणी धर्म से विचलित नहीं होता है। राजा का धर्म है कि वह अन्याय करने वाले प्राणियों को यथायोग्य दण्ड दे, ऋषियों ने दण्ड को ही चारों आश्रमों में धर्म का साक्षी कहा है। राजा के भली–भाँति सोच–विचार कर दण्ड देने से ही धर्म, अर्थ और काम की वृद्धि होती है।

''स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोभिरक्षिता।।''

अर्थात् क्रम–क्रम से अपना–अपना धर्म करने वाले ब्राह्मण आदि वर्णों की और चारों आश्रमों की रक्षा के लिए प्रजापति ने राजा को उत्पन्न किया है।[14]

धर्मशास्त्र में बहुत जोर देकर कहा गया है कि राजा का धर्म शास्त्र और प्रचलित प्रथाओं से अनुमोदित धर्म का पालन करना और कराना है, स्वयं या

किसी राज्य संस्था द्वारा धर्म में परिवर्तन करने का उसे अधिकार नहीं है। धर्म और नीतिशास्त्र परमात्माने स्वयं रचे हैं और राजा का कार्य उनके निर्देशों को कार्यान्वित करना है, अपने अधिकार से उनमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। मनु ने राजा को शासन या आदेश जारी करने का अधिकार दिया है, परन्तु वे शास्त्र और आचार के अनुकूल होने चाहिए।[15]

राजा का धर्म है कि जो नहीं पाया है, उसके पाने की इच्छा करें और जो मिल गया है उसकी यत्नपूर्वक रक्षा करे तथा रक्षित धन को बढ़ावे एवं बढ़ाए हुए धन को सुपात्रों में दान दे। इन चार प्रकार के पुरुषार्थ साधनों को जानकर, सदा सावधान होकर अच्छी तरह से अनुष्ठान करे, अप्राप्त (धन) की इच्छा दण्ड के द्वारा करे, प्राप्त (धन) की देखभाल कर रक्षा करें, रक्षित को व्यापार आदि से बढ़ावे और बढ़े हुए धन को सुपात्रों में दान करे।

मनुस्मृति में सभी प्राणियों के कल्याणार्थ अप्राप्त की प्राप्ति, प्राप्त वस्तु की रक्षा, रक्षित वस्तु की वृद्धि व वृद्धि हुए धन का सत्पात्रों में वितरण इन चार कर्तव्यों में राजा के सब कर्तव्यों को निहित माना है।[16]

मनु अपने काल की समाज–व्यवस्था, राज–व्यवस्था, अर्थ–व्यवस्था, वर्णाधारित शक्ति एवं उसके संरक्षक शास्त्रों व उसमें निहित व्यवस्थाओं की सर्वविध रक्षा करना चाहते हैं, इसलिए उन्होंने समाज और जनहित में ही दण्ड–शक्ति के प्रयोग को आवश्यक माना है। मनुस्मृति से दण्ड की सर्वोच्चता का भान होता है, राजा धर्म का रक्षक है किन्तु विधि से परे नहीं है। धर्म का उल्लंघन करने पर समाज के प्रत्येक व्यक्ति को दण्डित करने का निर्देश प्राप्त होता है, यदि राजा स्वयं विधि का पालन नहीं करता है या अपराधियों को दण्डित नहीं करता है तो वह भी दण्ड का भागी होता है। दण्ड की अपरिहार्यता के संबंध में मनु का कथन है कि दण्ड का समुचित पालन न होने से समाज में अराजकता, उपद्रव, अशान्ति और भय का वातावरण निर्मित हो जाता है। इसलिए पापियों को दण्ड देने से राजा पापमुक्त रहता है।[17]

मनुस्मृति प्राचीन भारत का एक महत्वपूर्ण दण्ड विधान है। इसमें सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक सभी नियमों के उल्लघंन पर जीवन के सम्पूर्ण पक्षों से

सम्बन्धित दण्ड का विधान है। ब्राह्मण वर्ग को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं। रोगी, वृद्ध, गर्भिणी व बालक को को भी दण्ड के योग्य नहीं माना गया है। इसका तात्पर्य दण्ड व्यवस्था में समानता के सिद्धान्त की उपेक्षा नहीं वरन् परिस्थितियों को देखते हुए वर्णानुसार दण्ड का विवेचन है। मनुस्मृति में अर्थदण्ड, वाग्दण्ड, कारागार दण्ड, वध दण्ड, देश निष्कासन आदि सभी प्रकार के दण्डों का उल्लेख है। मनुस्मृति में मुख्यतः दण्ड का निवाराणात्मक प्रतिकारात्मक निरोधक व क्षतिपूर्ति सिद्धान्त का समावेश पाया जाता है। जहाँ शास्त्र के प्रमाण और विषय के अनुरूप दण्ड दिया जाता है, वहाँ प्रजा व्याकुल नहीं होती है।

अतः दण्ड की आवश्यकता भी है और उपयोगिता भी। दण्ड विधि का अनुपालन करना इसलिए अपरिहार्य था कि उसके बिना धर्म, सम्पत्ति, सम्मान, कीर्ति कुछ भी सुरक्षित नहीं हो सकते, यहाँ तक कि व्यक्ति और समाज की सुरक्षा भी मूलतः दण्ड पर केन्द्रित है।[18]

मनुस्मृति में राजा की आवश्यकता राज्य के प्रशासनिक प्रधान के रूप में स्वीकार की गई है। मनु का मत है कि बिना राजा के भय के समाज में अराजकता का वातावरण होता है। फलतः ईश्वर ने प्राणिमात्र की सुरक्षा के लिए राजा को बनाया। इससे स्पष्ट होता है कि राजा की आवश्यकता सुरक्षा के लिए ही है। राजा की उत्पत्ति रक्षा के उद्देश्य के रूप में एक सकारात्मक आवश्यकता बन जाती है। मनु का मत है कि राजा के दण्ड के भय से समस्त प्राणी अचल एवं चल अपने भोग भोगने में समर्थ होते हैं और कर्तव्य से च्युत नहीं होते।

राजा अपनी दण्डशक्ति के द्वारा समाज के दुर्दान्त सदस्यों को दण्ड देकर जीवन को व्यवहृत एवं व्यवस्थित करता है। इस सुरक्षा की भावना में राजा एक उच्च आवश्यकता है, यदि राजा दण्ड का प्रयोग नहीं करता तो समाज में क्रमबद्धता का अभाव हो जाता है और मात्स्यन्याय की अव्यवस्था का ''जिसकी लाठी, उसकी भैंस'' की कहावत चरितार्थ होती है, लेकिन राजा द्वारा प्रदत्त सुरक्षा के कारण कम जोर को बलवान बनने का मौका मिलता है।[19]

आन्तरिक और बाह्य दृष्टि से व्यक्ति, समाज और सम्पत्ति की सुरक्षा करना राजा का धर्म है। मनु का मत है कि जैसे खेत निराने वाला घास को निरा डालता

है और अन्न के पौधों की रक्षा करता है उसी प्रकार राजा को प्रजा की रक्षा समाज के दुष्ट व्यक्तियों से करनी चाहिए।[20]

भारतीय परम्परा में राजा पर धर्म का सबसे महत्त्व पूर्ण नियंत्रण रहा है। वैदिक काल से ही राजा धर्म का रक्षक, पोषक और समर्थक समझा जाता रहा है। धर्म का पालन राजा का नित्य और आवश्यक कर्तव्य माना गया है। संसार के सर्वप्रथम राजा वेन को यह प्रतिज्ञा लेनी पड़ी थी कि श्रुति–स्मृतियों में जो धर्म कहा गया है मैं उसका पूरा पालन करूँगा और कदापि मनमानी नहीं करूँगा। प्राचीन समय में धार्मिक और पारलौकिक दण्ड का बड़ा डर था और हमारे विधान शास्त्रियों ने राजा की शक्ति पर अंकुश लगाने के लिए इस भावना का पूरा उपयोग किया है। सभी शास्त्रकारों ने एकमत से कहा है कि प्रजा का पीड़न और सार्वजनिक धन का अपव्यय करने वाला राजा घोर पाप करता है और निश्चय ही नरक का भागी होता है। प्रजा के रोग, शोक और कष्ट का कारण राजा का धर्मच्युत होना ही समझा जाता है। मनु के युग में लोगों का विश्वास था कि धर्म और सदाचार से ही सुख मिलता है। उसकी वृद्धि तभी हो सकती है जब राजा स्वयं उनके आदर्श बने। अतः यह स्वाभाविक था कि यदि राजा धर्म का पालन न करे तो प्रजा के कष्टों की जिम्मेदारी राजा पर रखी जाये। मनु धर्म विपरीत आचारण करने वाले राजा का जीवन सकुटुम्ब संकटग्रस्त मानते हैं।[21]

मनुस्मृति में धर्म ही सर्वोपरि है, राजा का स्थान द्वितीय नम्बर पर आता है। राजा को धर्म के अनुसार ही आचरण करना होगा। मनु का राजा निरंकुश नहीं है, वह तब तक ही पूज्य है जब तक उसमें दैवी गुणों की प्रधानता है, उसका आचरण धर्मानुकूल है। उसका प्रत्येक कार्य विधि के अधीन है व दण्डधारण अवश्य करता है पर यह अधिकार उसे धर्म के अधीन रहने पर ही मिला है। मनु राजा को धर्म से बंधा मानता है तथा प्रजा के सुख एवं समृद्धि के लिए उत्तरदायी मानता है।

मनु का राजा दण्डधारी धर्म संस्थापक है। वह स्वेच्छाचारी, निरकुंश एवं धर्मविरोधी कार्य नहीं कर सकता है। राजा धर्म के नियमों का निर्माता नहीं है और न ही उसे धर्म के नियमों में परिवर्तन संशोधन एवं परिवर्द्धन का अधिकार मिला

है। राज्य में सर्वोपरि स्थान धर्म का ही है। दण्ड अत्यन्त तेजयुक्त होता है और उसे शास्त्रोक्त संस्कार रहित व्यक्तियों द्वारा धारण नहीं किया जा सकता है। यदि राजधर्म का विधिवत पालन न करने वाला व्यक्ति दण्ड को धारण करता है तो दण्ड उसे, उसके बन्धु–बान्धवों सहित नष्ट कर देता है। सत्यवादी, समीक्षा–परायण, बुद्धिमान तथा धर्म, अर्थ, काम के त्रिवर्ग के वास्तविक रहस्य का ज्ञाता व्यक्ति ही दण्ड धारण करने के योग्य है।

राजा का धर्म है कि वह देश, काल, दण्डशक्ति और विद्या (जिस अपराध के लिए जो दण्ड उचित हो उसका ज्ञान) का ठीक–ठीक विचार कर अन्यायवर्ती (अपराधी) व्यक्तियों के लिए शास्त्रानुसार दण्ड का प्रयोग करे। दण्ड ही राजा है क्योंकि दण्ड में ही राज्य करने की शक्ति है; दण्ड पुरुष है और अन्य सभी व्यक्ति दण्ड के शासनाधीन होने से स्त्रीतुल्य है; दण्ड नेता है (उसके द्वारा ही सब कार्य यथावत् प्राप्त होते हैं) दण्ड शासन करने वाला है और दण्ड चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू है। दण्ड ही सारी प्रजा पर शासन करता है, दण्ड ही सबकी रक्षा करता है; सबके सोते रहने पर दण्ड जागता है, विद्वान लोग दण्ड को धर्म का हेतु समझते हैं।

राजा का धर्म है कि वह अपराधियों को दण्डित करे अन्यथा बलवान लोग दुबलों को वैसे ही पकाने लगेगें जैसे मछलियों को लोहे की छड़ में छेदकर पकाते हैं। राजा की कार्यसिद्धि के लिए भगवान् ने समस्त जीवों के रक्षक, धर्मस्वरूप पुत्र, ब्रह्मा के तेजोमय दण्ड की सृष्टि की। दण्ड के भय से स्थावर तथा जंगम सभी जीव अपने–अपने भोग को भोगने के लिए समर्थ होते हैं।[22]

भारतीय धर्मशास्त्र के प्रणेता मनु जनतान्त्रिक भावना में विश्वास रखते हैं। मनु ने भले ही राजतंत्र की स्थापना की हो, किन्तु राजा को प्रजा के प्रति पूर्णतया उत्तरदायी बनाया है। वह प्रजा का अहित नहीं कर सकता। प्रजा के लिए राजा ही आदर्श है। उसका आचरण अनुकरणीय एवं उत्साहवर्धक है। राजा किसी भी स्थिति में विधिविरुद्ध कार्य करने का लेशमात्र भी अधिकारी नहीं है। वह कार्यपालिका का सर्वोच्च अधिकारी अवश्य है, किन्तु इस स्थिति में दण्ड धारण

करने वाला राजा दण्ड का स्वच्छन्द प्रयोग नहीं कर सकता, वह धर्म के अधीन रहकर ही दण्ड का प्रयोग कर सकता है।

राजा धर्म को दण्ड की अपेक्षा उच्च स्थान प्रदान कर जनतांत्रिक भावनाओं का आदर करता है, दण्ड के दुरूपयोग से जनतांत्रिक मूल्य प्रभावित होते हैं। राजा का धर्म है कि वह दण्ड का सम्यक् प्रयोग करे, दोषी को दोष की मात्रा के अनुरूप ही दण्ड प्रदान करे अन्यथा समाज में असन्तोष एवं उद्वेग उत्पन्न होंगे, जो शान्ति व सुरक्षा के लिए घातक होंगे। राजा का धर्म है कि वह देश, काल, शक्ति एवं विद्या इन चारों का विचार करके ही अपराधी को दण्ड दे अन्यथा अनुचित दण्ड का प्रयोग प्रयोक्ता एवं अभियुक्त दोनों का नाश कर देता है।[23]

मनु ने स्पष्ट कहा है कि संसार में सभी व्यक्ति दण्ड के भय से जीते हैं, कोई भी व्यक्ति स्वभाव से ही स्वधर्म परायण नहीं होता है। दण्ड के भय से ही सभी व्यक्ति अपनी–अपनी वस्तुओं का उपयोग करते हैं।

मनु ने राज्य की सर्वोच्च सत्ता अर्थात् सम्प्रभुता को स्वीकार किया है। यह सम्प्रभुता दण्ड के रूप में है जिसका स्वयं ईश्वर ने निर्माण किया है और इसे राजा को प्रदान किया है। यह दण्ड शक्ति असीमित अथवा निरकुंश नहीं है बल्कि धर्म के अधीन है। दण्डरूप इस सम्प्रभुता का स्रोत स्वयं ईश्वर है और यह दण्डशक्ति राजा के रूप में किसी व्यक्ति को नहीं बल्कि 'राजपद' के रूप में एक संस्था को सौंपी गई है अर्थात् यह दण्डशक्ति राजा की वैयक्तिक शक्ति न होकर एक संस्थागत शक्ति है। इस दण्डरूपी सम्प्रभुता का उद्देश्य राज्य में नैतिक मूल्यों की रक्षा एवं वृद्धि है। इन नैतिक मूल्यों को ही मनु ने धर्म की संज्ञा दी है। सम्प्रभुता धर्म की रक्षक भी है और धर्म के अधीन भी है। धर्म रूपी इस सम्प्रभुता को मनु ने आंतरिक और बाह्य दोनों ही क्षेत्रों में सर्वोच्च माना है। न्यायिक प्रशासन में धर्म कर्तव्य पालन के साथ–साथ राज्य की विधि के रूप में भी अनुलंघनीय है। अतः इस धर्म का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति दण्डनीय है। राज्य की यह दण्ड शक्ति राज्य की सैन्य शक्ति के रूप में भी प्रकट होती है, जो कि इस दण्ड शक्ति का दोहरा दायित्व होता है, समाज के आपराधिक प्रवृत्ति के लोगों से समाज के नागरिकों की सुरक्षा तथा राज्य के बाह्य शत्रुओं से राज्य की

स्वतंत्रता तथा अखण्डता की रक्षा करना, अतः बाह्य क्षेत्र में भी राज्य की सम्प्रभुता सर्वोच्च है।

मनुस्मृति में अर्थदण्ड, वाग्दण्ड, कारगार दण्ड, वध दण्ड, देश निष्कासन आदि सभी प्रकार के दण्डों को उल्लेख है। दण्ड के प्रकारों की, दण्ड के उद्देश्यों के आधार पर मनुस्मृति में दण्ड सिद्धान्तों की समीक्षा करने से ज्ञात होता है कि इसमें मुख्यतः दण्ड का निवाराणात्मक, प्रतिकारात्मक निरोधक व क्षतिपूर्ति सिद्धान्त का अधिक समावेश पाया जाता है। राजा का धर्म है कि वह दण्ड का प्रयोग धर्मशास्त्र के अनुसार विषय के अनुरूप करे। जिसका दण्ड सदा उद्यत है, उससे सब जगत डरता है तथा सब जगत दण्ड से ही अपने अधीन रहता है।

मनुस्मृति प्राचीन भारत का प्रथम विस्तृत दण्ड विधान है, जिसमें व्यक्ति के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, यहाँ तक कि व्यक्तिगत सम्बन्धों के बारे में भी नियमों के उल्लंघन पर दण्ड विधान है।

मनुस्मृति में धर्म को राज्य की किसी पूर्ववर्ती सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है वरन् धर्म तथा राजधर्म के अध्ययन से स्पष्ट है कि ईश्वर ने धर्म और राजकीय सत्ता दोनों को एक साथ उत्पन्न किया है और इसी कारण यह धर्म पारलौकिक दृष्टि से भले ही राजा को ईश्वर के प्रति उत्तरदायी बनाता हो, किंतु राजा को संसार में किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं बनाता है। मनु राजा को धर्म के मापदण्ड निर्धारित करने का अधिकार प्रदान करता है और प्रजा से यह अपेक्षा करता है कि वह इच्छा के प्रतिकूल होते हुए भी उस धर्म का कदापि उल्लंघन न करे।[24]

मनुस्मृति में राजा को भी दण्ड के अधीन माना गया है। दण्ड देने में राजा किसी प्रकार का पक्षपात न करे। पिता, आचार्य, मित्र, माता, भार्या, पुत्र और पुरोहित को भी अपने धर्म में तत्पर न रहने से राजा दण्ड दे सकता है, जिस अपराध पर साधारण मनुष्य को एक पण दण्ड होगा यदि राजा उसे स्वयं करे तो उस पर सहस्त्र पण दण्ड होने की शास्त्र मर्यादा है।[25]

मनु राजा के ऊपर साधारण व्यक्ति से सहस्त्रगुणा पण का दण्ड देने की बात तो करता है किन्तु यह उल्लेख नहीं करता कि राजा को किस कारण दण्डित

किया जा रहा है, न ही इस बात को स्पष्ट करता है कि राजा के ऊपर अभियोग कौन चलायेगा? किस अदालत में मुकदमे को प्रस्तुत किया जावेगा? यद्यपि इन शंकाओं का समाधान कुल्लुका भट्ट द्वारा किया गया है कि यह आर्थिक दण्ड स्वयं राजा के द्वारा दिया जावेगा, राशि ब्राह्मणों को दी जायेगी या वरुण देव के नाम पर पानी में डाल दी जायेगी तथापि इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि मनु का कथन केवल आदर्शवादी है और कोई संवैधानिक समाधान या व्यावहारिक प्रमाण उपलब्ध नहीं करवाता।[26]

मनुस्मृति में जीवन के सम्पूर्ण पक्षों से सम्बन्धित दण्ड का विधान है। सर्वप्रथम तो अपराध के अनुरूप दण्ड देने का प्रावधान है, दूसरा वर्ण के अनुसार दण्ड देने की व्यवस्था है। ब्राह्मण वर्ग को दण्ड के क्षेत्र में अन्य वर्णों की अपेक्षा कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मनुस्मृति की दण्ड व्यवस्था में समानता के सिद्धान्त की उपेक्षा की गई है बल्कि काल व परिस्थितियों को देखते हुए वर्णानुसार दण्ड की व्यवस्था की गई है। देशकाल, शक्ति और शास्त्र की भली–भाँति देखभाल कर राजा को चाहिए कि अन्याय करने वाले नरों को यथायोग्य दण्ड दे। प्रजा तभी सुखी रह सकती है। जब शास्त्र की रीति से भली–भाँति विचार कर लोभ आदि के बिना दण्ड दिया जावे, बिना विचार से दिया गया दण्ड सारे देश, धन, पुत्र आदि का नाश कर देता है।[27]

धर्म के क्रियान्वयन का आधार दण्ड है अर्थात् दण्ड के कारण ही धर्म की सत्ता विद्यमान रह सकती है। दण्ड ही सम्प्रभु शक्ति है। मनुस्मृति में धर्म और राज्य को परस्पर निर्भर माना गया है। राज्य का अस्तित्त्व ही धर्म के प्रवर्तन के लिए है। अतः राज्य धर्म पर निर्भर है। राज्य के संस्थागत माध्यम के बिना धर्म का सुरक्षित रहना संभव नहीं है अतः धर्म राज्य पर निर्भर है। धर्म के नैतिक बल को व्यवहार में लागू करने के लिए किसी भौतिक शक्ति की आवश्यकता होती है। दण्ड ऐसी भौतिक शक्ति है जो धर्म को बाध्यकारी रूप में प्रवर्तित कर सकती है। राज्य इस बाध्यकारी बल के प्रयोग के लिए अधिकृत है किन्तु राज्य इस दण्ड शक्ति का स्वामी न होकर अभिकर्ता मात्र है जो कि धर्म के सिद्धान्तों और विधि की प्रक्रिया के अधीन रहते हुए निश्चित प्रयोजन के लिए दण्ड का उपयोग करता है। राज्य द्वारा धर्म के विरुद्ध दिया गया दण्ड लोक में राजा की अपकीर्ति और

परलोक में उसके नरक गमन का कारण बनता है। दण्ड का दुरूपयोग करने पर यह दण्ड ही राजा को नष्ट कर देता है अर्थात् राजा स्वयं भी दण्ड की सम्प्रभु शक्ति के अधीन है।[28]

मनुस्मृति में मानव जीवन के समस्त पक्षों में सम्यक् कर्तव्यों के निर्वाह और कर्तव्यों के अनुपालन को धर्म की परिधि में शामिल किया है। धर्म के पारलौकिक महत्त्व पर अधिक बल दिया गया है। मनुष्यों के संसारिक आचरण को धर्म के अनुरूप नियमित करना उनके पारलौकिक कल्याण को सुनिश्चित करता है। व्यक्ति यदि अपने लौकिक आचारण को धर्म के अनुकूल संचालित करता है तो वह जीवन के अन्तिम पुरुषार्थ 'मोक्ष' को प्राप्त कर सकता है। परलोक में सिर्फ धर्म ही एकमात्र सहायक के रूप में व्यक्ति के साथ रहता है, अतः मनुष्य को आजीवन धर्म का संचय करते रहना चाहिए।

मनुस्मृति में प्रजा की रक्षा करना बार–बार राजा का धर्म बताया गया है। इसमें आत्मिक लाभ व आत्मिक दण्ड का विधान है। इस बात का और अधिक प्रयत्न करने में जिसमें राजा को अपने धर्म और अधिक अच्छी तरह समझ में आ जाए प्राचीन ग्रन्थकारों ने यह कल्पना की है कि प्रजा के पाप–पुण्य का भागी राजा भी होता है। इससे भी अधिक महत्त्व पूर्ण और ध्यान देने योग्य बात यह है कि राजा जो 'कर' लेता है उसके साथ प्रजा की रक्षा करने का संबंध जोड़ दिया गया है, जिसका अर्थ होता है कि प्रजा द्वारा कर देने के साथ ही प्रजा की रक्षा करना राजा का धर्म हो जाता है। मनुस्मृति में प्रजा रक्षा के सिद्धान्त पर इतना जोर दिया गया है कि यदि शासक इस धर्म पालन में अयोग्य सिद्ध हो, सिर्फ भारस्वरूप प्रतीत हो तो प्रजा को चाहिए कि वह ऐसे शासक को अलग करके दूसरे योग्य शासक को स्वीकार करे।[29]

मनु ने राजा की शक्ति एवं दायित्वों का उत्तरोत्तर विकास किया है। फलतः मनुस्मृति में राजा को व्यापक शक्ति एवं दायित्व प्राप्त है, लेकिन वह सदैव समाज एवं विधि से शासित एवं उसके प्रति उत्तरदायी है। कहीं भी उसे निरंकुश अबाध अधिकार नहीं मिले हैं। मनु ने उसी राजा को आदर्श माना है जिसका उद्देश्य ही समाज एवं व्यक्ति की सेवा करना हो। मनु ने निःसंदेह यह कहा है कि जनता

राजा को गद्दी से उतार सकती है यदि वह अपनी मूर्खता से प्रजा को सताता है।[30]

राजा का धर्म है कि वह सामान्य सन्धि, विग्रह, कोष, पुर, राष्ट्र, अन्न, सुवर्ण आदि की उत्पत्ति का स्थान तथा अपने देश की रक्षा और मिले धन को सत्पात्रों को देने संबंधी बातों में सलाह के लिए वंश परम्परागत शास्त्रों को जानने वाले शूर, शस्त्रविद्या में निपुण, कुलीन और परीक्षित सात या आठ मन्त्रियों को नियुक्त करे। मन्त्रियों को उनकी योग्यतानुसार विभाग सौंपे जाने चाहिए। शूर, दक्ष, कुलीन सदस्य को वित्त विभाग, भीरू को अन्तरनिवेश भाग और सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता मनोवैज्ञानिक, अन्तःकरण से शुद्ध, चतुर और कुलीन व्यक्ति को सन्धि, विग्रह विभाग का अधिष्ठाता बनाया जाना चाहिए।[31]

देश की सुरक्षा के सम्बन्ध में राजा का धर्म है कि वह दो, तीन, पाँच या सौ गाँवों के बीच अपना थाना नियत करे जिसमें चौकीदार या दरोगा हों। प्रत्येक गाँव में एक अधिपति और फिर दस, बीस, सौ और हजार गाँवों का भी अधिपति नियुक्त करें। प्रत्येक नगर में कार्यों की देखभाल के लिए कार्य दृष्टा नियुक्त करें। रक्षा के लिए नियत सेवकों पर निगरानी रखें। इनसे प्रजा की जान–माल की रक्षा करें व उन्हें रिश्वत लेने पर दण्डित करें।[32]

ग्राम पंचायत ग्राम में समस्त निर्णय करेगी ग्रामवासी को पंचायत के आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य होंगे। वो धर्म से बँधे हुए हैं, उन्हें बैठकों में बोलने का कोई अधिकार नहीं है।[33]

प्रजापालन राजा को युद्ध के लिए शत्रु राजा की चुनौती को कभी अस्वीकार नहीं करना चाहिए। राजा सदा सेना को शिक्षा दे, सर्वथा पुरुषार्थ दिखाये, सब कार्यों को गुप्त रखे और सदा शत्रुओं के छिद्रों को खोजता रहे। राजा को अपने मन्त्रियों से निष्कपट व्यवहार करना चाहिए, प्रत्येक पृथक–पृथक मत जानना चाहिए। राजा बगुले की भाँति धन की चिन्ता करें, सिंह की भाँति पराक्रम दिखाये, भेड़िये की भाँति शत्रु का नाश करे और शशक की भाँति भाग जाए। राजा को शत्रुओं का नाश करके देश की रक्षा करनी चाहिए। देश के सुरक्षित होने से राजा सुखी होता है।[34]

मनुस्मृति में सत्ता का विकेन्द्रीकरण भली–भाँति परिलक्षित होता है। शासन की सुविधा के लिए भिन्न–भिन्न प्रशासकीय विभाग थे और प्रत्येक का एक केन्द्रीय अध्यक्ष होता था। प्रत्येक अध्यक्ष के नीचे शासन की अन्य इकाईयों में अनेक कर्मचारी थे, जो क्रमशः अपने से उच्च अधिकारी के प्रति उत्तरदायी होते थे। मनुस्मृति में शासन की तीनों शक्तियाँ व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका विकेन्द्रित हैं। व्यवस्थापन का अधिकार न तो किसी संस्था को ही प्राप्त है और न किसी व्यक्ति को। शास्त्रों में कहे गये और परम्परागत विधियों का पालन कराने का राजा माध्यम मात्र था। वह इसमें परिवर्तन नहीं कर सकता था। परम्पराओं में परिवर्तन हो सकता था किन्तु वह भी राजा के द्वारा नहीं वरन् समाज के द्वारा धीरे–धीरे अज्ञात रूप से। कार्यपालिका और न्यायपालिका की शक्तियाँ भी विभाजित थी। राजा इनका प्रधान होने के नाते केवल निरीक्षण का अधिकार रखता था। मनु ने केन्द्र में सात या आठ मन्त्रियों का उल्लेख किया है जो एक–एक विभाग के प्रधान होते थे। धर्मवक्ता न्याय विभाग और राज्य के सबसे बड़े न्यायालय का प्रधान होता था। इसके नीचे शासन की अन्य इकाईयों में भी विभागीय कर्मचारी रहते थे, जो ऊपर के अधिकारी के प्रति उत्तरदायी होते हुए नीचे के कर्मचारियों पर निरीक्षण का अधिकार रखते थे। मनुस्मृति में स्पष्ट रूप से उल्लेख है जहाँ नीचे से लेकर ऊपर तक प्रशासन का जाल बिछा हुआ है।[35]

हिन्दू संविधान के कानून व सिद्धान्त के अनुसार राजा अपनी मन्त्रिपरिषद की सहमति और सहयोग के बिना कार्य नहीं कर सकता। इस व्यवस्था के लिए विधि सूत्र, कानून की किताब एवं राजनीतिक सन्धियों में सभी एकमत हैं। ऐसा राजा मूर्ख है जो स्वयं प्रशासन चलाने की कोशिश करे, मनु उस राजा को अयोग्य मानते हैं। राजा के सहयोगी, जो कि मन्त्री हैं, उन्हें आवश्यक रूप से होना ही चाहिए। राजा को मन्त्रियों के मध्य साधारण और महत्त्वपूर्ण मुद्दों के सम्बन्ध में चर्चा करनी चाहिए। राजा को अकेले साधारण विषयों पर भी निर्णय लेने का अधिकार नहीं है।[36]

मनु ने राज्य के सात अंग बताये हैं। इन्हें सप्त प्रकृतियाँ या सप्तांग कहा गया है– 1–स्वामी (राजा), 2–अमात्य (मन्त्री), 3–पुर (राजधानी), 4– राष्ट्र (भूमि एवं जनसंख्या), 5– कोष, 6– दण्ड (सैन्य बल) तथा 7– मित्र।

स्वामी (राजा) और अमात्य (मन्त्री) अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक महत्त्व पूर्ण हो सकते हैं किन्तु अन्य पाँचों अंग भी अपरिहार्य हैं क्योंकि एक अंग का कार्य कोई दूसरा नहीं कर सकता। सप्तांग में से यदि एक भी अंग हटा दिया जावे तो पूरी राजनीतिक व्यवस्था चरमरा जायेगी जैसे कि तीन लकड़ियों में से एक को हटाने पर ढ़ाँचा गिर जायेगा।[37]

संन्यासी के तीन दण्डों के समान मिले हुए सप्तांग राज्य में आपस के गुणों की विशेषता के कारण कोई किसी से बढ़कर नहीं है, जिस–जिस कार्य में जो–जो अंग श्रेष्ठ होता है और उस अंग से जो कार्य पूरा होता है, उस कार्य में वहीं अंग श्रेष्ठ होता है।[38]

मनुस्मृति राजा को प्रशासनिक आदेशों को लागू करने की शक्ति प्रदान करती है, जिनकी पालना प्रजा द्वारा की जायेगी।[39]

शिष्टों का प्रतिपालन और दुष्टों का दमन करने के लिए वह राजा जो नियम नियत करे उनका उल्लंघन नहीं करना चाहिए।[40]

मेधातिथि ने मनु के वक्तव्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि राजा के आदेश शास्त्र और परम्पराओं के अनुकूल होने चाहिए।[41]

राजा का धर्म है कि पिता के तुल्य प्रजा का पालन करे। राज्य की रक्षा करे, शत्रुओं को नष्ट करे, न्यायी हो और दुष्टों का दमने करे तथा उन्हें कठोर दण्ड दे। राजा को उचित कर ही वसूल करने चाहिए, परन्तु आपत्तिकाल में करों को बढ़ाया जा सकता है। राजा शासन का अध्यक्ष है, प्रायः सभी कार्यों में वह मन्त्रियों तथा अन्य उच्च अधिकारियों से परामर्श करे और अधिकारियों के कार्यों का स्वयं निरीक्षण करें क्योंकि निरीक्षण प्रशासन–तन्त्र की आधारशिला है। राजा को सभी प्रकार के सरकारी अधिकारियों में से भ्रष्टाचार का मूलोच्छेद करना चाहिए। भ्रष्ट अधिकारियों की सम्पत्ति जब्त करके राजा उन्हें राज्य से निकाल दे। जो अधिकारी अपने कर्तव्यों का ठीक से पालन न करें उन्हें जुर्माने का दण्ड देना चाहिए। इस प्रकार सरकारी अधिकारी प्रजा की लूट–खसोट नहीं कर सकते थे।[42]

शासन का मुख्य ध्येय धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति में साधक होना है, अतएव शासन के अध्यक्ष राजा का धर्म है कि वह मन्त्रियों के परामर्श से उद्देश्य प्राप्ति के लिए सदा प्रसन्नरत रहे। राजा को पहाड़ पर (शून्य) महल के ऊपर, निर्जन स्थानों में अथवा जंगल में मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करनी चाहिए। जिस राजा के मंत्र को अन्य लोग नहीं जान पाते निर्धन होते हुए भी वह राजा पृथ्वी को भोगता है। मूर्ख, गूंगे, बहरे, बहुत बूढ़े, शुक आदि पक्षी, मलेच्छ, रोगी और विकलांग इनको राजा मन्त्रणा के समय हटवा दें क्योंकि ये मन्त्र का भेद खोल देते हैं। वर्तमान में भी मन्त्रिमण्डल को अपने पद एवं कार्यों की गोपनीयता की शपथ लेनी होती है।

मनु ने राजा का धर्म बताया है कि वह मन्त्रियों में अधिक धर्मात्मा और बुद्धिमान ब्राह्मण के साथ षड्गुण्य युक्त परम मन्त्र (सलाह) करे। युद्ध तथा शान्ति, आय, पुलिस, सार्वजनिक निर्माण कार्य आदि विभिन्न विभागों के विभिन्न मन्त्री नियुक्त करे। राजा का धर्म है कि शासन की नीति को कार्यरूप देने तथा अनेक कार्यों को संचालित करने के लिए अधिकारियों की नियुक्ति करे जो ईमानदार, चरित्रवान, बुद्धिमान, अनुभवी और अनेक कार्यों में कुशल हों।

राजा को जंगल देश में रहना चाहिए जो धान्य से पूर्ण हो, जिसमें धार्मिक रहते हों, रोग आदि से रहित हो, रमणीय हो, जिसके आस–पास के वासी अपने से दबते हों और जिसमें अच्छी जीविका हो। वहाँ धनदुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, नृदुर्ग और गिरीदुर्ग इन किलों को बनाकर राजा पुर (राजधानी) में निवास करे। अनेक गुणों से युक्त पर्वत दुर्ग ही श्रेष्ठ है, राजा को उसी का आश्रय लेना चाहिए।

मनु ने प्रशासनिक व्यवस्था का केन्द्र राजा को माना है। शासन के विशिष्ट विभागों के सर्वोच्च अधिकारी को अध्यक्ष की संज्ञा दी है। राजा का कर्तव्य है कि वह राजकार्य को सुचारू रूप से चलाये जाने के लिए आवश्यक संख्या में अध्यक्षों की नियुक्ति करे। प्रशासकीय अंगों में विद्वान व्यक्तियों की एक सभा भी होनी चाहिए। इसे मनु ने 'परिषद' की संज्ञा दी है और परिषद के सदस्यों में उन व्यक्तियों को शामिल किया गया है जो वेदों के ज्ञाता हों। इन व्यक्तियों का दायित्व

राज्य में कानून निर्माण व नीति सम्बन्धी कार्यों में भाग लेना है। शासन का एक महत्त्व पूर्ण अंग सेना है जो सेनापति के अधीन है। इनके अतिरिक्त शुद्ध चरित्र, कुलीन, अच्छी स्मरण शक्ति वाले, भाव–भंगिमाओं को जानने वाले तथा देशकाल को जानने वाले व्यक्तियों को दूत का पद प्रदान किया जाना चाहिए। दण्ड सेनापति के अधीन, विनय दण्ड के अधीन, कोष और देश राजा के अधीन और सन्धि–विग्रह दूत के अधीन होते हैं।[43]

राजपद के महत्त्व और उसकी सुदृढ़ नीति दण्ड के सम्बन्ध में मनु ने विस्तार से विवेचन किया है किन्तु उसका मानना है कि राजा को सभी व्यक्तियों के साथ पिता की तरह व्यवहार करना चाहिए। जब वह समुदाय के आर्थिक जीवन को राजा द्वारा संचालित मानता है तब संभवतः व्यावहारिकता की बात करता है। राजा को व्यापारियों, धोखाधड़ी करने वालों पर निगाह और नियंत्रण रखना चाहिए। उसे सभी सामानों की कीमतें निर्धारित कर देनी चाहिए व हर छः महीने में उसकी नाप–तौल के बारे में जाँच करवाते रहना चाहिए। जो चिकित्सक और पशु चिकित्सक मरीजों के साथ अनुचित व्यवहार करें उन्हें दण्डित किया जाना चाहिए। खान, कारखाने, भण्डार, राजस्व आदि की व्यवस्था भी राजा को देखनी चाहिए।[44]

राजकार्य करने वाले राजकर्मियों का वेतन उनके पद और कार्य के अनुसार निश्चित करना राजा का धर्म है। राजा को जिसमें वह स्वयं और कृषि आदि कार्यों के करने वाले अपने–अपने कर्मों का फल पा सकें, ऐसा विचार कर देश में से सालाना कर लेना चाहिए। अधिक कर लेने से प्रजा का तथा न लेने से अपनी मूल का नाश होता है। राजा को उद्योगी और सावधान होकर, योग्य कार्य करते हुए प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। मन्त्रियों सहित या अकेले धर्म, अर्थ, काम की चिन्ता करनी चाहिए।[45]

जिस प्रकार जौंक, बछड़ा और मधुमक्खी थोड़े–थोड़े अपने–अपने खाद्य क्रमशः रक्त, दूध और मधु से ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार राजा को प्रजा से थोड़ा–थोड़ा वार्षिक ग्रहण करना चाहिए। राजा का धर्म है कि सदैव कोष में वृद्धि का प्रयास करता रहे। कोष राज्य का प्राण है। कोष में वृद्धि प्रजा पर उचित कर

आरोपित कर की जा सकती है। ये कर इस प्रकार लगाये जाने चाहिए जिससे प्रजा को भी कष्ट न हो तथा कोष में भी समुचित मात्रा में वृद्धि हो। राजा को प्रजा पर कर लगाने का अधिकार है क्योंकि राजा इस धन से प्रजा के दैविक और भौतिक तापों को दूर करता है। अगर राजा प्रजा की रक्षा न करे तो प्रजा को विद्रोह का अधिकार है। मुत्यु के बाद भी ऐसा राजा नरकगामी होता है, अतः प्रजारक्षण के लिए राजा को कर लगाने का अधिकार है।

राजा का धर्म है प्रजा को सुखी और समृद्ध बनाये, इस हेतु जनकल्याणकारी योजनाऐं बनाए। अतः इसके लिए धन की आवश्यकता होगी और यह धन प्रजा से कर के रूप में प्राप्त होगा। मनु कर व्यवस्था को मानवीय बनाने के पक्ष में है यदि राजा आवश्यता से अधिक और अनुचित विधि से कर संग्रह करेगा एवं कर के रूप में प्राप्त धनराशि का उपयोग प्रजारक्षण में नहीं करेगा तो ऐसा राजा शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा।

राजा कर न लेने से अपनी मूल और अतितृष्णा से बहुत कर लेने से प्रजा की मूल नष्ट न करे, क्योंकि अपनी जड़ के नाश से अपने को और प्रजा की जड़ उखाडने से प्रजा को पीड़ा होती है। कार्य को देखकर राजा को कोमल और कठोर होना चाहिए, क्योंकि कर्म के अनुसार कोमल और कठोर राजा सबको प्रिय लगता है।[46]

राजा का धर्म है कि वह राज्य को धन–धान्य से पूर्ण बनाये और उस वृद्धि का प्रजा में न्यायोचित वितरण करे। जनता पर करों का भार न हो इसलिए राजा को सोने का 1/50 अनाज का 1/6 आर वाणिज्य का 1/12 भाग ही लेना चाहिए। मनु सम्पन्नता के लिए स्वतन्त्रता देने के पक्षधर हैं, लेकिन असामाजिक तत्त्वों के दमन की अनुशंषा भी करते हैं।[47]

राज्य की वृद्धि का मुख्य आधार ''अर्थ'' है अर्थात् धन। राजा के ऊपर ही राज्य तथा प्रजा के रक्षण का दायित्व होता है। इसके लिए राजा को अर्थ की आवश्यकता होती है, तदर्थ ही राजा को आर्थिक अधिकार दिये गये हैं। राजा का धर्म है कि आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रजा से विभिन्न प्रकार के कर ग्रहण करें। राजा का धर्म है कि नाप–तौल के बटखटे का निरीक्षण होना चाहिए, जिससे वस्तु

की नाप में कोई कमी न आ जाए। बटखटों पर राजा की मुहरें होनी चाहिए, प्रत्येक छः माह में उनकी जाँच होना चाहिए, जिससे गृहस्थों को धोखा न दिया जा सके। नाव से पार उतारने में, खाली गाड़ी आदि पर एक पण महसूल, एक पुरुष के ढोने योग्य भार पर आधा पण, पशुओं तथा स्त्रियों को पार उतारने में एक चौथाई पण और बोझरहित मनुष्य से एक पण का आठवां भाग ले। चीजों के भरे छकड़ों के पार करने में, वस्तुओं के सार–असार के अनुसार महसूल देना होगा, परन्तु द्रव्यरहित शकट और दरिद्री लोगों से बहुत कम महसूल लिया जायेगा। दो महीने से अधिक की गर्भिणी स्त्री, संन्यासी, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी और ब्राह्मण के पार जाने में राजा किराया न ले। राजा का धर्म है कि अकाल के समय अपने कोष से प्रजा के लिए अन्नादि की व्यवस्था करे।[48]

राजकोष में वृद्धि हेतु मनु ने करारोपण को आवश्यक माना है, ये राजा का आवश्यक कर्तव्य है। राज्य की सुदृढ़ता, समृद्धि तथा प्रजा की सुरक्षा एवं सुख–सुविद्या हेतु राज्य के पास पर्याप्त राजकोष होना आवश्यक है, लेकिन शासक द्वारा राजकोष में वृद्धि उचित एवं न्यायपूर्ण तरीकों से की जानी चाहिए तथा अनुचित एवं अन्यायपूर्ण तरीके नहीं अपनाये जाने चाहिए। राजा का धर्म है कि वह प्रजा पर करों का अनावश्यक बोझ न डाले तथा उतनी ही मात्रा में कर प्राप्त करे जो कि प्रजा आसानी से दे सके। कोषवृद्धि के लिए तट कर, नदी पर पुल के रख–रखाव हेतु कर, खरीद–बिक्री पर कर, आय–कर तथा राज्य में व्यापारियों द्वारा किये जाने वाले व्यापार पर कर लगाये जाने चाहिए। स्मृतियों में विद्वान ब्राह्मणों के ऊपर कर न लगाने की अनुशंषा की गई है।[49]

राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा से न्यायपूर्ण तरीके से ही वार्षिक कर प्राप्त करे। करों की प्राप्ति इस हेतु नियुक्त अधिकारी के माध्यम से की जानी चाहिए लेकिन राजा आपत्तिकाल में भी वेद्पाठी ब्राह्मणों से कर प्राप्त न करे। अधिक लाभ के प्रलोभन में किसी भी परिस्थिति में प्रजा पर करों का अधिक भार नहीं डाला जाना चाहिए। राजा को प्रजा से सोच–विचार कर ही कर ग्रहण करना चाहिए। कार्य को देखकर राजा को कोमल और कठोर होना चाहिए, क्योंकि कर्म के अनुसार कोमल और कठोर राजा सबको प्रिय लगता है।

आपत्तिकाल में राजा प्रजा से निर्धारित शुल्क से अधिक कर ले सकता है, क्योंकि आपत्तिकाल में चौथा भाग कर रूप में लेना चाहिए ऐसा करने से राजा पर किसी प्रकार का कोई पाप नहीं लगता है।

वही राजा कर ग्रहण करने का अधिकारी होता है, जो प्रजा की रक्षा करता है और जो राजा प्रजा की चोर आदि से रक्षा नहीं करता हुआ उनसे कर ग्रहण करता है, उसकी प्रजा उससे रुष्ट हो जाती है। वह राजा स्वर्ग प्राप्ति का अधिकारी नहीं होता है। जो राजा अनुचित रूप से प्रजा को अनुचित दण्ड देकर धन ग्रहण करता है वह अधोगति को प्राप्त होता है।

राजा प्रजा की रक्षा करता है तथा राज्य की व्यवस्था को उन्नत करता है। इसके लिए राजा को धन की आवश्यकता पड़ती है। अतः राजा प्रजा से कर लेता है। मनु ने राजा को सूर्यव्रत की संज्ञा प्रदान की है कि जिस प्रकार सूर्य अगह्न आदि आठ मासों में किरणों द्वारा जल का हरण करता है, उसी प्रकार राजा राज्य से कर को प्राप्त करे अर्थात् सूर्य जिस भाँति जलग्रहण कर वर्षा के रूप में उसे लौटा देता है, उसी प्रकार जिस धन को कर के रूप में प्रजा से ग्रहण करता है उसे पुनः प्रजा के रक्षण में ही लगा देता है।[50]

राजा का धर्म है कि वह विभिन्न प्रकार के मुकदमों को सुने और निष्पक्ष होकर मनुष्य के कर्तव्यों का निर्णय करे। नाबालिग के धन व सामान की रक्षा उसके बालिग होने तक करे। बाँझ, पुत्रहीन, कुलहीन, पतिव्रता, विधवा और रोगिणी स्त्रियों के धन की रक्षा करे। स्त्रियों के धन को हरण करने वालों को कठोर दण्ड दे। **धर्मात्मा राजा जाति और देश के धर्मों को वैश्य आदि के धर्मों को और कुल धर्मों को देखकर अपने धर्म की व्यवस्था करे।** मुकदमों के निर्णय के समय राजा सत्य, धन, अपनी आत्मा, साक्षी, देश, रूप और काल का ध्यान रखे। मिथ्या साक्षी (गवाही) देने वालों को कठोर दण्ड दे। विवादयुक्त ग्रामों की सीमाओं का निर्धारण करे, वस्तुओं के आने–जाने, रखने के समय, वृद्धि और हानि इनका निश्चय करके राजा अपने काम, क्रोध को रोककर धर्म का अनुसरण करता है, उसी का प्रजा अनुसरण करती है।

राजा का महत्वपूर्ण धर्म है – न्यायपूर्वक दण्ड देना तथा दण्ड देकर पथ से विचलित लोगों को पुनः पथ पर लाना किन्तु न्यायपालिका का संचालन अकेले और अपनी इच्छा से नहीं कर सकता था। राजा का न्याय सभा में ब्राह्मण, मन्त्री और पुरोहित को साथ रखना अत्यावश्यक था। राजा का वस्त्र विन्यास व हाव–भाव भी न्यायाधीश की गरिमापूर्ण स्थिति के अनुरूप होने चाहिए, सादे वेष–आभूषण पहने राजा वहाँ बैठकर व खड़ा होकर दाहिने हाथ को उठाकर मुकदमों के कार्यों को देखे।

न्याय व्यवस्था के संचालन में इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता था कि जो अदण्ड्य हैं, वे दण्डित और जो दण्ड्य हैं, वे मुक्त न हो जायें। इसका पूर्ण उत्तरदायित्व राजा पर ही होता था। अन्यायपूर्वक दण्ड देने से इस लोक में यश और कीर्ति का नाश होता है।

निरपराध व्यक्तियों को दण्ड देने पर राजा को नरक का भय ही नहीं अपितु जनता को भी राजा के प्रति विद्रोह करने का अधिकार दिया गया था। न्याय करने में राजा को अपने सहायकों से परामर्श अवश्य लेना पड़ता था। सामान्य नागरिक जिस अपराध में जो दण्ड पाता था राजा उसी में कई गुणा दण्ड पाता था। राज्य में किसी प्रकार की अव्यवस्था न हो इसका उत्तरदायित्व राजा पर ही था। राजा या राजकर्मचारी कोई विवाद प्रारम्भ नहीं कर सकते थे।

मनु ने न्यायाधीश के लिए धर्मवक्ता का प्रयोग किया है। मुख्य न्यायाधीश पद के लिए मनु ने ब्राह्मण की नियुक्ति का आदेश दिया है एवं ब्राह्मण उसे ही माना है, जो वेदों की विद्या में पारंगत हो। राजा न्यायिक प्रक्रिया का सर्वोच्च अधिकारी होते हुए भी सभी निर्णय न्यायाधीशों की सहायता और सहमति से ही करता था। राजा यदि अन्य महत्वपूर्ण कार्यों में व्यस्त हो और न्याय प्रदान करने के लिए उसकी उपस्थिति संभव न हो तो राजा विद्वान ब्राह्मण एवं उसकी सहायता के लिए तीन सभ्य व्यक्तियों को इस कार्य के लिए नियुक्त करे। मनु ने न्यायाधीश पद के लिए वर्ण की गुणात्मक महत्ता को स्वीकारा और कहा कि जो शूद्र धर्म ज्ञान में पारंगत हो, उसे एक साधारण ब्राह्मण की तुलना में भी राजा न्यायाधीश न बनावें।[51]

जिस प्रकार राजा को धर्म का विशिष्ट ध्यान रखना आवश्यक है, उसी प्रकार न्यायाधीशों को भी धर्म का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा वे दोषी ठहराए जायेंगे। न्यायाधीशों के लिए मनु ने सत्य बोलना आवश्यक बताया है और सत्य न बोलने पर पर महापापी कहकर पुकारा है। न्यायाधीश विधि निर्णय के साथ समाज का विधीय नेतृत्व भी करते थे।[52]

राजा का धर्म है कि वह यह देखे कि न्याय व्यवस्था ठीक प्रकार से चल रही है या नहीं। राजा को न्याय व्यवस्था के प्रति उदासीन नहीं होना चाहिए। मनुस्मृति में न्याय व्यवस्था का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए 18 प्रकार के अपराधों का उल्लेख किया गया है – (1) ऋण लेकर वापस न करना (2) किसी की धरोहर को वापिस न करना (3) किसी दूसरे की वस्तु को बेच देना (4) साझे के व्यापार में बेईमानी करना (5) अनुबन्ध को तोड़ देना (6) क्रय–विक्रय में बेईमानी करना (7) नौकर को वेतन न देना (8) पशुस्वामी तथा पशुपालक का विवाद (9) सीमा सम्बन्धी विवाद (10) कठोर वार्ता का विवाद (11) मारपीट (12) स्वामी पुरुष के धर्म की व्यवस्था (13) चोरी (14) बलपूर्वक धन का अपहरण (15) पर–स्त्री सम्बन्धी विवाद (16) स्त्री–पुरुष धर्म (17) धन का भाग (18) जुआ और पशुओं की लड़ाई में हार–जीत के दाव सम्बन्धी विवाद।[53]

राजा का धर्म है कि उक्त अपराधों का वर्गीकरण कर, उनका नियमन भी करे। यदि किसी कारणवश इस कार्य को न कर पाये तो उसे चाहिए कि वह इस कार्य को विद्वानों की एक न्यायसभा को सौंप दे पर न्यायाधीशों को न्याय के समय धर्म का विशेष रूप से ध्यान रखने पर मनु ने जोर दिया हैं

मनु द्वारा राजा के ऊपर आर्थिक दण्ड का प्रावधान किया गया है। राजा की शक्तियाँ और कर्तव्य का पालन कानून का अभिन्न अंग हैं। मनुस्मृति के अनुसार राजा कानून से ऊपर नहीं है। राजा स्वयं नये कानूनों का निर्माण नहीं कर सकता।[54]

राजा का धर्म शास्त्र और प्रचलित प्रथाओं से अनुमोदित धर्म का पालन करना और कराना है, स्वयं या किसी राज्य संस्था द्वारा धर्म में परिवर्तन करने का उसे अधिकार नहीं है। धर्म और नीतिशास्त्र परमात्मा ने स्वयं रचे हैं और राजा का

कार्य उनके निर्देशों को कार्यान्वित करना है, वह अपने अधिकार से उनमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। विधिनियम या कानून धार्मिक और लौकिक दोनो श्रेणी के होते थे। सरकार या परम्परागत विधियों को बलात् बदलने की चेष्टा की होती तो उसका अधिक दिन टिकना असंभव हो जाता। पारम्परिक रिवाज भी धार्मिक नियमों की ही भाँति दिव्य समझे जाते थे। व्यवस्थापक सभा के आदेश से हठात् परिवर्तन से समाज में घोर दैवीय आपत्तियों के विक्षोभ की आशंका थी।[55]

मनुस्मृति हिन्दू कानून की सम्पूर्ण कट्टरपद्धति की आधारशिला है। हिन्दुओं के कानूनी ग्रन्थों में सबसे प्रसिद्ध मनु का धर्मशास्त्र है, जो आज भी करोड़ों हिन्दुओं के विचारों और जीवन को प्रभावित करता है। परम्परा के अनुसार हिन्दू तो मनु को प्रथम विधिवेत्ता मानते हैं और अन्य विधि संग्रहों के बीच मदभेद की दशा में मानव धर्म संहिता को प्राथमिकता दी जाती है। मनु के अनुसार धर्म (कानून) का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत वेद हैं, अन्य स्रोतों में स्मृतियाँ, वेदों में सज्जनों का आचार और स्वसंतोष आते हैं। राजा का धर्म है कि वह मन्त्री अथवा प्राड्विवाक द्वारा दिये गये गलत निर्णय का स्वयं फिर से अवलोकन करे।

मनु का राजा राजतन्त्र का द्योतक है। अतः राजा के पास प्रशासन सम्बन्धी अधिकारों के अतिरिक्त न्यायिक अधिकार भी होते हैं। दण्डित को दण्ड देना ही न्यायिक अधिकार होता है। मनु ने न्याय व्यवस्था को राजा का व्यक्तिगत कार्य माना है। राजा की न्याय व्यवस्था ही धर्म का हेतु है। जब शरीर में धर्म होता है तो शरीर को कष्ट पहुँचाने वाला अधर्म नामक बाण निकल जाता है। जब राजा न्याय एवं कर्तव्य का निष्ठा एवं लगन से प्रयोग करता है तब ही अपनी सर्वशक्ति का सफलतापूर्वक उपभोग कर सकता है। न्यायकक्ष में राजा दण्ड देने का अन्तिम अधिकारी होता है। अतः न्याय करना ही राजा का धर्म है।[56]

राजा का धर्म है कि वह न्यायिक शक्ति का प्रयोग करते समय क्रोध एवं मोह से परे रहे। धर्म, अर्थ एवं काम के मर्म को समझने वाला शासक सत्यनिष्ठ रहकर अपनी न्यायिक शक्ति का प्रयोग भलीभाँति विचार करके करता है तभी वह धर्म के प्रवर्तन के अपने दायित्व का पालन कर सकता है। न्यायनिष्ठ रीति से दण्ड का प्रवर्तन करके शासक प्रजा की शान्ति, सुरक्षा एवं जीवन के सार्थक

निर्वाह को सुनिश्चित करता है ताकि प्रजा के सदस्य त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ व काम) की साधना कर सकें। मनु ने न्यायिक कार्य में शासक को धर्म से शासित होने का परामर्श दिया है और धर्म के सार्वभौमिक लक्षणों के अतिरिक्त न्यायिक कार्यों में समाज की मान्य परम्पराओं को भी महत्व प्रदान किया है। राज्य के अध्यक्ष के रूप में शासक न्यायपालिका पर नियन्त्रण तो रख सकता है किन्तु ऐसा नियन्त्रण रखते हुए वह धर्म या विधिक अनुशासन का उल्लंघन नहीं कर सकता।

राजा का धर्म है कि धर्मपूर्वक कार्यों को अच्छी तरह करता हुआ अलब्ध देशों को पाने इच्छा करे और अपने अधीन देशों का पालन करे। सदाचारी लोगों की रक्षा करने और दुष्टों को दण्डित करने वाले प्रजापालक राजा स्वर्ग में जाते हैं। जब राजा अपने राज्य को समृद्ध और सेना को बलवान देखे और शत्रु की स्थिति इसके विपरीत देखें तब वह उस पर बेहिचक आक्रमण कर सकता है।[57]

मनुस्मृति व अन्य स्मृतियों में भी इसी प्रकार के विचार मिलते हैं, जो कि अकारण परपीड़क युद्ध का समर्थन करने के कारण आश्चर्यजनक प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तविकता यही है कि सारे संसार में जो भी राज्य बलवान और विस्तृत बने वे अपने से दुर्बल राज्यों को दबा कर ही। स्मृतिकारों को ऐसी नीति के समर्थन के लिए दोष देना उचित नहीं जो आज भी अन्तर्राष्ट्रीय जगत में प्रतिष्ठित हैं। यह समझ लेना भूल होगी कि राज्य के भीतर शान्ति का प्रतिपादन करने वाले प्राचीन भारतीय मनीषी विभिन्न राज्यों में परस्पर शान्ति स्थापित करने के लिए उदासीन रहे। लगभग सभी ने महत्वाकांक्षी राजाओं को यथासम्भव युद्ध से दूर रहने और शान्तिमय उपायों से ही अभीष्ट सिद्ध का यत्न करने का उपदेश दिया है। उनका कथन है कि अधर्म और अन्यायपूर्वक युद्ध करने से इस लोक में तो नाश होता ही है, परलोक भी मारा जाता है। प्राचीन भारत में बिना विचार के ही प्रायः युद्ध नहीं छेड़ दिये जाते थे। युद्ध की सम्भावना यथासम्भव कम करने के लिए 'मण्डल' बनाकर उनमें शक्ति सन्तुलन कायम रखने की व्यवस्था की थी।[58]

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बनाये रखने के सम्बन्ध में राजा का धर्म है कि

''मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम्।
उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः।।''

अर्थात् वह मध्यम[I] का प्रचार, विजिगीषु[II] की चेष्टा, उदासीन[III] और शत्रु दोनों का प्रचार इनकी चिन्ता बड़े यत्न से करे।[59]

मेधातिथि के अनुसार मनु ने राजा के अष्टविधि कर्म – (1) नहीं किये कार्य का आरम्भ, (2) आरम्भ किये कार्य की समाप्ति, (3) किये हुए कर्म के भेद (4) कर्म के फलों का संग्रह (5) साम (6) दाम (7) दण्ड (8) भेद हैं, अतः राजा को इनकी तथा पाँच प्रकार के दूतों (1) कापटिक[I], (2) उदास्थित[II], (3) कृषक[III], (4) वाणिजक[IV], (5) तापस व्यंजक[V] अनुराग, विराग और मण्डल का प्रचार इनकी चिन्ता राजा को यथार्थरूप से करनी चाहिए।[60]

राजमण्डल की आठ अन्य प्रकृतियाँ भी हैं। 'मण्डल' नीति सन्तुलन के सिद्धान्त पर ही आधारित है। प्राचीन भारतीय विचारक जानते थे कि युद्ध का एकदम त्याग कर देना सम्भव नहीं, अतः युद्ध की सम्भावना यथासम्भव कम करने के लिए उन्होंने विधिक राज्यों के मण्डल बनाकर उसमें शक्ति सन्तुलन कायम करने की व्यवस्था की थी। भारत में प्राचीनकाल में प्राय एक विजिगीषु या साम्राज्य संस्थापना चाहने वाला बलिष्ठ राजा रहता था व उसके पड़ौस में दूसरे छोटे–छोटे राजा रहते थे, जो स्वतन्त्रता कायम रखने का प्रयत्न करते थे। इसी कारण मण्डल सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया। आजकल यद्यपि संयुक्त राज्य संघ की स्थापना हो चुकी है तथापि वैसी ही परिस्थिति है। प्राचीन भारत में बिना विचार के ही प्रायः युद्ध नहीं छेड़ दिये जाते थे।

राजमण्डल की 4 मूल प्रकृतियों के साथ 8 प्रकृतियाँ – मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र, अरिमित्रमित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार और आक्रान्दासार हैं, इसलिए सब बारह प्रकृतियाँ हैं, इनके साथ भी राजा को समुचित व्यवहार करना चाहिए। सन्धि[I], विग्रह[II], यान[III], आसन[IV], द्वैधीभाव[V] और संश्रय[VI] इन गुणों की राजा को सदा चिन्ता करनी चाहिए।[61]

राजा को अपने धर्म का पालन ऐसी उत्तम रीति से करना चाहिए कि मित्र, उदासीन, शत्रु कोई भी उसे पीड़ित न कर सके, संक्षेप में यही राजनीति है। युद्ध के सम्बन्ध में राजा का धर्म है कि वह पहले साम, दाम, भेद उपायों से ही शत्रु को जीतने का प्रयत्न करे, युद्ध की पहल न करे, परन्तु तीनों उपायों से किसी

प्रकार जय की सम्भावना न हो तो तब सब प्रकार से तैयार होकर ऐसा धर्मयुद्ध करे कि शत्रु को जीत ले। जीतने पर विजित देशवासियों के धर्म के अनुकूल शास्त्रोक्त आचारों को प्रचलित रखे। जब तक शरीर निरोग रहे तब तक राजा धर्मपूर्वक शासन करे, अस्वस्थ होने पर सारा राजकार्य मन्त्रियों को सौंप देना चाहिए।[62]

राज्य की वैदेशिक नीति के सुचारु संचालन के लिए मनुस्मृति में ही प्रथमतः 'राज्यमण्डल' का उल्लेख मिलता है। राजा का धर्म राज्यमण्डल को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप में लागू करना था, क्योंकि यही राज्य की वैदेशिक नीति का आधार होता था। मनुस्मृति में मण्डल के चार राज्यों मध्यस्थ, उदासीन, शत्रु और मित्र का उल्लेख किया गया है। ये चारों ही पड़ौसी राज्य, राज्यमण्डल की नींव हैं। राजनीतिक संस्थाओं में इनके अतिरिक्त आठ और मण्डल के अंग बताए गए हैं, इस प्रकार ये बारह हुए। इनके अतिरिक्त मंत्री, राज्य, दुर्ग, कोष और बल, पाँच प्रत्येक मण्डल के सहयोगी के रूप में स्वीकार किए गए हैं। इस प्रकार 72 (12 X 5 = 60 + 12 = 72) राज्यमण्डल के सहयोगी तत्व माने जाते हैं।[63]

विजिगीषु राजा को चाहिए कि वह शत्रु राजाओं से अलग–अलग या मिलकर साम, दाम, भेद, दण्ड आदि उपायों से, पुरुषार्थ और नीति से उन सबको अपने वश में करे। राजा को ऐसा यत्न करना चाहिए कि शत्रु अपने छिद्र को न जाने, परन्तु शत्रु के छिद्रों को आप जान सके। राजा कछुवे के समान अपने (राज्य सम्बन्धी) अंगों को गुप्त रखे और अपने छिद्र का संरक्षण करे। राजा का धर्म है कि वह विरोधियों को पहले साम, दाम, भेद तीनों उपायों से वश में रखे, अन्यथा दण्ड से ही बल प्रयोग द्वारा वश में करे।

शान्तिकाल में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बनाये रखने में राजा का धर्म है कि कूटनीतिक सम्बन्धों को बनाये रखे व पड़ौसी राज्यों में राजदूतों की नियुक्ति करे। राजदूत सब शास्त्रों का विद्वान, इंगित आकार और चेष्टा को जानने वाला, शुद्ध ह्रदय, चतुर तथा कुलीन होना चाहिए। राजदूत ही मित्रों को बनाने व बिगाड़ने वाला होता है। युद्ध तथा शान्ति की चाबियाँ उसके ही हाथ में रहती हैं। युद्ध से

डरकर न भागना राजा का 'धर्म' है। युद्ध करते हुए राजा विमुख न होकर मरने से स्वर्ग को जाता है। मनु धर्मयुद्ध का समर्थन करते हैं।[64]

राज्य के हित संवर्धन के लिए राजा को युद्ध करना चाहिए। राजा का धर्म है कि अनावश्यक युद्ध न करे। साम, दाम, भेद उपायों के विफल होने पर युद्ध को अन्तिम विकल्प के रूप में अपनाये। युद्ध के दो प्रकारों धर्मयुद्ध एवं कूटयुद्ध में से धर्मयुद्ध को ही प्राथमिकता दे एवं युद्ध के दौरान नैतिक नियमों का पालन करे। शत्रु को भली–भाँति सचेत करना, सोये हुए, अचेत, असावधान का वध न करना, समान सामर्थ्य वाले योद्धाओं से ही युद्ध करना, शस्त्ररहित, टूटे शस्त्र वाले अथवा कवच रहित योद्धा, पराजय स्वीकार करने वाले, भयभीत, शरणागत, युद्ध से विमुख रणभूमि से भागने वाले का वध न करना, दर्शक का वध न करना, अमानवीय पीड़ा देने वाले शस्त्रों का प्रयोग न करना, घातक, विष बुझे तथा अग्नि से प्रज्ज्वलित अग्रभाग वाले शस्त्रों का प्रयोग न करना राजा के धर्मयुद्ध सम्बन्धी कर्तव्य हैं। मनु युद्ध के सम्बन्ध में राजा का यह धर्म भी मानते हैं कि वह युद्ध में जीते गये धन में से प्रत्येक योद्धा को उसके पुरुषार्थ के अनुसार धन प्रदान करे।

पराजित राजा व राज्य के प्रति राजा का धर्म है कि वह पराजित राज्य के व्यक्तियों के साथ उदारता एवं सहिष्णुता का व्यवहार करे ताकि वे शासन में सहयोग प्रदान करें। पराजित राज्य के प्रशासन हेतु पूर्व शासक के वंश के ही किसी व्यक्ति को राजा के पद पर नियुक्त करना चाहिए। इस हेतु पराजित राजा के साथ कुछ शर्तों का निर्धारण कर लेना चाहिए। राजा पराजित राज्य के निवासियों के धार्मिक कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करे तथा नवनियुक्त राजा को रत्न एवं आभूषण देकर सम्मानित करे।[65]

हिन्दू परम्परा में मोक्ष का मार्ग मानव अस्तित्व के तीन प्रयोजनों का सन्तुलन है। ये तीन प्रयत्न हैं – धर्म (समाज व्यवस्था के नियम), अर्थ (समृद्धि) और काम (आनन्द)। इनमें से धर्म सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। धर्म का तात्पर्य है कि प्रत्येक मनुष्य अपने वर्ण के अनुसार अपेक्षित आचरण और कर्तव्य का निर्वाह करे। धर्म की संकल्पना को वर्णाश्रम धर्म के सिद्धान्त में पूर्णरूप से प्रतिपादित किया गया है। इसमें व्यक्ति के कर्तव्य की परिभाषा न केवल उसके वर्ण के अनुसार,

अपितु उसके जीवन के विभिन्न चरणों अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास के अनुरूप भी की गई है। कालान्तर में धर्म हिन्दू परम्परा का सबसे महत्वपूर्ण विचार बन गया और उसने हिन्दू समाज में व्यक्ति के स्थान के आधार का रूप ग्रहण कर लिया। धर्म का उचित पालन इस बात पर निर्भर था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने अपेक्षित कर्तव्य को स्वीकार करना चाहिए और तदनुसार आचरण करना चाहिए। धर्म के नियमों के अनुसार आचरण करने का मतलब यह था कि मनुष्य को जिस वर्ण में वह उत्पन्न हुआ है उस वर्ण के आधार पर और उस वर्ण के लिए धर्मग्रन्थकारों ने जो नियम बनाए हैं, उनके अनुसार समाज में अपनी स्थिति और भूमिका को स्वीकार करना चाहिए। कर्तव्यों का अर्थ दायित्व था और अधिकारों की अपेक्षा दायित्वों पर बहुत अधिक जोर था। धर्म व्यक्तिगत तथा सामाजिक सुरक्षा की आधारशिला है, क्योंकि नियमरहित प्राकृतिक अवस्था अराजकता का पर्याय है।[66]

मनु की धर्म की व्यापक अवधारणा नैतिक, पवित्र नियमों व स्वकर्तव्य पालन से सम्बद्ध है। मनु ने समाज व्यवस्था के सुचारू संचालन के लिए चार वर्ण और आश्रम की स्थापना की है और प्रत्येक वर्ण व आश्रम के 'धर्म' का निर्धारण किया है। ईश्वर प्रणीत वर्णाश्रम धर्म प्रजा से पालन करवाना राजा का कर्तव्य था।[67]

मनु ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति (सृष्टि की रक्षा के लिए) ब्रह्मा के मुख, बाहु, जंघा और चरणों से मानी है। ब्राह्मण को सभी वर्णों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। उसके छः धर्म पढ़ना–पढ़ाना, यज्ञ करना–कराना, दान देना व दान लेना है। क्षत्रिय का धर्म प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और विषयों में आसक्त न होना है। वैश्य का धर्म पशुओं की रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार, ब्याज और खेती करना आदि हैं तथा शूद्र का एक ही धर्म है, उक्त वर्णों की निष्कपट होकर सेवा करना।[68]

मनु ने ऋग्वेद में उद्धृत 5 वर्णों के बारे में कोई प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष चर्चा नहीं की है, न ही ब्रह्मा को ईश्वर के नवीन अवतार के रूप में प्रतिष्ठित किया है, न ही राजाओं को ब्राह्मणों के समान अधिकार प्रदान किये हैं, परन्तु ब्राह्मणों का वर्चस्व प्रत्येक काल में कायम रहेगा, इस बात पर जोर दिया है।

राजा का राज्य में सर्वोच्च पद होते हुए भी ब्राह्मणों ने राजा को गरिमापूर्ण स्थिति, प्रजा को दर्शन लाभ देने वाला, अपने दायित्वों का पालन करने वाला एक कठपुतली की तरह कार्यरत व्यक्तित्व के रूप में महिमा मण्डित किया है, उसे वास्तविक निर्णय लेने की शक्तियों से वंचित रखा है।[69]

एकाग्रमन होकर अध्ययन करना ही ब्राह्मण का तप है, क्षत्रिय के लिए तप है, निर्बलों की रक्षा करना, व्यापार–वाणिज्य तथा कृषि वैश्य के लिए तप और शूद्र के लिए अन्यों की सेवा करना ही तप है। मनु ने ब्राह्मण को जाति की श्रेष्ठता से, उत्पत्ति स्थान की श्रेष्ठता से, वेद के पढ़ने–पढ़ाने तथा उपनयन संस्कार की विशेषता से सब वर्णों का प्रभु माना है। अत्यन्त विपद्ग्रस्त होने पर भी राजा को ब्राह्मण पर क्रोध करने का अधिकार नहीं है अन्यथा कुपित ब्राह्मण उसकी सेना और वाहन को नष्ट कर सकता है। निन्दित कार्य करने पर भी ब्राह्मण सदा पूजनीय है। अति समृद्ध क्षत्रिय को ब्राह्मण दण्ड दे सकता है यदि वह ब्राह्मण को पीड़ा दे। इस व्यवस्था के बावजूद मनु ने ब्राह्मण को निरकुंश नहीं बनाया है। यदि ब्राह्मण अपनी प्रभुता अथवा लोभ से यज्ञोपवीतयुक्त द्विजातियों से उनकी इच्छा बिना दास कार्य कराता है तो राजा उसे छः सौ पर्ण का दण्ड दे सकता है।[70]

ब्राह्मण की आजीविका का साधन पढ़ाना, यज्ञ कराना और द्विजातियों से दान लेना है। क्षत्रिय आजीविका के लिए शस्त्र–अस्त्र धारण करना, वैश्य की आजीविका के लिए पशुपालन, कृषि और वाणिज्य है। मनु ने ब्राह्मण को निज जीविका से जीवन निर्वाह करने में असमर्थ सिद्ध होने पर क्षत्रिय की वृत्ति से, क्षत्रिय को वैश्य की वृत्ति से और वैश्य को निषिद्ध कार्यों को छोड़कर शूद्र वृत्ति से जीविका करने का अधिकार दिया है। शूद्र को भी यदि वह द्विजातियों की सेवा करने में असमर्थ हो और जिसके स्त्री–पुत्र क्षुधापीड़ित हों तो कारीगरी से जीविका चलाने का अधिकार दिया है। आपत्तिकाल में ही दूसरे वर्ग की वृत्ति अपनाने को कहा गया है अन्यथा मनु की मान्यता है कि –

''वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः।

परधर्मेण जीवन्हि सद्यः पतति जातितः।।'' अर्थात् अपना धर्म निकृष्ट होने पर भी अच्छा है और पराया धर्म उत्तम भी बुरा है क्योंकि पराये धर्म से जीता हुआ मनुष्य तुरन्त अपनी जाति से पतित हो जाता है।[71]

महाभारत में भी कहा गया है कि प्रारम्भ में ब्रह्मा ने सर्वप्रथम ब्राह्मणों को जन्म दिया लेकिन वे अकेले उचित रूप से कार्य व उन्नति नहीं कर सके। अतः उनके कार्यों में सहायता देने के विचार से क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को उत्पन्न किया।[72]

इस प्रकार स्पष्ट है कि चारों वर्णों से मिलकर समाज बनता है। कोई एक वर्ण स्वतन्त्र रूप से जी नहीं सकता जैसे हाथ, पाँव, सिर आदि शरीर के अंग शरीर से अलग नहीं किए जा सकते।

वर्ण व्यवस्था की भाँति ही मनु ने चारों आश्रमों के धर्मों का भी उल्लेख किया है। सम्पूर्ण मानव जीवन को तार्किक ढंग से चार भागों में बाँटा है। आश्रमों की व्यवस्था मानव जीवन को संयमित एवं आध्यात्मिक बनाने के लिए की गई, जिसके अन्तर्गत मनुष्य अपना सामाजिक तथा आध्यात्मिक विकास कर सके। सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम आता है। यह विद्यार्थी जीवन माना गया है। ब्रह्मचारी का धर्म आश्रम में गुरु के समीप रहकर वेदज्ञान के लिए तय का संचय करना है। मनु ने ब्रह्मचारी के लिए इन्द्रियों का संयम रखने और सभी प्रकार के भोग–विलास, साज–श्रृंगार, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद से दूर रहने का निर्देश दिया है। देव, ऋषि, पितृ–तर्पण, देवताओं का पूजन, हवन, समिधा लाना, पढ़ना, गुरु के हित में नित्य यत्न करना, गुरु का सम्मान करना, विनम्रता व लोभ रहित भिक्षा माँगना, ब्रह्मचारी के प्रमुख धर्म कहे हैं। माता–पिता व गुरु की आज्ञापालन करना शिष्य का साक्षात् परम् धर्म कहा है। धर्म के ज्ञाता ब्रह्मचारी को शिक्षा समाप्ति पर गुरुदक्षिणा देनी चाहिए।

ब्रह्मचर्य के उपरान्त ब्रह्मचारी 'गृहस्थ आश्रम' में प्रवेश करता है। गृहस्थ आश्रम को तीनों आश्रमों से श्रेष्ठ माना है क्योंकि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी ये गृहस्थों के द्वारा नित्य विद्या और अन्न आदि से प्रतिपालित होते हैं। गृहस्थ का धर्म पंच यज्ञ विधान, नित्य का भोजन और पाक इनको विवाह की अग्नि में विधिपूर्वक करना है। पढ़ना–पढ़ाना ब्रह्म यज्ञ है, तर्पण पितृ यज्ञ है, हवन देवयज्ञ है, बलिवैश्व देव भूत यज्ञ है और अतिथि पूजन मनुष्य यज्ञ है। आसन, बैठने की जगह, जल और चौथी मीठी वाणी इनकी सज्जनों के घर में कभी नहीं होती।

ब्राह्मण, अतिथि भाव से आये हुए क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को भी गृहस्थ भोजन करावे। गृहस्थी को चाहिए कि देवता, ऋषि, मनुष्य, पितृ और घर के देवता इन सबके पूजन के उपरान्त शेष अन्न का भोजन करे।[73]

जब गृहस्थी देख ले कि अपने शरीर का चमड़ा ढ़ीला हुआ और केश पक गए और पुत्र के पुत्र हो गया है, तब वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करे। वानप्रस्थी का धर्म है कि गाँव व घर की सभी सुख–सुविधाओं का परित्याग करके, जितेन्द्रिय होकर शाकमूल व फल से पंचमहायज्ञों को करता हुआ फल आदि के सेवन से ही जीवन धारण करे। मृगचर्म या पुराना वस्त्र धारण करे, तीन समय स्नान करे, जटा, दाढ़ी व नख धारण करे, आश्रम में आये हुए अभ्यागतों का जल, मूल, फल की भिक्षा से सत्कार करे, वेद पाठ में लगा रहे, सर्दी–गर्मी आदि को सहे, सबका उपकार करे, सदा ज्ञान दे, परन्तु प्रतिग्रह न ले, फल–मूल न मिलने पर ब्राह्मणों से अथवा अन्य वनवासी गृहस्थ द्विजातियों के यहाँ से अपने प्राणधारण करने योग्य ही भिक्षा माँगे।

इस प्रकार आयु के तीसरे भाग को वनों में विहार करके और आयु के चतुर्थ भाग में विषयों को त्यागकर संन्यास आश्रम ग्रहण करें। मनु ने संन्यासी को राग–द्वेष, कामनाओं से ऊपर माना है। उसे अत्यन्त साधारण, परोपकारी व निस्पृह जीवन बिताने को कहा है। मनु के अनुसार संन्यासी को चाहिए कि वह पवित्र दण्ड व कमण्डल धारण करे, अनायास मिले हुए पदार्थों में इच्छा का त्याग करे, स्थिर बुद्धि रहे, भिक्षा के लिए मिट्टी का सकोरा, रहने के लिए वृक्ष की जड़, पहनने के लिए जीर्ण–शीर्ण वस्त्र धारण करें, अहिंसा व सत्य वचन बोलने का, किसी का अपमान न करने का ध्यान रखें। दाढ़ी, मूंछ, नख और बाल कटवाकर, दण्ड–कमण्डल तथा भिक्षापात्र लेकर और किसी प्राणी को दुःख न देकर संन्यासी को सदा नियमसहित विचरना चाहिए।

''धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शोचमिन्द्रयनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।'' अर्थात् संतोष, क्षमा, मन को वश में रखना, न्याय से धन लेना, पवित्रता, इन्द्रियों को वश में रखना, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध आदि धर्म के इन 10 लक्षणों का पालना करना चारों आश्रम वाले द्विजातियों के लिए अपरिहार्य माना है।[74]

इस सामाजिक व्यवस्था को मनु ''त्रयी'' (तीनों वेदों) द्वारा स्वीकृत मानते हैं। राजा का धर्म था कि वह प्रत्येक वर्ण एवं प्रत्येक आश्रम के लिए त्रयी द्वारा निर्दिष्ट धर्मों का पूर्ण रूप से पालन कराये और समाज के आर्य स्वरूप की रक्षा करे। राजा इसके लिए यदि उचित दण्ड का प्रयोग नहीं करता तो सभी वर्ण दूषित हो जायेंगे, धर्म के सभी बन्धन टूट जायेंगे और समाज में विद्रोह की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी।

इस प्रकार मनु ने वर्णाश्रम पर आधारित सामाजिक व्यवस्था का चित्रण किया है, जिसमें समाज को चार भागों में विभक्त कर तत्सम्बन्धी वर्गों को स्वधर्म के पालन के निर्देश दिये हैं। उसी प्रकार मानव जीवन को भी चार भागों में विभक्त कर एक व्यक्ति को आयु की अलग–अलग अवस्थाओं में स्वधर्म पालन के निर्देश दिये हैं। अतः समाज को भी चार भागों में तथा मनुष्य के जीवन को भी चार भागों में विभक्त कर उनको स्वधर्म पालन का उपदेश देता है। यहाँ मनु यूनानी चिन्तक प्लेटो के नज़दीक प्रतीत होता है, प्लेटो अपने आदर्श राज्य में समाज को तीन वर्गों शासक वर्ग, सैनिक वर्ग और उत्पादक वर्ग में विभक्त करता है और प्रत्येक मनुष्य में भी तीन प्रवृत्तियों– विवेक, साहस और इन्द्रिय तृष्णा का उल्लेख करता है। इस प्रकार मनु वर्णात्मक व्यवस्था के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था को नियमबद्ध, कर्तव्यनिष्ठ तथा स्वधर्म पालन पर भी आधारित कर सुगठित करना चाहता है। आश्रम एक ऐसा जीवन स्तर है, जिसमें व्यक्ति खूब श्रम करता है।[75]

मनु ने समाज के अन्तर्गत स्त्री के धर्मों की भी व्याख्या की है। मनु के अनुसार जहाँ स्त्रियों का आदर किया जाता है वहाँ देवता रमण करते हैं और जहाँ इनका अनादर होता है, वहाँ सब काम निष्फल होते हैं।[76]

स्त्री का सदा प्रसन्नचित्त, घर के कामों में कुशल, घर की सामग्री को अच्छी तरह से रखने वाली और खर्च में हाथ रोककर उठने वाली होनी चाहिए। उसे बाल्यावस्था में पिता, यौवन में पति और पति की मृत्यु उपरान्त पुत्रों के अधीन रहना चाहिए पर स्वतन्त्र नहीं और न ही इनसे वियोग की कामना करनी चाहिए। पतिव्रता स्त्री को शीलरहित, परस्त्रीगामी व गुणहीन पति का कुछ अप्रिय आचरण नहीं करना चाहिए और पति की मृत्यु के बाद भी उस मर्यादा का उल्लंघन नहीं

करना चाहिए। मन, वचन, कर्म से नारी को धर्मपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए।[77]

मनु के धर्म का आधार वर्णाश्रम व्यवस्था है। फिर भी मनु ने वर्णाश्रम धर्म के अलावा देश धर्म, कुल धर्म, पाषण्ड धर्म और गण धर्म की योजना भी प्रस्तुत की है। मनु ने सामाजिक, पारिवारिक कर्तव्यों को स्पष्ट करते हुए उसे स्वीकार किया है।[78]

वर्णाश्रम धर्म सम्बन्धी विषयों की आज भी पर्याप्त मात्रा में प्रासंगिकता है। वेदज्ञाता ब्राह्मण को आज भी समाज में विशेष सम्मान प्राप्त होता है। मनु ने दान देने एवं यज्ञ कराने का उल्लेख करते हुए व्यक्ति का पहला धर्म अपने परिवार का पालन–पोषण करना बताया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के लिए आपत्तिकालीन जीविका का वर्णन किया है। आश्रमों के नियम भी किसी न किसी रूप में समाज में विद्यमान हैं।

मनुस्मृति में मनुष्यों के आचरण को नियमित करने के लिए नैतिक नियमों की व्यवस्था की गई है। इन नैतिक नियमों को ही मनु ने 'धर्म' की संज्ञा दी है। मनु ने वेद, स्मृति, सज्जनों का आचरण, अन्तःकरण तथा राजा की आज्ञा धर्म के स्रोत माने हैं। राजाज्ञा को धर्म का स्रोत मानते हुए भी मनु ने राजा द्वारा निर्धारित धर्म के लिए यह आवश्यक माना है कि वह सार्वभौमिक नैतिक मूल्यों व मंतव्यों के तथा विद्वानों द्वारा की गई धर्म की व्याख्या के अनुरूप हों।

मनुस्मृति में सत्य व अहिंसा को सार्वभौमिक नैतिक मूल्यों के रूप में मान्यता दी गई है और असत्यवादी को आत्मा के अपहरणकर्ता के रूप में माना गया है। यमों व नियमों के माध्यम से मनु ने सामाजिक व्यवस्था के नैतिक पक्ष को स्पष्ट किया है। 'यम' के अन्तर्गत मनु ने अक्रूरता, क्षमा, सत्य, अहिंसा, इन्द्रिय–दमन, ध्यान, प्रसन्नता, मधुरता तथा सरलता आदि गुणों को शामिल किया है तथा 'नियम' के अन्तर्गत प्रार्थना, दान, तपस्या, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य व्रत, उपवास, अक्रोध व गुरुसेवा आदि को शामिल किया है। 'यम' का सम्बन्ध सार्वभौमिक नैतिक अवस्थाओं से तथा नियम का सम्बन्ध आचरण के व्यावहारिक पक्ष से है।[79]

मनुस्मृति में वैदिक दर्शन के अनुरूप सामाजिक व्यवस्था के संगठन को वर्ण और आश्रम व्यवस्था पर आधारित माना है। वर्ण व्यवस्था के माध्यम से मनुष्य के सम्पूर्ण समाज को अनुशासित करने का प्रयास किया है तथा आश्रम व्यवस्था के माध्यम से मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को अनुशासित करने का प्रयास किया है। समाज के एक अंग के रूप में सभी वर्ण समान हैं क्योंकि वे सभी समान रूप से समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। एक ही ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण भी समाज के सभी वर्ण समान हुए और उनमें हीनता या श्रेष्ठता जैसी कोई स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती।

शूद्रों और स्त्रियों के प्रति अपनाये गये भेदभावपूर्ण दृष्टिकोण का मनु द्वारा तर्कसंगत आधार प्रस्तुत नहीं किया गया है, फिर भी मनु का उद्देश्य स्त्रियों और शूद्रों के सम्मान के विरुद्ध किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करना नहीं रहा होगा। मनु के चिन्तन का मुख्य विषय सामाजिक व्यवस्था को अक्षुण्ण रखना है। मनु स्त्रियों की स्वतन्त्रता पर अवरोध लगाना नहीं चाहता अपितु पुरुषों के स्त्रियों के प्रति कर्तव्य ही निर्धारित किये हैं। स्त्री किसी भी अवस्था में स्वतन्त्र न रहे, का आशय भी संरक्षणविहीन न रहने से है। यदि स्त्रियों की स्वतन्त्रता का निषेध ही मनु का उद्देश्य होता तो मनु 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः' जैसी बात तथा पारिवारिक जीवन के सन्दर्भ में स्त्रियों के सम्मान के निमित्त अन्य अनेक व्यवस्थाऐं न करते। ज्ञान के अभाव में कहीं वेदों की शिक्षा को गलत रूप में ग्रहण न कर लिया जावे और इससे समाज का बौद्धिक ह्रास न हो जाये, अतः मनु ने शूद्रों को वैदिक ज्ञान से वंचित रखा है।[80]

इस प्रकार मनु ने वर्णाश्रम व्यवस्था के माध्यम से मनुष्य के जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में समाज के प्रति कर्तव्यों का निर्धारण किया है, मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को विभिन्न वर्णों के धर्म के अनुसार अनुशासित करने का प्रयत्न किया है। राजा का धर्म ईश्वरप्रणीत इस वर्णाश्रम व्यवस्था को सुचारु रूप से पालन करवाने में ही है।

मनु ने राजनीति का बहुत ही बृहत् रूप हमारे समक्ष रखा। राजनीति को सामाजिक स्वरूप प्रदान किया। राजनीति के बिना समाज का संचालन ही मुश्किल

है। राजा के बिना अराजकता आ जायेगी। मनु ने केवल कानून और व्यवस्था ही नहीं वरन् राज्य का लोककल्याणकारी स्वरूप प्रस्तुत किया है। राज्य का कार्य समाज के सभी घटकों को समन्वित करना, संगठित करना है। मनु के राज्य का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें पशु, पक्षी व पर्यावरण भी सम्मिलित हैं। राज्य का कार्य समाज में सन्तुलन बनाये रखना है, यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म का पालन करता रहे तो उसमें उसका स्वयं का ही नहीं सम्पूर्ण समाज का हित निहित है।

मनु का राजा प्रजा का सेवक है, वह न्याय करता है, एक ऐसे समाज की स्थापना करता है, जिसमें शांति, विकास, वैभव, सुरक्षा एवं एकता है। राजा यदि अपने धर्म का पालन नहीं करता है, न्यायोचित ढ़ंग से राजसत्ता का प्रयोग नहीं करता है तो वह स्वयं और उसका राज्य नष्ट हो जाता है। प्लेटो की भाँति मनु ने राजा के लिए एक श्रेष्ठ शिक्षा पद्धति की भी व्यवस्था की है। यह शिक्षा केवल ज्ञानोपार्जन हेतु ही नहीं बल्कि राजा के चरित्र निर्माण हेतु भी है।

यद्यपि मनु राजतंत्रवादी है लेकिन वह जनमत की उपेक्षा नहीं करते। मनु के समय आधुनिक सरकार की तरह विधायिका तो नहीं थी लेकिन दो बातें राजा की शक्तियों को नियंत्रित करती थी। प्रथम यह कि जिस उद्देश्य को लेकर राज्य की स्थापना की गई है वह राजसत्ता को नियन्त्रित करता है, दूसरा यह कि राजा के प्रति आज्ञापालन इस बात पर निर्भर करता है कि वह अपने दायित्व का निर्वाह किस प्रकार करता है।[81]

मनुस्मृति मूलरूप में एक धर्मशास्त्र है, नैतिक नियमों का एक विधान है। इसने रिवाजों और परम्पराओं को ऐसे समय में जबकि उनका मूलोच्छेदन हो रहा था, गौरव प्रदान किया। परम्परागत सिद्धान्त को शिथिल कर देने से रुढ़ि और प्रामाण्य का बल भी हल्का पड़ गया। स्वच्छन्द भावात्मकता का जवाब साधारण बुद्धि के द्वारा यही दिया जाता है कि उसे प्रतिष्ठित समझा गया है। मनु के आदेशों का आधार है, वे प्राचीन प्रथाऐं एवं आचार जो गंगा के किनारे पर बस गये, हिन्दू लोगों में प्रचलित थे। वह वैदिक यज्ञों को मान्यता देता है और वर्ण (जन्मपरक जाति) को ईश्वर का आदेश मानता है वह तपश्चर्या के पक्ष में है किन्तु साथ में यह भी कहता है कि हमें ऐसी इच्छाओं का, जो धर्म के विरुद्ध हों, त्याग

कर देना चाहिए उसके अन्दर बहुत सी दोषपूर्ण बातों के साथ कहीं–कहीं प्रतिभा एवं अन्तर्दृष्टि का आभास भी मिलता है। माता बनने के लिए स्त्रियों की सृष्टि की गई और पिता बनने के लिए पुरुष की। केवल उसी मनुष्य को हम पूर्ण कहते हैं, जिसकी स्त्री, वह स्वयं और उसकी सन्तान वर्तमान हैं। स्त्री के लिए ही पति होता है।[83] सामाजिक कर्तव्यों का निर्वाह अथवा पालन सबसे पहले और प्राथमिकता देकर होना चाहिए। द्विजाति का ऐसा पुरुष जो परममोक्ष प्राप्त करना चाहता है, किन्तु जिसने वेदों का अध्ययन नहीं किया तथा सन्तानोत्पत्ति नहीं की और यज्ञ भी नहीं किए वह नीचे की ओर गिरकर पतित हो जाता है।[84]

आज तक मनुस्मृति जैसा प्रामाणिक ग्रन्थ दूसरा नहीं हुआ है। इसकी लोकप्रियता और प्रसिद्धि का श्रेय मनु को जाता है क्योंकि प्राचीन काल से ही मनु को न केवल मानव जाति का पिता माना जाता है बल्कि सामाजिक रीति–रिवाज संरचना का संस्थापक, कानून का स्रोत भी माना जाता है। जो कुछ भी मनु ने कहा है वह औषधि के समान है ''मनुना वदत् तद् भैषजाम्।''[85]

मनु राजा के ऊपर 'धर्म' का नियन्त्रण मानते हैं। धर्म शब्द को 'रिलीजन' के रूप में स्वीकार करते ही मनु के राजतन्त्र एवं राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप बिगड़ जाता है। वस्तुतः मनुस्मृति में धर्म–न्याय और विधि दोनों हैं। यदि राजतन्त्र जनमत के विपरीत है तो वह दण्ड का प्रयोग नहीं करेगा बल्कि उसके विपरीत दण्ड का प्रयोग किया जावेगा। मनु 'धर्मच्युत' राजा को दण्ड के प्रयोग का अधिकारी ही नहीं मानते। राजा के साथ प्रजा शब्द का प्रयोग उसके विषय के रूप में नहीं है, उसकी रक्षा करना राजा का प्रथम दायित्व है। प्रजा की किसी भी व्यवस्था एवं परम्परा में राजा हस्ताक्षेप नहीं कर सकता था। राजा अपनी निजी इच्छाओं को सामाजिक कल्याण में ही प्राप्त करता है। इस प्रकार धर्मनियंत्रित राजतंत्र ही मनुस्मृति का प्रतिपाद्य राजनीतिक व्यवस्था है।

मनुस्मृति में मानव जीवन के समस्त पक्षों में सम्यक कर्तव्यों के निर्वाह और कर्तव्यों के अनुपालन को धर्म की परिधि में शामिल किया है। धर्म के पारलौकिक महत्व पर अधिक बल दिया गया है। मनुष्यों के संसारिक आचरण को धर्म के अनुरूप नियमित करना तथा उनके पारलौकिक कल्याण को सुनिश्चित करना ही

इसका उद्देश्य है। व्यक्ति अपने लौकिक आचारण को धर्म के अनुकूल संचालित करता है तो वह जीवन के अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। परलोक में सिर्फ धर्म ही एकमात्र सहायक के रूपा में व्यक्ति के साथ रहता है। अतः मनुष्य को आजीवन धर्म का संचय करते रहना चाहिए।

मनुस्मृति के अध्ययन से हमें तात्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन के सम्बन्ध में पर्याप्त लाभदायक जानकारी प्राप्त होती है। हिन्दू विधि पर सबसे अधिक प्रामाणिक पुस्तक मनुस्मृति ही है। ब्रिटिश राज्य के समय में ही अंग्रेजों ने इसे मान्यता दी। राजा राज्य का प्रमुख था, इसी नाते वह जनता का रक्षक भी था, वह एक परिषद् से भी परामर्श लेता था, जिसका प्रमुख मुख्यामात्य कहलाता था। राजा निरंकुश शासक नहीं था। अपने मामलों में लोगों को पर्याप्त स्वशासन प्राप्त था। राजा का धर्म कानून बनाना न होकर, कानून की रक्षा करना था। कानून के स्रोत वेद, धर्मशास्त्र, शील और आचार थे। किसी विषय विशेष पर सन्देह होने पर एक विशारद सभा बुलाई जाती थी, जिसे परिषद कहा जाता था। परिषद का मत राजा को मान्य होता था। कुल, जाति, श्रेणी और जनपद को अपने कानून स्वयं बनाने की छूट थी। राजा का धर्म था कि उन कानूनों को मान्यता दे और उनको लागू भी करे।

लोगों का जीवन वर्णाश्रम धर्म पर आधारित था। उत्तम चरित्र और अध्यात्मिकता के कारण ब्राह्मण को समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त था। वे अध्यापक, पुरोहित, न्यायाधीश, निर्धारक और मन्त्रियों का काम करते थे। स्वयं ब्राह्मणों द्वारा नियमों का उल्लंघन होने से उनकी जाति नीची हो जाती थी, लेकिन उन्हें प्राणदण्ड नहीं दिया जा सकता था। ब्राह्मणों को सरल, गुणवान और संन्यास का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। उनमे सबके प्रति सद्भावना होनी चाहिए। क्षत्रिय का मुख्य कर्म था युद्ध करना और देश की रक्षा करना। वैश्यों का काम था कृषि, व्यापार, वाणिज्य और पशुपालन करना। वे समुद्री यात्राओं के लिए भी जाते थे और उनसे आशा की जाती थी कि वे देश की समृद्धि में वृद्धि करेंगे। आर्य लोगों का सबसे बड़ा भाग शूद्र जाति था और उनका काम था ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा करना। कूड़ा–करकट और शव उठाना भी उन्हीं का काम था। उन्हें संस्कार करने की आज्ञा नहीं थी, किन्तु वे श्राद्ध कर सकते थे। मनु ने चार

आश्रम बताये हैं–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। मनु ने स्त्रियों को आदरणीय स्थान नहीं दिया है। उन्हें वेदों का अध्ययन करने की आज्ञा नहीं थी। विवाह के अतिरिक्तत अन्य संस्कारों के समय उन्हें मन्त्रों का उच्चारण करने की आज्ञा भी नहीं थी। विवाह से पहले कन्या को अपने पिता या भाई के नियन्त्रण में, विवाह के बाद पति के नियन्त्रण में रहना पड़ता था, पति की मृत्यु के पश्चात् पुत्र के अधीन। स्त्रीधन के अतिरिक्त अन्य कोई सम्पत्ति वह उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं कर सकती थी।[86]

मनु ने नारी के संदर्भ में विचारों को निष्पक्षता से देखें तो यह कहा जा सकता है कि मनु ने नारी को सदा रक्षा के योग्य माना है। नारी रक्षा आज भी आवश्यक है। आज पुरुष के समकक्ष मानी जाने वाली नारी कहीं भी सुरक्षित नहीं है। मनु ने न केवल नारी को सम्मान प्रदान किया है – 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' बल्कि नारी की रक्षा को घर, परिवार तथा समाज तीनों की उन्नति के लिए अति आवश्यक माना है। नारी का असुरक्षित होना घर, परिवार व समाज तीनों के लिए ही हानिप्रद होता है। ध्यान देने योग्य बात है कि नारी को सुरक्षा प्रदान की जाए, उसका शोषण न हो, उसके व्यक्ति स्वातन्त्रय को कदापि बाधित न किया जाये।

भारत में प्राचीन काल से ही कानून का शासन रहा है। संस्कृत में कानून के लिए धर्म शब्द का ही प्रयोग किया गया है। धर्म एक बहुत ही व्यापक अवधारणा है। इसमें न केवल धार्मिक कर्मकाण्ड है बल्कि नैतिकता एवं विवेक का समावेश है। इस अर्थ में धर्म के सन्दर्भ को भारतीय न्यायालयों द्वारा प्रभावी रूप से लागू नहीं किया गया है जैसे – गृहस्थ का धर्म है अग्निहोत्री व धर्मपरायण जीवन व्यतीत करना लेकिन यदि वह इस प्रकार का जीवन व्यतीत नहीं करता तो न्यायालय उसे बाध्य नहीं कर सकता, इसके लिए उसे दण्डित नहीं किया जा सकता।[87]

मनु ने निष्पक्ष एवं धर्मयुक्त निर्णय देने पर बल दिया है। साथ ही न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था को भी स्वीकारा है। राजा का धर्म है कि यदि उसे जानकारी हो जाये कि असत्य तथ्य के कारण या मन्त्री अथवा 'प्राड्विवाक' की भूल के कारण निर्णय दोषपूर्ण हुआ है तो स्वयं राजा को उस मुकदमें पर विचार

करना चाहिए और दोषी व्यक्तियों को दण्डित करना चाहिए। राजा को न्यायिक निकाय का अध्यक्ष मानते हुए भी मनु ने न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के तथ्य पर बल दिया है। राजा स्वयं न तो न्याय कार्य में स्वतन्त्र है और न ही वह कानून का निर्माता अथवा स्रोत है। उसे धर्म या ब्राह्मणों एवं सभासदों की मदद तथा स्थापित कानून के अनुसार ही न्याय कार्य करना होता है।

मनु के आलोचक मनुस्मृति को एक असमान पुरुष एवं ब्राह्मण प्रधान, अलोकतान्त्रिक, सामन्तशाही, सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में असमानता की पोषक पुस्तक मानते हैं, जिसका बदलते संदर्भ में कोई अर्थ नहीं है। निःसंदेह मनु अपने युग से बहुत प्रभावित हैं और उन पर ब्राह्मणी संस्कृति की वकालत का आरोप सही भी है। शूद्र और नारी के प्रति उनका पूर्वाग्रह भी स्पष्ट है, लेकिन उनके मौलिक विचारक होने के यथार्थ को भी नहीं भुलाया जा सकता। उन्होंने राज्य और राजा के पद का जो निरूपण किया वह बहुत ही संतुलित, आदर्श एवं यथार्थ का समन्वित स्वरूप है। मनु का राजा प्लेटो के दार्शनिक शासक की भाँति आदर्शवादी भी है और साथ ही व्यावहारिक भी। मन्त्रीपरिषद् की अवधारणा बहुत ही प्रशंसनीय है। राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद का सामन्जस्य विधि एवं न्याय व्यवस्था एक अद्भुत देन है जो तात्कालीन समाज की संरचना एवं चिन्तन से कहीं बहुत ही आगे है।[88]

महाभारत एवं धर्मसूत्रों में कानूनी सिद्धान्तों के कई उद्धरण पढ़ने को मिलते हैं, जो यह कहकर लिखे गये हैं कि यह मनु द्वारा कहे गए हैं। कानून के सन्दर्भ में मनु को एक आधिकारिक संस्था के रूप में, धर्म सूत्रों में स्वीकार किया गया है। ऐसे प्रत्येक वक्तव्य को, जो प्राचीन है, हर युग में प्रासंगिक है, जिसे नकारा नहीं जा सकता, उन्हें मनु द्वारा कहे गये माना गया है।[89]

मनुस्मृति में स्थान–स्थान पर राजा से धर्म और न्याय के अनुसार शासन का संचालन करने की अपेक्षा की गई है, किन्तु निश्चित रूप से मनुस्मृति में प्रतिपादित राज्य और धर्म का सम्बन्ध महाभारत एवं अर्थशास्त्र में इन दोनों संस्थाओं के मध्य प्रतिपादित सम्बन्ध के स्वरूप से बिल्कुल भिन्न प्रकार का है। मनुस्मृति में स्वयं राजा को धर्म राट अर्थात् धर्म का स्रोत स्वीकार किया गया है।

राजा के इस विलक्षण स्वरूप का कारण, राजा के प्रभाव के साथ अनेक शक्तियों के संयोग के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुआ है। इसी कारण मनुस्मृति में समस्त मनुष्यों को यह चेतावनी दी गई है कि वह राजा को केवल लौकिक शक्ति सम्पन्न मानकर उसका किसी भाँति तिरस्कार न करें क्योंकि वास्तव में यह राजा देवतास्वरूप है जो कि संसार में मनुष्य रूप में प्रतीत हो रहा है।

आधुनिक समय के पाश्चात्य एवं भारतीय मनीषियों ने मनुस्मृति की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है एवं इसमें लिखित विचारों को समसामयिक माना है। जर्मन दार्शनिक नीत्शे मनु धर्मशास्त्र को एक महान और बौद्धिक ग्रन्थ मानते हैं। नीत्शे के अनुसार यह ग्रन्थ सकारात्मक धर्म और दैवी धर्म का आधार है। मानवता के मूल्यों से परिपूर्ण है। जीवन की पूर्णता की भावना कूट–कूट कर भरी हुई है। यह विजयी मानव जाति का इतिहास है। एक ओर जहाँ मनु की आलोचना नारी दृष्टिकोण को लेकर की जाती है वहीं नीत्शे का मानना है कि जितना मनुस्मृति में विवाह और स्त्री को आदर, प्यार और विश्वास की दृष्टि से देखा गया है उतना अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं।

स्वामी विवेकानन्द ने भारत के शैक्षणिक, राजनीतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक पुनरूत्थान के लिए मनु धर्मशास्त्र के आदर्शों और मूल्यों को आवश्यक माना है। वर्ण व्यवस्था को मानव सभ्यता का सोपान मानते हुए उनके विचार हैं कि वर्ण आश्रम सांस्कृतिक परम्परा की सुरक्षा के लिए आवश्यक है। इससे राष्ट्रीय स्थायित्व की स्थापना होती है। भारत की जाति और संस्थाएँ भारत और भारत के लोगों की आत्मसुरक्षा की आवश्यकता है।[90]

मनुस्मृति भारतीय समाज दर्शन को सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने का प्रथम प्रयास है। प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान तक विभिन्न मत–मतान्तरों के पश्चात भी अनेक दृष्टियों से भारतीय समाज व्यवस्था के लिए इस ग्रन्थ को अब भी सर्वोत्तम प्रामाणिक आधार माना जाता है। धर्मशास्त्रों में जो स्थान मनुस्मृति का है वह किसी दूसरे ग्रन्थ का नहीं। वास्तव में इस ग्रन्थ में केवल नियम विधानों का ही नहीं वरन् सम्पूर्ण मानवीय क्रियाकलापों का उल्लेख है। इसमें सृष्टि विद्या,

धर्मदर्शन, मानव शरीर, विज्ञान, मनोविज्ञान, कूटनीति, राजस्व मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, करणीय–अकरणीय कार्यों का भी समावेश किया गया है।[91]

मनु का धर्म मूलतः राजधर्म है वह समाज व्यवस्था, अर्थव्यवस्था, दण्ड–विधान, प्रशासन, शासन–प्रबन्ध, करारोपण, न्याय इन सभी सन्दर्भों में अधिकांश दायित्व राजा पर डालता है ताकि वह धर्म की स्थापना कर सके और स्थापित धर्म की रक्षा कर सके। मनु का विचार मूलतः वर्णाश्रम को सामाजिक जीवन के एक अनिवार्य तत्व के रूप में संरक्षित करने का रहा है। पारम्परिक भारतीय समाज वर्णाश्रम की इस विचारधारा से बँधा हुआ रहा है। राजा की समूची भूमिका समाज व्यवस्था के सन्दर्भ में वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करती है। श्रीमद्भगवद्गीता की स्वधर्म की आवधारणा और मनुस्मृति का स्वधर्म का आदर्श सामाजिक दर्शन के परिप्रेक्ष्य में एक–दूसरे के पूरक हैं।

मनुस्मृति में धर्म और राज व्यवस्था की अन्तःक्रिया के अध्ययन के पश्चात् निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मनुस्मृति आज भी प्रासंगिक है। उसके कतिपय विधान परिवर्तित राजनीतिक, सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत असामयिक हो सकते हैं, कतिपय विषयों की निन्दा, भर्त्सना हो सकती है, किन्तु उसमें निर्दिष्ट मानव आचरण, मानव धर्म तथा विधि व्यवस्था आदि से सम्बन्धित शाश्वत मूल्यों को नकार नहीं सकते। मनुस्मृति का प्रत्येक विधान एक ही उद्देश्य से प्रेरित है–मानव को व्यक्तिगत रूप से धर्म का आचरण करने के साथ–साथ अर्थ तथा काम का भोग करने वाला बनाकर अन्ततः मोक्ष का भागी बनाना। वर्तमान में यदि मनु प्रतिपादित धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय–निग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य तथा अक्रोध दस सामान्य धर्म के लक्षणों को सभी नागरिक अपने जीवन में ग्रहण कर लें तो सच्चे अर्थों में धर्मनिरपेक्षता स्थापित हो जाये। धर्म के नाम पर, जाति के नाम पर फैला हुआ उन्माद मिट जाये, नरसंहार के स्थान पर प्रेम तथा शान्ति का साम्राज्य हो जाये।

संदर्भ ग्रन्थ :–

1. मिश्र, कौशल किशोर — मनुस्मृति में राजसत्ता के प्रमुख आधार, राहुल पब्लिशिंग हाऊस, मेरठ, 2012, पृ. 1
2. काणे, पाण्डुरंग वामन — धर्मशास्त्र का इतिहास (प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय धर्म तथा विधियाँ) प्रथम भाग, हिन्दी समिति प्रभाग, लखनऊ, 1992, पृ. 45
3. काणे, पाण्डुरंग वामन — पूर्वोक्त पृ. 46
4. शास्त्री, पं. हरगोविन्द — मनुस्मृति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1970, पृ. 10
5. प्रवीन, शीबा — वर्तमान काल में मनुस्मृति की प्रासंगिकता, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2007, पृ. 20
6. मनुस्मृति — चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, जवाहर नगर, दिल्ली, 1985, अध्याय 2, श्लोक संख्या 6, पृ. 17
7. मनुस्मृति — अध्याय 1, 2, श्लोक संख्या 85, 86, 9–13, पृ. 12, 17–18
8. मनुस्मृति — अध्याय 4, 8, श्लोक संख्या 238–39, 15–16, पृ. 113–14, 186–87
9. अलतेकर, ए.एस. — प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, भारती भण्डार, इलाहबाद, 1983, पृ. 1
10. मनुस्मृति — अध्याय 7, श्लोक संख्या 17–27, पृ. 154–55
11. अलकेतर, ए.एस. — पूर्वोक्त, पृ. 64–65
12. थापर, रोमिला — प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, अनु–आदित्य नारायण सिंह, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली 2012, पृ.32
13. कमल, के.एल. — भारतीय राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1998, पृ. 36
14. मनुस्मृति — अध्याय 7, श्लोक संख्या 335, पृ. 142–156
15. अलकेतर, ए.एस. — पूर्वोक्त, पृ. 109
16. घोषाल, यू.एन. — ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पॉलिटिकल आइडियाज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बॉम्बे, 1959, पृ. 37
17. मनुस्मृति — अध्याय, 7, 8, श्लोक संख्या 21, 99–101, 311, 335–36, पृ. 155–166, 227–30
18. तोमर, हर्षवर्धन — मनु का दण्ड विधान, अखिल भारतीय इतिहास, संकलन योजना, नई दिल्ली, 2014, पृ. 191–93
19. मनुस्मृति — अध्याय 7, श्लोक संख्या 3, 20, पृ. 152–155

20. सालेटोरे, भास्कर आनन्द एनशियेन्ट इण्डियन पॉलिटिकल थॉट एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, एशिया पब्लिशिंग हाऊस, 1963, पृ. 64–66
21. अलतेकर, ए.एस. पूर्वोक्त, पृ. 69–70
22. शरण, परमात्मा प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाऐं, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1970, पृ. 220
23. आसोपा, लक्ष्मी नारायण (सं.), संस्कृत वाड्मय में लोकतंत्र, चौधरी सीमा–मनु एवं शुक्र की राजव्यवस्था में लोकतांत्रिक मूल्य, हंसा प्रकाशन, जयपुर, 2010, पृ. 149–50
24. मनुस्मृति अध्याय 7, श्लोक संख्या 13, 22, 28, 29, 103, पृ. 149–166
25. मनुस्मृति अध्याय 8, श्लोक संख्या 335–36, पृ. 230
26. अलतेकर, ए.एस. स्टेट एण्ड गवर्न्मेंट इन एनशियेन्ट इण्डिया, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1955, पृ. 63
27. मनुस्मृति अध्याय 7, श्लोक संख्या 16, 19, पृ. 154
28. चतुर्वेदी, मधुमुकुल प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2011, पृ. 167
29. घोषाल, यू.एन. पूर्वोक्त, पृ. 110
30. सालेटोरे, भास्कर आनन्द पूर्वोक्त, पृ. 178
31. मनुस्मृति पृ. 159
''मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान्।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्।।'' 7/54
''अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किं तु राज्यं महोदयम्।।'' 7/55
''तै सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च।।'' 7/56
32. मनुस्मृति पृ. 167–169
''द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम्।।'' 7/114
''ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णणीयुः पापचेतसः।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम्।।'' 7/124
33. बाशम, ए.एल. (सं.) अ कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (सोशल एण्ड पॉलिटिकल थॉट एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स द्वारा जे.डनकन एम.डेरेट), ऑक्सफोड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2008, पृ. 134

34. मनुस्मृति — पृ. 166
''बकवच्चिन्तयेदर्थांसिंहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्।।'' 7/106

35. मिश्र, कौशल किशोर — पूर्वोक्त, पृ. 127–28

36. जायसवाल, के.पी. — हिन्दू पॉलिटी, द बैंगलोर प्रिन्टिंग एण्ड पब्लिशिंग हाउस क. लिमिटेड, बैंगलोर सिटी, IV सं., 1967, पृ. 276

37. अलतेकर, ए.एस. — पूर्वोक्त, पृ. 45

38. मनुस्मृति — अध्याय 9, श्लोक संख्या 296–97, पृ. 281

39. अलतेकर, ए.एस. — पूर्वोक्त, पृ. 157

40. मनुस्मृति — अध्याय 7, श्लोक संख्या 13, 19, पृ. 154

41. अलतेकर, ए.एस. — पूर्वोक्त, पृ. 157

42. सालेटोरे, भास्कर आनन्द — पूर्वोक्त, पृ. 169–70

43. मनुस्मृति — अध्याय 7, श्लोक संख्या 63–71, 147–50, पृ. 160–61, 172

44. प्रसाद, बेनी — द स्टेट इन एनशियेन्ट इण्डिया, द इण्डियन प्रेस लिमिटेड, इलाहबाद, 1928, पृ. 241

45. मनुस्मृति — पृ. 169–172
''राजाकर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च।
प्रत्यहं कल्पयेद्दृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः।।''7/125
''तथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम्।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान्।।''7/128
''क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते।।''7/144
''मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः।
चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्सार्धं तैरके एव वा।।''7/151

46. मनुस्मृति — अध्याय 7, श्लोक संख्या 110–140, पृ. 167–171

47. कमल, के.एल. — पूर्वोक्त, पृ. 41

48. मनुस्मृति — अध्याय 8, श्लोक संख्या 403–407, पृ. 239

49. अलतेकर,ए.एस. — पूर्वोक्त, पृ. 267

50. मनुस्मृति — $^{7}/_{140}$, $^{10}/_{118}$, $^{9}/_{253, 254, 305,}$ पृ. 171, 303, 275, 282

51. मनुस्मृति — अध्याय 8, श्लोक संख्या 1–401, पृ. 185–239

52. शर्मा, अंजू — प्राचीन भारत में न्यायिक प्रणाली, श्याम प्रकाशन, जयपुर, 2001, पृ. 48

53. मनुस्मृति — अध्याय 8, श्लोक संख्या 3–8, पृ. 185–186

54. जायसवाल, के.पी. — पूर्वोक्त, पृ. 310

55. अलतेकर, ए.एस. प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, भारती भण्डार, इलाहबाद, 1983, पृ. 108–09

56. मनुस्मृति अध्याय 8, श्लोक संख्या 1, 12, 126–130, पृ. 185–202

57. मनुस्मृति अध्याय 7, श्लोक संख्या 171, पृ. 176

58. अलतेकर, ए.एस. पूर्वोक्त, पृ. 211–14

59. मनुस्मृति अध्याय 7, श्लोक संख्या 155, पृ. 174

I मध्यम : जो शत्रु के जीतने की इच्छा करने वाले की भूमि के पास रहता हो और दो के मेल में अनुग्रह की और पृथक होने पर दण्ड देने की सामर्थ्य रखता हो।

II विजिगीषु : बुद्धि, उत्साह, गुण और स्वभाव इनमें जो समर्थ हो।

III उदासीन : जो मध्यम और विजिगीषु के मेल में अनुग्रह और अनमेल में दण्ड दे सके।

60. मनुस्मृति अध्याय 7, श्लोक संख्या 154, पृ. 173

I कापटिक : दूसरों के मर्म को जानने वाला, इस दूत को धन और मान देकर, बुरे आचरण करने वाले व्यक्ति की जानकारी प्राप्त करे।

II उदास्थित : पतित संन्यासी, राजा का कार्य करने वाले दूसरे संन्यासियों को भोजन और वस्त्र दे।

III कृषक (किसान) : जिसकी आजीविका न हो, नाम का गृहस्थी हो, बुद्धिमान निष्कपट हो, अपनी भूमि में उससे खेती करावें।

IV वाणिजक (व्यापारी) : जिसकी आजीविका न हो, धन और मान देकर बनिये का कर्म करावें।

V तापस व्यंजक : जो जीविका से रहित, मुंडित या जटाधारी हो, शिष्य उसकी सिद्धाई का प्रचार करें। राजा विपक्षी राजा के और अपने मन्त्रियों की प्रीति और अप्रीति को जाने और फिर मण्डल के प्रचार का विचार करे कि कौनसा राजा सन्धि चाहता है, कौनसा विग्रह चाहता है।

61. मनुस्मृति — अध्याय 7, श्लोक संख्या 160, पृ. 175

I सन्धि : आपस में भलाई के लिए हाथी, घोड़े, धन आदि के प्रबन्ध से जो आपस में मेल हो जाता है।
II विग्रह : आपस में युद्ध होना।
III यान : शत्रु पर चढ़ाई करना।
IV आसन : शत्रु को घेर कर पड़े रहना।
V द्वैधीभाव : तोड़–फोड़ करना।
VI संश्रय : बलवान् का आश्रय लेना।

62. मनुस्मृति — अध्याय 7, श्लोक संख्या 180, 200, 203, 226, पृ. 178, 181, 184

63. सहाय, शिवस्वरूप — प्राचीन भारतीय शासन और विधि, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 2005, पृ. 234

64. शरण, परमात्मा — पूर्वोक्त, पृ. 226–28

65. मनुस्मृति — अध्याय 7, श्लोक संख्या 87–93, 202–203, पृ. 164, 181

66. थापर, रोमिला — पूर्वोक्त, पृ. 31–32

67. अलतेकर, ए.एस. — पूर्वोक्त, पृ. 64

68. मनुस्मृति — अध्याय 1, श्लोक संख्या 87–91, पृ. 12

69. स्पीयर, सी. — लाईफ इन एनसिएण्ट इण्डिया, सुनीता पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1989, पृ. 83, 93, 94

70. मनुस्मृति — अध्याय 8, 9, 10, श्लोक संख्या 412, 313–19, 3, पृ. 240, 283–287

71. मनुस्मृति — अध्याय 10, श्लोक संख्या 97, पृ. 300

72. वेदव्यास — महाभारत, परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती (अनु.), ''शान्ति पर्व, सप्तदशोध्याय, गोविन्द राम हासानन्द, दिल्ली, 1987, पृ. 983

73. मनुस्मृति — अध्याय 2, 3, श्लोक संख्या 164, 175–245, 67–68, 101–116, पृ. 36–40, 55–61

74. मनुस्मृति — अध्याय 6, श्लोक संख्या 2–8, 17–19,, 33–66, 91, पृ. 139–151

75. काणे, पी.वी. — पूर्वोक्त, पृ. 267

76. मनुस्मृति — अध्याय 3, श्लोक संख्या 56, पृ. 54
''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।''

77. मनुस्मृति — अध्याय 5, श्लोक संख्या 147–166, पृ. 135–38

78. शरण, आर — प्राचीन भारतीय धर्म और दर्शन का स्वरूप, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2008, पृ. 10

79. मनुस्मृति — $^{11}/_{9-10}$, $^{1}/_{84-85}$, $^{2}/_{6}$, $^{4}/_{170,\ 204}$ व $^{8}/_{83}$, पृ. 306, 12, 17, 104, 109, 195

80. चतुर्वेदी, मधुमुकुल — पूर्वोक्त, पृ. 103–04

81. मेहता, वी.आर. — फाउण्डेशन ऑफ इण्डियन पॉलिटिकल थॉटः एन इन्टरप्रिटेशन फ्रॉम मनु टू द प्रजेन्ट डे, मनोहर पब्लिकेशन एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 1996, पृ. 27

82. मनुस्मृति — अध्याय 3, 1, 4, श्लोक संख्या 76, 31, 176, पृ. 56, 5, 105

83. मनुस्मृति — अध्याय 9, श्लोक संख्या 96, 45, पृ. 254, 247

84. राधाकृष्णनन् — भारतीय दर्शन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 2015, पृ. 42

85. विन्टरनित्ज, मॉरिस — हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर, वाल्यूम III, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1985, पृ. 584

86. महाजन, विद्याधर — प्राचीन भारत का इतिहास, एस.चन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1970, पृ. 121–23

87. अलतेकर, ए.एस. — स्टेट एण्ड गवर्न्मेंट इन एनशियेन्ट इण्डिया, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1955, पृ. 259

88. कमल, के.एल. — पूर्वोक्त, 43–44

89. विन्टरनित्ज, मॉरिस — पूर्वोक्त, पृ. 584

90. विवेकानन्द — कास्ट, कल्चर एण्ड सोशलिज्म, अद्वैत आश्रम अलमोरा, 1963, पृ. 18–19

91. तोमर, हर्षवर्धन सिंह — पूर्वोक्त, पृ. 108

अध्याय – तृतीय
धर्म और राजव्यवस्था की अन्तःक्रिया और अर्थशास्त्र

मनुष्यों की जीविका को अर्थ कहते हैं। मनुष्यों से युक्त भूमि को भी अर्थ कहते हैं। इस प्रकार की भूमि को प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने वाले उपायों का निरूपण करने वाला शास्त्र अर्थशास्त्र कहलाता है।[1]

अर्थशास्त्र के अन्तर्गत राजव्यवस्था और अर्थव्यवस्था दोनों से संबंधित सिद्धान्तों का समावेश है। कौटिल्य के समय में अर्थशास्त्र को राजनीति और प्रशासन का शास्त्र माना जाता था। भारत में प्राचीन काल से ही धर्म, अर्थ और काम के संयोग और सम्मिलन के लिये प्रयास किये जाते रहे हैं, कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में अर्थ, काम और धर्म की प्राप्ति के उपायों की व्याख्या की है। कौटिल्य से पूर्व ग्रन्थों का नामकरण 'दण्डनीति' के रूप में किया जाता था, किन्तु दण्डनीति और अर्थशास्त्र समरूप नहीं है। अर्थशास्त्र ज्यादा व्यापक शास्त्र है, जबकि दण्डनीति मात्र उसकी शाखा है।[2]

नीतिशास्त्र के नाम से भी ग्रन्थ विख्यात हुए। कामन्दक ने नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र को समरूप माना है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र वस्तुतः अर्थव्यवस्था, राजव्यवस्था, विधि व्यवस्था, समाज व्यवस्था और धर्म व्यवस्था से सम्बन्धित हैं।[3]

अर्थशास्त्र में राजा को वेद, तत्वज्ञान इत्यादि विषयों का अध्ययन करने को कहा है, किन्तु ग्रन्थ का एकमेव विषय राजशास्त्र है। उसमें आचार व प्रायश्चित का विचार भी नहीं किया है। प्रथम विभाग में नृपतन्त्र से सम्बद्ध विषयों का विचार है। दूसरे विभाग में अनेक अधिकारियों का कर्तव्य क्षेत्र और अधिकारों का वर्णन किया गया है। अगले दो विभागों में दीवानी तथा फौजदारी कानून, दाय विभाग तथा रस्म–रिवाजों का विवेचन है। पाँचवें भाग में राजा के अनुचरों के कर्तव्यों का वर्णन तथा छठे में राज्य की सप्त प्रकृतियों के स्वरूप और कर्तव्यों का विधान है। शेष 9 विभागों में पर राष्ट्रनीति विभिन्न राजाओं से सम्बन्ध, उनको पराभूत करने के उपाय, सन्धि–विग्रह के उपयुक्त अवसर, युद्ध चलाने के तरीके, शत्रुओं में फूट डालने के उपाय आदि का विशद् वर्णन है। अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य शासन कार्य में राजा को मार्ग निर्देशन करना था। नृपतन्त्र या शासन व्यवस्था के मूल

सिद्धान्तों का दार्शनिक विवेचन उसमें नहीं मिलता है। शासन की वास्तविक समस्याओं को सुलझाना ही इसका उद्देश्य था और युद्ध तथा शान्तिकाल में शासन–यन्त्र का क्या स्वरूप और कार्य होना चाहिए, इसका जैसा ब्यौरेवार वर्णन अर्थशास्त्र में हुआ है। वह बाद के ग्रन्थों, शुक्रनीति के अतिरिक्त और नहीं मिलता।[4]

कौटिल्य अनेक नामों से अभिहित किये गये हैं। चणक के पुत्र होने के कारण उन्हें चाणक्य से, कुटल गोत्र में उत्पन्न होने के कारण कौटिल्य नाम से भी जाना जाता है। पिता द्वारा प्रदत्त नाम है विष्णुगुप्त। कामन्दक नीतिसार का आधारभूत ग्रन्थ कौटिल्य का अर्थशास्त्र ही रहा है, प्रारम्भिक अंशों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य नाम के आचार्य ने अर्थशास्त्र की रचना की।[5]

यही अर्थशास्त्र धर्म, अर्थ तथा काम में प्रवृत्त करता है, उनकी रक्षा करता है और अर्थ के विरोधी अधर्मों को नष्ट करता है। जिसने शास्त्र, शस्त्र और नन्दराजा के अधीनस्थ भूमि का शीघ्र उद्धार अपने क्रोध से किया है, उसी विष्णुगुप्त कौटिल्य ने इस अर्थशास्त्र विषयक ग्रन्थ की रचना की है। प्राचीन अर्थशास्त्रों में बहुधा भाष्यकारों के मतभेद देखकर स्वयं ही विष्णुगुप्त कौटिल्य ने इस अर्थशास्त्र के सूत्रों और उनके भाष्य का निर्माण किया है।[6]

अर्थशास्त्र के रचनाकाल के विषय में बड़ा मतभेद है। जौली[I], विंटरनित्स[III], ए.बी.कीथ[III] आदि विद्वान अर्थशास्त्र को ईसा की मृत्यु के बाद तीसरी शताब्दी ई. में लिखा मानते हैं, जबकि अन्य इतिहासकार चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल को 323 ई.पू. से 298 ई.पू. तक मानते हैं। यदि चन्द्रगुप्त मौर्य के कौटिल्य राजगुरु थे तो अर्थशास्त्र का रचनाकाल उसके शासनकाल में होना चाहिए था, परन्तु उपर्युक्त लेखक यह कहते हैं कि अर्थशास्त्र में कुछ सामग्री मौर्य काल के बाद की है। अतः ईसा के बाद लिखा हुआ माना जाता है, परन्तु इस मत से भिन्न मत रखने वाले डॉ0 शाम शास्त्री[IV], डॉ0 के.पी. जायसवाल[V], फ्लीट, डी.आर. भण्डारकर[VI], आर.के. मुखर्जी[VII], बी.एम. स्मिथ, एस.डब्ल्यू. टामस आदि कुछ विद्वान हैं, जिन्होंने अर्थशास्त्र को मौर्यकाल की रचना माना है।

उक्त विचारकों से भिन्न मत रखने वाले विद्वानों का मानना है कि यदि ग्रन्थ चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री कौटिल्य प्रणीत हैं तो इसमें यूनानी इतिहासकारों द्वारा वर्णित मौर्य साम्राज्य और शासन व्यवस्था का उल्लेख क्यों नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त इसमें कौटिल्य का नाम अन्य पुरुष में प्रयुक्त है, इससे भी स्पष्ट है कि इसका लिखने वाला कोई और ही था।[7]

पुस्तक के अन्त में स्पष्ट लिखा हुआ है कि नन्दों का उच्छेद करने वाले कौटिल्य ने इसकी रचना की है। यह कहना भी गलत है कि ग्रन्थकार मौर्य साम्राज्य के विस्तार से अपरिचित था क्योंकि उसने लिखा है कि भारत में साम्राज्य की सीमा हिमालय से लेकर समुद्र तक हो सकती है। ग्रन्थ का लक्ष्य औसत या साधारण राजतन्त्र का वर्णन करना था। विशाल साम्राज्य की स्थापना तो भारत के इतिहास की असाधारण घटना थी, अतः उसका विशेष वर्णन नहीं किया गया है। अवश्य ही अर्थशास्त्र में केवल विभिन्न विभागों के अध्यक्षों का ही उल्लेख है, नगर पंचायतों का वर्णन सम्भवतः इसलिए नहीं किया गया होगा कि वे गैर–सरकारी संस्थाऐं थी। भारतीय ग्रन्थकारों में अपने नाम का प्रथम पुरुष के बजाय अन्य पुरुष में उल्लेख बहुत साधारण बात है, इसलिए कौटिल्य के नामोल्लेख से ही सिद्ध नहीं होता है कि ग्रन्थ कौटिल्य का रचा नहीं है।[8]

ग्रन्थ समाप्ति के श्लोक से यह सिद्ध होता है कि कम से कम ग्रन्थ का मूल भाग मौर्यकाल का ही है और उसके विचार कौटिल्य के ही विचार हैं। कौटिल्य कोरे राजनीतिज्ञ ही नहीं वरन् राजनीति के एक सम्प्रदाय के संस्थापक थे, इसी से उनका और उनके ग्रन्थ का बाद के युग में भी सम्मान होता रहा। राजनीति के वाड़मय में अर्थशास्त्र का वहीं स्थान है जो व्याकरण शास्त्र में पाणिनी की अष्टाध्यायी का है। कुछ वाक्यों या अध्यायों को छोड़कर ग्रन्थ (अर्थशास्त्र) का शेष भाग अवश्य ही मौर्यकालीन कौटिल्यकृत है।[9]

अर्थशास्त्र में मूलतः तीन प्रकार के विषयों का विवेचन देखने को मिलता है – राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक। राजा को केन्द्र बिन्दु मानकर लिखा गया यह ग्रन्थ केवल राजा की शक्तियों एवं कार्यों की विवेचना तक ही सीमित नहीं है, इसके अन्तर्गत राजनीति और प्रशासन की संरचना और कार्यपद्धति की विशद्

विवेचना प्रस्तुत की गई है। अर्थशास्त्र में अर्थ, धर्म तथा काम के महत्त्व तथा उनके बीच सन्तुलन रखने का प्रयास किया गया है। एक यथार्थवादी चिन्तन होने के नाते उसने अर्थ पर विशेष बल दिया है। अर्थशास्त्र धर्म, अर्थ तथा काम में प्रवृत्त करता है, उनकी रक्षा करता है और अर्थ के विरोधी धर्मों को नष्ट करता है।

पूरा ग्रन्थ एक व्यक्ति की कृति है, अतः विषयों के अनुक्रम एवं व्यवस्था में पर्याप्त पूर्वविवेचन झलकता है। यह ग्रन्थ प्राचीन भारत में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन पर इतना मूल्यवान प्रकाश ड़ालता है और इतने विषयों का प्रतिपादन इसमें हुआ है कि थोड़े में बहुत कुछ कह देना सम्भव नहीं है। अर्थशास्त्र में कुल 15 अधिकरण, 150 अध्याय, 180 विषय एवं 6000 श्लोक हैं। निःसंदेह यह कृति 200 ई.के बाद की नहीं हो सकती, इसे ई.पू. 300 के आगे भी हम नहीं ले सकते।[10]

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में धर्मशास्त्र की परम्परा के समान की अर्थशास्त्र की परम्परा भी उल्लेखनीय है। कौटिल्य ने भी धर्म को महत्वपूर्ण स्थान दिया है, किन्तु उसका मानना है कि –

''अर्थ एवं प्रधान इति कौटिल्यः, अर्थमूलौ हिं धर्मकामाविति।'' अर्थात् धर्म, अर्थ और काम में अर्थ ही प्रधान है, क्योंकि धर्म और काम अर्थमूलक होते हैं अर्थात् अर्थ ही इन तीनों का कारण है।[11]

अर्थशास्त्र के अनुसार राज्य के कार्य क्षेत्र में मनुष्य जीवन के धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक सब क्रिया–कलाप आ जाते हैं।

कौटिल्य आदर्शवादी विचारक न होकर एक यर्थाथवादी चिन्तक था। यही कारण है कि हमें अर्थशास्त्र में आदर्शात्मक बातों, वर्णाश्रम धर्म आदि के बारे में उतनी जानकारी नहीं मिलती, जितनी कि व्यावहारिक बातों की, राज्यों को बनाये रखने के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद सभी उपायों को अपनाने की मिलती है। कौटिल्य वास्तव में यथार्थवादी था, जिसने कि इस संसार में मनुष्य के सामने आने वाली परेशानियों को समझा। उसने अर्थशास्त्र के रूप में देश को राजनीति से ऊपर ऐसी पुस्तक प्रदान की जैसी उसके पहले या बाद में किसी न नहीं लिखी। यह कटु सत्य है कि आधुनिक सर्वाधिकारवादी राज्य की अवधारणा में विश्वास

रखने वालों को यह मानना पड़ेगा कि वर्तमान में जिन कठिन समस्याओं का सामना आज की सरकार कर रही है, उनको बहुत ही व्यावहारिक और सम्भवतः यथार्थ तरीके से कौटिल्य ने समझा और समाधान प्रस्तुत किये।[12]

यद्यपि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में धर्म और राजनीति के संदर्भ में पृथक से उल्लेख नहीं मिलता है किन्तु राज्य की आन्तरिक और बाह्य नीति में धर्म की भूमिका का विवेचन प्राप्त होता है। आन्तरिक नीति में कौटिल्य का राज्य ब्राह्मण प्रमुख समाज की व्यवस्था वाला है। कौटिल्य राजा तथा प्रजा को भी कभी भी उसके कर्तव्य मार्ग से न हटने देने का निर्देश देता है। कौटिल्य ने राजा के लिए 'धर्म–प्रवर्तक' शब्द का प्रयोग किया है। कौटिल्य के राज्य की बाह्य नीति भी धार्मिक महत्त्व के द्वारा ही निर्देशित है।[13]

धर्म का पालन राजनीतिक उपयुक्तता है। सही ढंग से राजकाज संचालन के लिए धर्म की उपयोगिता है। राज्य का स्वामी समाज या राज्य का केन्द्रबिन्दु है, इसलिए यह उसका परम कर्तव्य है कि वह न केवल अपने राज्य के अन्तर्गत वरन् जीते हुए भू–भागों में भी धर्म का पालन करवायें। वह धर्म का संरक्षक है, इसलिए उसे धर्मपालक भी कहा है। राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा को धर्म और कर्म मार्ग से भ्रष्ट न होने दे। अपनी प्रजा को धर्म एवं कर्म में प्रवृत्त रखने वाला राजा लोक और परलोक में सुखी रहता है।

राजा को अपने धर्म का पालन करना चाहिए और प्रजाजनों के साथ धर्म और न्याय के साथ व्यवहार करना चाहिए, इसलिए राजा को धर्म प्रवर्तक कहा गया है। धर्मपालक राजा को अपनी इन्द्रियों को वश में करना चाहिए। धर्मपालक के द्वारा ही सामाजिक व्यवस्था का अनुरक्षण किया जा सकता है। धर्म और राजनीति में घनिष्ठ सम्बन्ध है, जहाँ एक ओर धर्म राजा को कर्तव्यनिष्ठ और प्रजा का संरक्षक बनाता है तो दूसरी ओर वह राजा को धर्मप्रवर्तक बनाकर धर्म की रक्षा की बात करता है। कौटिल्य का स्पष्ट मत है कि अर्थ, काम और धर्म के सही और सन्तुलित सम्बन्ध से ही राष्ट्र का विकास हो सकता है। अनर्थ, अधर्म और शोक निष्क्रियता और राष्ट्र की अवनति के संकेतक हैं।

राजा का अपना धर्म स्वर्ग प्राप्ति का साधन होता है। इसके विपरीत प्रजा की रक्षा न करने वाले तथा अनुचित पीड़ा पहुँचाने वाले राजा को कभी सुख नहीं मिलता।

राजा अधर्म और अनर्थ से युक्त व्यवहार को छोड़कर धर्म और अर्थ के अनुसार ही काम का सेवन करे अथवा परस्पर अनुबद्ध धर्म, अर्थ और काम का बराबर सेवन करे।[14]

कौटिल्य ने इस बात पर जोर दिया है कि राजा को उदारचित्त एवं उद्योगशील होना चाहिए। राजा का उद्योग इसी में है कि वह धार्मिक नियम से रहे, यज्ञादि अपने सब कर्तव्यों को निबाहे और राज्याभिषेक के पश्चात् यज्ञ में व तर्पणादि में एवं व्यवहार में सम्मान का बर्ताव रखे। प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है और प्रजा के हित में ही राजा को अपना हित समझना चाहिए। अपने आपको प्रिय लगने वाले कार्यों का करना राजा का हित नहीं है किन्तु प्रजा के प्रिय कार्यों का करना राजा का अपना सबसे बड़ा हित है। उद्योग ही लाभ का मूल है और आलस्य हानि की जड़ है। अतएव राजा को निरन्तर उद्योगशील हो तत्परता से अपने धर्म का पालन करना चाहिए। राजा को प्रजा का पालन पुत्रवत् करना चाहिए। अस्थायी रूप से करों के क्षमा करने की अवधि समाप्त हो जाने पर राजा को प्रजा के ऊपर पिता जैसा अनुग्रह का बर्ताव करना चाहिए। पीड़ित लोगों से पिता तुल्य दयालुता का बर्ताव करना चाहिए।

कौटिल्य धर्म, अर्थ एवं राज्य के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट करते हैं। जहाँ धर्म एक पारलौकिक कल्याण की ओर संकेत करता है, वहीं अर्थ पर उसकी निर्भरता उसे मानव के लौकिक व्यवहार के साथ जोड़ देती है। अर्थ की राज्य पर निर्भरता यह स्पष्ट कर देती है कि मानव के लौकिक व्यवहार का धर्मानुकूल नियमन राज्य का दायित्व है। राज्य भी अपने इस दायित्व का स्वेच्छा या निरंकुशता पूर्वक निर्वाह नहीं कर सकता, वरन् उसे स्वयं अनुशासन और सदाचार के कुछ नियमों के अधीन रहते हुए ही इन दायित्वों का निर्वाह करना है। इस प्रकार धर्म पारलौकिक प्रेरणा से जुड़े होते हुए भी एक साथ लोक व राज्य दोनों की मर्यादा को निर्धारित करता है।[15]

कौटिल्य के अनुसार धर्म राष्ट्र की आवश्यकता है, धर्म ही राज्य के संरक्षण और संवर्द्धन का महत्वपूर्ण उपकरण है। कौटिल्य धर्म को सामाजिक कर्तव्य, नैतिक कानून के रूप में और नागरिक कानून के रूप में विश्लेषित करते हैं तथा धर्म और दण्ड के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। कौटिल्य ने गीता की अवधारणा के समान स्वधर्म के सिद्धान्त पर बल दिया है। चारों वर्ण और चारो आश्रमों के धर्म निर्धारित करते हुए राजा का धर्म सभी वर्ण और आश्रमों के लोगों से अपने–अपने धर्म का सही ढंग से पालन करवाना माना है। कौटिल्य ने धर्म का अर्थ 'अर्थ' और 'काम' के त्याग के रूप में नहीं लिया है। वरन् उनके अनुसार धर्म और अर्थ में घनिष्ठ सम्बन्ध है। अर्थ के द्वारा व्यक्तियों में समानता और सक्रियता का भाव उत्पन्न किया जा सकता है। अर्थ राष्ट्रधर्म के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। मध्ययुगीन यूरोपीय चिन्तन द्वारा प्रसारित 'चर्च की प्रधानता' का सिद्धान्त कौटिल्य के चिंतन में स्थान नहीं पाता है।

कौटिल्य ने धर्म के लक्षणों को स्पष्ट करने से पूर्व लौकिक आचारण के नियमों के रूप में धर्म के अविकल्प महत्त्व को स्पष्ट करते हुए माना है कि संसार धर्म पर आधारित है। दया, सत्य, दान और अहिंसा आदि धर्म के लक्षण हैं। सत्य, धर्म के विचार का केन्द्रीय तत्व है और इससे पारलौकिक व लौकिक दोनों तरह के कल्याण सम्भव हैं।[16]

धर्म आवश्यक था, क्योंकि उससे व्यक्तिगत सुरक्षा और सुख को और साथ ही सामाजिक व्यवस्था की स्थिरता को बढ़ावा मिलता है। सामाजिक संरचना के बृहत्त और अधिक जटिल ताने–बाने में प्रत्येक मनुष्य के धर्म की अपनी भूमिका है इसलिए अपने धर्म के नियमों का पालन करके मनुष्य समाज के अन्य लोगों के कल्याण के सम्बन्ध में भी अपनी चेतना का परिचय देता है यदि समाज के अलग–अलग सदस्य धर्म के अपने अलग–अलग नियम बनाने लगेंगे तो समाज विश्रृंखल हो जायेगा। धर्म व्यक्तिगत तथा सामूहिक सुरक्षा की आधारशिला है, क्योंकि नियमरहित प्राकृतिक अवस्था अराजकता का पर्याय है। अराजकता के भय ने धर्म को दैवीय धरातल पर ले जाने की प्रेरणा दी और उधर इसके फलस्वरूप धर्म को राजा और सरकार दोनों से उच्चतर स्थान प्राप्त हुआ। धर्म की स्थिति को

और भी सुरक्षित करने के लिए एक और अवधारणा का प्रवर्तन किया गया कि धर्म की रक्षा दण्ड से होती है।[17]

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में धर्म की सत्ता का तात्विक विवेचन उस रूप में नहीं किया है, जैसाकि राजनीतिक चिन्तन की प्राचीन भारतीय परम्परा में मिलता है, वरन् अर्थशास्त्र में धर्म को सम्प्रभु शक्ति जैसे तत्व के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। अर्थशास्त्र में अनेक स्थानों पर धर्म को अभिव्यक्त रूप में सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्थापित किया गया है।

चारो वर्ण, चारों आश्रम, सम्पूर्ण लोकाचार और सभी धर्मों का रक्षक राजा है, इसलिए उसे धर्म का प्रवर्तक माना जाता है। धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजाज्ञा, ये विवाद के निर्णायक साधन होने के कारण राष्ट्र के चार पैर माने जाते हैं, इन्हीं पर सारा राज्य टिका है। इनमें भी धर्म से व्यवहार, व्यवहार से चरित्र और चरित्र की अपेक्षा राजाज्ञा श्रेष्ठ है। उनमें धर्म सच्चाई में, व्यवहार साक्षियों में, चरित्र समाज के जीवन में और राजाज्ञा राजकीय शासन में स्थित रहती है। धर्मपूर्वक प्रजा पर शासन करना ही राजा का निजी धर्म है। वही उसको स्वर्ग तक ले जाता है। इसके विपरीत प्रजा की रक्षा न कर उसको पीड़ा पहुँचाने वाला राजा कभी सुखी नहीं रहता है। पुत्र और शत्रु को उनके अपराध के अनुसार समान रूप से राजा द्वारा दिया हुआ दण्ड ही लोक और परलोक की रक्षा करता है। धर्म, व्यवहार, चरित्र और न्यायपूर्वक शासन करता हुआ राजा सारी पृथ्वी का स्वामित्व प्राप्त करे। जहाँ भी चरित्र तथा लोकाचार का धर्मशास्त्र के साथ विरोध की बात उपस्थित हो, वहाँ धर्मशास्त्र को ही प्रमाण मानना चाहिए। किन्तु किसी बात पर यदि राजा धर्मानुकूल हो जाये तो वहाँ राज–शासन को ही प्रमाण मानना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से धर्मशास्त्र का पाठ मात्र ही नष्ट होता है।[18]

प्राचीन भारतीय ग्रन्थकार प्रजा के राजनीतिक कर्तव्य को उसके साधारण कर्तव्य (धर्म) का अंग मानते हैं। वे राज्य तथा प्रजा में कोई विरोध स्वीकार नहीं करते, इसलिए दोनों के अधिकार और कर्तव्य की स्पष्ट सीमा निर्धारित करने की जरुरत नहीं समझते। राज्य का एकमात्र लक्ष्य ही प्रजा का इहलोक और परलोक में सभी प्रकार से अभ्युदय ही साधना है। राज्य न हो तो मात्स्य–न्याय फैल जाये,

अतः व्यक्ति के सुख और अभ्युदय के लिए राज्य का होना जरुरी है और यही राज्य का मुख्य उद्देश्य है। भारतीय राजनीतिक चिन्तकों ने इस पर अधिक नहीं सोचा कि यदि राजा और प्रजा अपने–अपने कर्तव्यों (धर्म) का पालन न करें तो क्या करना चाहिए। उन्हें भरोसा था कि दोनों पक्ष अपने–अपने धर्म व कर्तव्य का पालन करेंगे।[19]

कौटिल्य के अनुसार प्राचीन समय में राज्य के अभाव में 'मात्स्य–न्याय' का बोलबाला था, अतः यातनामय जीवन से छुटकारा पाने के लिए प्रजा ने उत्पन्न हुए अन्न का छठा भाग, व्यापार द्वारा प्राप्त धन का दसवाँ भाग और स्वर्ण का कुछ भाग कर के रूप में अपने राजा के लिए नियत किया। मनुष्यों ने राजा की आज्ञाओं के पालन की प्रतिज्ञा की और बदले में राजा ने अपने प्रजाजन के धन–जन की रक्षा का वचन दिया।

कौटिल्य ने राजा को राजर्षि बताते हुए उसके कुछ धर्म निर्धारित किये है। राजा काम–क्रोधादि छहों शत्रुओं का सर्वथा परित्याग करके इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे। विद्वान पुरुषों की संगति में रहकर बुद्धि का विकास करें, गुप्तचरों के माध्यम से स्वराष्ट्र एवं परराष्ट्र के वृतान्त को जाने, उद्योग द्वारा राज्य के योग–क्षेम का सम्पादन करे, राजकीय नियमों द्वारा अपने–अपने धर्म पर दृढ़ बने रहने के लिए प्रजा पर नियंत्रण रखे, शिक्षा के प्रचार–प्रसार से प्रजा को विनम्र और शिक्षित बनावें, प्रजाजन को धन–सम्मान प्रदान कर अपनी लोकप्रियता को बनाये रखे। दूसरों का हित करने में उत्सुक रहे। इन्द्रियों पर संयम रखें, परायी स्त्री, पराये धन व हिंसा प्रवृत्ति को त्याग दे, अधर्माचरण और अनर्थकारी व्यवहार का परित्याग कर दे। काम का सेवन इस तरह करे, जिससे धर्म और अर्थ को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे। परस्पर अनुबद्ध धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग का सन्तुलित उपभोग करे।[20]

राजा अपने धर्म का पालन ठीक ढंग से करे, इसके लिए कौटिल्य ने उसकी दिनचर्या निर्धारित की है। राज्य का केन्द्र बिन्दु होने के कारण राजा को अपनी समयबद्ध दिनचर्या के अनुसार व्यक्तिगत आवश्यकताओं के अतिरिक्त

राजकार्य, प्रशासनिक व्यवस्था, वित्त, राजस्व की देखभाल, घुड़शाला, हस्तिसेना, शस्त्रागार, गुप्तचरों का प्रबन्ध करना चाहिए।[21]

कौटिल्य द्वारा राजा की व्यस्त दिनचर्या के पीछे प्रबल कारण यही था कि राजा व्यसनों में लिप्त न रहे, राज्य कार्यों में व्यस्त रहकर प्रजा के हित के कार्य करता रहे। कौटिल्य राजा से एक मर्यादित, नियमित व संयमित जीवन की अपेक्षा रखता है। अतः राजा को उद्यमी, विवेकी और धर्मपरायण होने की सीख दी है। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि राजा यदि उद्यमी नहीं है तो उसके प्राप्त अर्थों और प्राप्तव्य अर्थों दोनों का नाश हो जाता है।

धर्म और राजनीति के सम्बन्धों का प्रथम क्षेत्र है राजा का आचरण। कौटिल्य के अनुसार राजा को सच्चरित्र तथा धर्मपरायण होना चाहिए। राजा के कार्य व्यापार के सम्बन्ध में राजा का धर्म है कि वह पुरोहित एवं आचार्य के साथ यज्ञशाला में उपस्थित होकर विद्वानों और तपस्वियों के कार्यों को खड़े ही खड़े अभिवादनपूर्वक देखे। कौटिल्य ने राजा को धर्मनिष्ठ होकर प्रजाजनों के कल्याण में शासन करने का अनुदेश दिया है। प्रजा के सुख में राजा का सुख और प्रजा के हित में राजा का हित है। अपने आपको अच्छे लगने वाले कार्यों को ही करने में राजा का हित नहीं है, बल्कि उसका हित तो प्रजाजनों को अच्छे लगने वाले कार्यों के सम्पादन करने में है।[22]

कौटिल्य ने धर्म और राजनीति में अभिन्न सम्बन्ध माना है। धर्म राज्य का आधार है। धार्मिक नियमों के पालन से राज्य की उन्नति होती है और प्रजाजन सुखी होते हैं। धर्मनिष्ठ राजा इस लोक में सुख भोगता हुआ परलोक में भी स्वर्ग का अधिकारी होता है।

राज्य धर्म के द्वारा प्रजा के व्यवहार को नियन्त्रित करता है। इस प्रकार धर्म राजकीय शक्ति के प्रजा पर प्रयोग की स्वाभाविक मर्यादा है। कौटिल्य ने राज्य को ऐसी अधिकृत संस्था माना है जो धर्म के संरक्षण के लिए भौतिक शक्ति का प्रयोग करती है। उसके वैध नियन्त्रण को लोगों द्वारा चुनौती नहीं दी जा सकती। राज्य द्वारा प्रयुक्त यह भौतिक शक्ति ही दण्ड है। इस प्रकार दण्ड की अनुल्लंघनीयता और धर्म की नैतिक शक्ति संयुक्त रूप से राज्य की सम्प्रभुता का

आधार है। धर्म को कौटिल्य ने मनुष्य के सार्थक और उद्देश्यपूर्ण जीवन के लिए आवश्यक नियमों की संहिता, नैतिक मूल्यों तथा राज्यसत्ता पर नियन्त्रण के रूप में चित्रित किया है। कौटिल्य न्यायिक प्रशासन का मुख्य उद्देश्य 'विधि का शासन' सुनिश्चित करना मानते हैं। न्यायाधीश जहाँ एक ओर राज्य की विधायी शक्ति को धर्म के नियन्त्रण में रखते थे, वहीं दूसरी ओर वे स्वयं भी विधि के नियन्त्रण से परे नहीं माने गये थे। इस प्रकार धर्म राज्य की विधायी, कार्यपालिका और न्यायिक शक्तियों का एक साथ मर्यादित रखने का माध्यम था।

कौटिल्य ने लौकिक कानूनों को धर्मशास्त्रों की अपेक्षा प्राथमिकता दी है और धर्म तथा धार्मिक संस्थाओं को राज्यसत्ता से ऊपर नहीं माना है, बल्कि उसके अधीन ही रखा है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कौटिल्य ने राजनीति के लिए धर्म की उपेक्षा की है, वह राजा को सर्वोपरि स्थान देते हुए भी उससे यह अपेक्षा करता है कि राजा मनमाने ढंग से काम नहीं करेगा। उसकी आज्ञा या आदेश उसकी निजी इच्छाओं पर आधारित न होकर विवेक, धर्म और न्याय से अनुप्रेरित होंगे। प्लेटों की भाँति कौटिल्य ने विवेक के सिद्धान्त पर यथेष्ट बल दिया है। इसके लिए धर्म साध्य न होकर राज्य की प्रगति एवं समृद्धि का प्रमुख साधन है। कौटिल्य धर्म और राजनीति के अभिन्न सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए लौकिकवाद को प्राथमिकता देते हैं। कौटिल्य का चिन्तन अनेक आधुनिक चिंतनों से ज्यादा उदारवादी है, क्योंकि आज भी अनेक इस्लामी देशों में धार्मिक कट्टरता को प्राथमिकता दी जा रही है। कह सकते हैं कि भारत के वर्तमान लौकिक (Secular) चिन्तन पर कौटिल्य का प्रभाव रहा है तो कोई विसंगति नहीं होगी।[23]

कौटिल्य राजा को अपनी वैयक्तिक पसन्द–नापसन्द रखने की अनुमति नहीं देते। उसका हित प्रजा को अच्छे लगने वाले कार्य सम्पादित करने में है।[24]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हमें राजपद की असीमित शक्ति को नियन्त्रित करने और लोक–कल्याणकारी स्वरूप का प्रतिपादन करने का प्रयास उपलब्ध होता है। राजा के ऊपर पहला नियन्त्रण धर्म का था। जिस तरह भी हो, धर्म का आचरण करना चाहिए।[25]

राजधर्म राजा का व्यक्तिगत धर्म नहीं है, उसका व्यक्तिगत धर्म कोई भी हो प्रजा को उससे कोई सरोकार नहीं, राजधर्म तो राजा के रूप में प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य और दायित्वों का निर्वाह है। उन नियमों की अनुपालना है जो शास्त्रों द्वारा उसे निर्देशित करते हैं। धर्म की भारतीय अवधारणा अद्‌भुत है। धर्म सर्वोपरि है, यह राज्य की सर्वोच्च शक्ति है, जिसके अधीन राजा स्वयं भी है। वह तो केवल धर्म की प्राप्ति के ध्येय तक पहुँचने का साधन है। धर्म की अनुपालना करना तो एक बड़ा सामाजिक एवं धार्मिक आदर्श है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में धर्म और राजनीतिक संस्थाओं का एक सुस्पष्ट सम्बन्ध स्थापित किया गया है। धर्म को राज्य की एक पूर्ववर्ती अनुशास्ति के रूप में स्वीकार किया गया है तथा राजकीय शक्ति के धर्म से अनुप्राणित रहने की अपेक्षा की गयी है। राजा को जहाँ एक ओर दण्ड शक्ति प्रदान की गयी है, वहीं उस पर धर्म का अनुशासन आरोपित कर उसे इस भाँति मर्यादित करने का प्रयत्न किया गया है कि वह अपनी शक्ति का प्रयोग प्रजा के हित में करे तथा इस शक्ति के प्रयोग के क्रम में राग–द्वेष व पक्षपात को आधार न बनाये। धर्म के व्यावहारिक, लौकिक और पारलौकिक इन समस्त पक्षों के अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म सम्प्रभु शक्ति के समतुल्य एक नैतिक, आध्यात्मिक और व्यावहारिक प्रेरणा के रूप में देखा जा सकता है और क्योंकि स्वयं शासक धर्म से विमुख नहीं हो सकता, अतः धर्म समस्त प्रकार के राजकीय अतिचारों के विरुद्ध प्रजा की शान्ति, सुव्यवस्था और कल्याण की प्रत्याभूति है।

राजा निरंकुश, स्वेच्छाचारी या स्वयंप्रभु नहीं है वरन् किसी अन्य सत्ता की वैधता के अधीन सक्रिय है। जो राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता या प्रजा को कष्ट पहुँचाता है, उसे मिथ्याभाषी पुरुष के बराबर दण्ड दिया जावे। राजा की दण्ड शक्ति ही जनता के व्यवहार को नियमित करती है और इस दण्ड शक्ति पर धर्म के सैद्धान्तिक या नैतिक नियन्त्रण के अतिरिक्त अन्य कोई भौतिक नियन्त्रण नहीं होगा, अतः राजा से ही यह अपेक्षा की गई है कि वह पक्षपातहीन होकर दण्ड शक्ति का प्रयोग करे।

राजा का धर्म है कि वह अपने आप को उन्नतिशील बनाने का यत्न करता रहे। दरबार में उपस्थित होने पर प्रत्येक व्यक्ति को मिलने की स्वतन्त्रता हो। सभी प्रकार के पुण्य स्थानों के कार्यों और बालक, बूढ़े, रोगी, दुःखी, अनाथ तथा स्त्रियों के सब कार्यों का स्वयं निरीक्षण करना चाहिए।

राजधर्म का अर्थ राजा के सम्पूर्ण कर्तव्यों से है, उसमें राजा, राज्य, प्रशासन व प्रजा के आपसी सम्बन्धों का विवेचन आ जाता है। अर्थशास्त्र में केवल अर्थ सम्बन्धी बातों का ही नहीं वरन् राज्य एवं शासन सम्बन्धी बातों का विवेचन सम्मिलित किया गया है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र को दण्डनीति का ही पर्याय माना है। सम्पूर्ण ज्ञान को चार विद्याओं में विभाजित किया। त्रयी में तीनों वेदों और उनके छः उपांगों का अध्ययन सम्मिलित किया गया, आन्वीक्षकी में साँख्य व योग दर्शन, वार्ता का सम्बन्ध कृषि, पशुपालन और व्यापार आदि से और दण्डनीति का अध्ययन विषय राजा के दण्ड की नीति अर्थात् शासन के कानून आदि से है।[26]

आन्वीक्षकी*, त्रयी**, वार्ता*** और दण्डनीति – ये चार विद्यायें हैं। कौटिल्य चारों विद्याओं को मानते हैं और उनकी यथार्थता धर्म तथा अधर्म के ज्ञान में बताते हैं।

आन्वीक्षकी, त्रयी और वार्ता इन सभी विद्याओं की सुख–समृद्धि दण्ड पर निर्भर है। दण्ड (शासन) को प्रतिपादित करने वाली नीति ही दण्डनीति कहलाती है। वहीं अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त कराती है; प्राप्त वस्तुओं की रक्षा करती है, रक्षित वस्तुओं की वृद्धि करती है और वहीं संवर्द्धित वस्तुओं को समुचित कार्यों में लगाने का निर्देश देती है। उसी पर संसार की सारी लोक यात्रा निर्भर है। इस लोक को समुचित मार्ग पर ले चलने की इच्छा रखने वाला राजा सदा ही उद्यतदण्ड रहे। पुरातन आचार्यों के मत ''दण्ड के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं, जिससे सभी प्राणियों को सहज ही वश में किया जा सके'', से कौटिल्य सहमत नहीं है, उनका कहना है कि ''कठोर दण्ड देने वाले राजा से सभी प्राणी उद्विग्न हो उठते हैं, किन्तु दण्ड में ढिलाई कर देने से भी लोक राजा की अवहेलना करने लगता है, इसलिए राजा को समुचित दण्ड देने वाला होना चाहिए।''

भलीभाँति सोच–समझकर कर प्रयुक्त दण्ड प्रजा को धर्म, अर्थ और काम में प्रवृत्त करता है। काम–क्रोध में वशीभूत होकर अज्ञानतापूर्वक अनुचित रीति से प्रयुक्त किया हुआ दण्ड, वानप्रस्थ और परिव्राजक जैसे निःस्पृह व्यक्तियों को भी कुपित कर देता है, फिर गृहस्थ लोंगों पर ऐसे दण्ड की क्या प्रतिक्रिया होगी, सोचा ही नहीं जा सकता है। इसके विपरीत, यदि दण्ड से व्यवस्था सर्वथा ही तोड़ दी जाये तो उसका कुप्रभाव यह होगा कि जैसे छोटी मछली को बड़ी मछली खा जाती है, वैसे ही बलवान व्यक्ति, निर्बल व्यक्ति का रहना दूभर कर देगा। दण्ड व्यवस्था के अभाव में सर्वत्र ही अराजकता फैल जाती है और निर्बल को बलवान सताने लगता है; किन्तु दण्डधारी राजा से रक्षित दुर्बल भी बलवान बना रहता है। राजा की दण्ड व्यवस्था से रक्षित चारों वर्ण–आश्रम, सारा लोक, अपने–अपने धर्म–कर्मों में प्रवृत्त होकर निरन्तर अपनी–अपनी मर्यादा पर बने रहते हैं।

धर्म की सत्ता के क्रियान्यन हेतु राज्य व दण्ड की उत्पत्ति हुई। राजा दण्ड के माध्यम से दुर्बलों को सुरक्षा प्रदान करता है। दण्ड वह भौतिक शक्ति है, जिसका धर्म की प्रतिष्ठा के लिए प्रयुक्त किया जाना अभीष्ठ है। शासन को प्रतिपादित करने वाली नीति दण्डनीति कहलाती है। कौटिल्य दण्डनीति को केवल दण्ड देने वाली शक्ति से सम्बन्धित नहीं मानता बल्कि उसके सम्पूर्ण सामाजिक एवं राजनीतिक सम्बन्धों से सम्बन्धित मानता है, जिनमें अन्य बातों के अतिरिक्त राजा, उसके मन्त्री व सेना आदि शामिल हैं।[27]

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में जहाँ धर्म और दार्शनिक चिन्तन पर जोर दिया गया, वहाँ ऐहिक उन्नति की भी उपेक्षा नहीं की गयी। योगशास्त्र में कहा गया है कि ''यतोऽभ्युदय निश्श्रेयस सिद्धिः स धर्मः'' अर्थात् धर्म का प्रलोभन जहाँ मोक्ष की प्राप्ति था, वहाँ सांसारिक अभ्युदय भी था। कौटिल्य ने जो चार विद्याऐं गिनायीं हैं, उनमें से एक दण्डनीति भी है। दण्डनीति या राजशास्त्र भारत के उन पुराने शास्त्रों में है, जो वैदिककाल से आज तक दिशा निर्देशन करते रहे हैं। दण्ड का अर्थ प्राचीन भारत में सजा नहीं था। उसके मूल में दम्भ है, मर्यादा है और दण्ड का वास्तविक अर्थ ही मनुष्यों की स्वेच्छाचारिता और उच्छृंखलता को मर्यादित करना है। कौटिल्य ने ''दण्डमूलाऽस्तिस्त्रो विद्याः'' कहकर अपने अर्थशास्त्र में अन्य तीन विद्याओं का मूल दण्डनीति को ही बताया है।[28]

कौटिल्य की मान्यता है कि दण्ड का सम्बन्ध उन सभी साधनों से है, जिनमें वस्तुओं का अर्जन, रक्षण, वृद्धि व वितरण किया जाता है।[29]

राजा का धर्म है कि वह दण्ड के माध्यम से दुर्बलों को सुरक्षा प्रदान करे। दण्ड की शक्ति को समुचित रीति से प्रयुक्त करने वाली राज्यसत्ता के अभाव में दुर्बलों की असुरक्षा अवश्यम्भावी है। धर्म के साथ प्रजा की रक्षा करना राजा का अपना धर्म है। इसी से राजा को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, जो राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता या व्यर्थ पीड़ा पहुँचाता है, उसको भी दण्ड देना चाहिए। दण्ड ही इस लोक व परलोक की रक्षा करता है। इसी से राजा पुत्र व शत्रु को उसके दोष के अनुसार दण्ड दिया करता है। राजा जब धर्म, व्यवहार, चरित्र व न्याय के अनुसार प्रजा का पालन करता है, तब ही वह चारों ओर समुन्द्र से घिरी हुई इस पृथ्वी का शासन करने में समर्थ होता है। राजा को कहीं भी चरित्र, धर्मशास्त्र, व्यावहारिक, विधिशास्त्र का विरोध दिखाई दे वहीं वह धर्मानुसार न्याय से ही उनका निर्णय करे। यदि धार्मिक न्याय के सम्भाव व्यावहारिक शास्त्र का विरोध हो तो वहाँ न्याय धर्म ही प्रमाण है, ऐसे स्थान पर राज्य शासन का निषेध कर देना चाहिए।[30]

कौटिल्य ने राजा को अत्यन्त उच्च और महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। राजा के आदेशों को धर्मसहित सत्ता के अन्य सभी स्रोतों से ऊपर माना है। यद्यपि उसका कहना है कि यह आदेश धर्म के अनुसार होना चाहिए, क्योंकि राजा धर्मप्रवर्तक है; किन्तु स्पष्ट है कि धर्म की व्याख्या करने, बल्कि उसे लागू करने के क्रम में भी वह अपनी इच्छानुसार धर्म में परिवर्तन कर सकता है। कौटिल्य के विधान के अधीन राजा को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार धर्म की व्याख्या करने की छूट होगी।

सम्प्रभुता नामक आधुनिक राज्य के तत्त्व की समता कौटिल्य के स्वामी और दण्ड से ही जा सकती है, क्योंकि दण्ड के आधार पर ही राज्य को शक्तिमान कहा जाता था। आन्तरिक और बाह्य दोनों दृष्टियों से दण्ड के माध्यम से राज्य की रक्षा सम्भव थी।

धर्मानुसार कार्य करने के बावजूद राजा सम्प्रभु था। भारत में धर्म का बड़ा ही व्यापक अर्थ था। समस्त मानवोचित कार्यों के समूह को धर्म कहा जाता था,

जबकि आधुनिक धर्म विभिन्न सम्प्रदायों की अपनी अलग–अलग विशेषताओं से युक्त होता है। कौटिल्य के अनुसार राजा जनकल्याण के निमित्त था जिसके कार्यों का माध्यम धर्म था। अतः धर्म के आधार पर शासन करना राजा की सम्प्रभुता को हीन नहीं बनाता, अतः स्पष्ट है कि राजा में सम्प्रभुता थी, जिसे वह दण्ड के माध्यम से चरितार्थ करता था।[31] रक्षा न करे तो सब लोग अन्धकार में डूब जाएँ। यह उद्दण्ड मनुष्यों का दमन करता है और दुष्टों को दण्ड देता है, अतः दण्ड और दमन के कारण विद्वान् लोग इसे 'दण्ड' कहते हैं। सारा संसार दण्ड से विवश होकर ही सुमार्ग में स्थित रहता है, दण्ड के भय से डरा हुआ मनुष्य ही मर्यादा–पालन में प्रवृत्त होता है। विधाता ने दण्ड का विधान इस प्रयोजन से किया है कि ब्राह्मणादि चारों वर्णों के लोग आनन्द से रहें। सबमें अच्छी नीति का बर्ताव हो तथा भूमण्डल पर धर्म और अर्थ की रक्षा होती रहे।[32]

राज्य संस्था में दण्ड ही सर्वप्रधान है। वही वह सर्वोपरि है, जिसके द्वारा अराजक दशा का अन्त होकर राज्य संस्था का प्रादुर्भाव होता है। कौटिल्य और अरस्तू दोनों ने राजनीति की समीक्षा यथार्थ के धरातल पर रखकर की है, लेकिन जहाँ अरस्तू कानून को शासक के ऊपर मानता है, वहीं कौटिल्य की दृष्टि में राजा कानून से ऊपर है। राजा का महत्व केवल इस कारण है, क्योंकि वह दण्ड का प्रयोक्ता है; पर सब कोई दण्ड का प्रयोग नहीं कर सकते, उसे प्रयुक्त करने के लिए मनुष्य में विशेष योग्यता का होना अनिवार्य है। यदि राजा में यह योग्यता व क्षमता न हो तो वह अपने पद पर कदापि नहीं रह सकता। जो कोई राजा इस धर्मरूप दण्ड का पालन न करे, उसकी हत्या में कोई भी दोष नहीं है।[33]

दण्ड का प्रयोग सही तरीके से किया जावे तो वह जनता को धर्म, अर्थ और काम में योजित करता है, यदि काम, क्रोध और अज्ञान के कारण उस (राजशक्ति) का दुरूपयोग किया जाए, तो वानप्रस्थ और परिव्राजक भी कुपित हो जाते हैं, गृहस्थों की तो बात ही क्या? यदि दण्ड का प्रयोग किया ही न जाए, तो मात्स्य–न्याय उत्पन्न हो जाता है। दण्डधर के अभाव में बलवान् बलहीनों को ग्रसने लगते हैं।[34]

अर्थशास्त्र में राजा को सर्वोच्च न्यायिक अधिकारी तथा राजा को न्याय का स्रोत माना गया है। राजा की न्यायिक शक्ति को कौटिल्य ने विधि के अधीन माना है और राजा से यह अपेक्षा की है कि वह अपनी इस शक्ति का प्रयोग विधि के अनुसार ही करे अन्यथा वह स्वयं भी दण्ड का पात्र होगा। न्यायिक शक्ति राजा की निजी शक्ति नहीं है, एक संस्थागत शक्ति है अतः इसका उपयोग एक संस्थागत रूप में तथा विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही किया जाना चाहिए।

कौटिल्य ने न्यायालयों के दायित्वों में नागरिकों तथा उनके अधिकारों की सुरक्षा, श्रेष्ठ शासन के लाभों को सुनिश्चित करना तथा व्यक्तियों द्वारा उनकी व्यक्तिगत, आधिकारिक तथा व्यावसायिक स्थिति में किये गये अपराधों के लिए उन्हें समुचित दण्ड देना आदि को शामिल किया है।

कौटिल्य ने न्यायालयों का कार्यक्षेत्र दो भागों में विभक्त किया था –

धर्मस्थीय : इसके अन्तर्गत विवाह, स्त्रीधन, दायभाग, ऋण, दासकल्प, साहस, स्त्रीसंग्रहण, वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य और द्यूतसमाह्वय का परिगणन किया गया है। जनपद, सन्धि, संग्रहण, द्रोणमुख और स्थानीय चार न्यायालय नीचे से केन्द्र तक थे। तीन धर्मस्थ (विधित) और तीन न्यायाधीश प्रत्येक न्यायालय में नियुक्त किये जाते थे। जनपथ सन्धि में दो राज्यों एवं जनपदों की सीमा के विवाद रखे जाते थे। संग्रहण दस ग्राम द्रोणमुख चार सौ ग्राम और स्थानीय आठ सौ ग्रामों का न्यायालय था। इनमें सीमा विवाद के साथ उक्त विषयों के विवादों का निर्णय किया जाता था। न्यायाधीश निर्णय में विधि के अतिरिक्त देश, काल और वर्गों के आधार को प्राथमिकता देते थे। दायभाग में जाति, संघ और गाँवों के नियम के अनुसार ही निर्णय किया जा सकता था। समान्यतया निर्णय के आधार पर धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन थे। इनके अतिरिक्त ग्रामसभाओं के माध्यम से निर्णय होता था। ग्रामसभाओं में राज्य की ओर से न्यायाधीशों की नियुक्ति नहीं होती थी। गाँव के किसान, गोपालक, वृद्ध तथा अन्य बाहर के अनुभवी पुरुष – एक या अनेक मिलकर निर्णय करते थे। इन सभाओं के कार्यक्षेत्र में घर, खेत, बाग–बगीचा, सीमा–विवाद, तालाब और बाँध सम्बन्धी अपराध थे। क्षेत्र की सीमा

का विवाद ग्राम वृद्धों की सभा करती थी। यदि उनमें मतभेद हो जाये तो धार्मिक एवं पवित्र व्यक्ति, जिन्हें प्रजा स्वीकार करती हो, वे निर्णय कर सकते थे। इनके विकल्प में पंच निर्णय की व्यवस्था थी। ग्रामों एवं अन्य सभाओं के साथ परिषद ही न्याय करती थी। इसके कार्यक्षेत्र में जातीय विवाद आते थे।[35]

कण्टकशोधन न्यायालय : सामाजिक एवं राष्ट्रीय हित की अवहेलना कर अपने स्वार्थ की पूर्ति करने वाले को कण्टक कहा गया, उनसे समाज एवं राष्ट्र की रक्षा करना न्यायालय का कार्य था, इसलिए इसे कण्टकशोधन न्यायालय कहा गया था। इसमें शिल्पी, व्यापारी, दैवीविपत्ति और चोरों से प्रजा की रक्षा, आशुमृतक परीक्षा, शुद्ध एवं चित्र दण्ड का परिगणन किया गया था। कण्टकशोधन न्यायालय के न्यायाधीश राजकर्मचारी के रूप में कार्यरत थे। इस न्यायालय के मुख्य कार्य थे – हत्या एवं डाका जैसे गम्भीर अपराधों की सत्यता के लिए आयोग नियुक्त करना, विवेक एवं वैयक्तिक अधिकार से निर्णय को अन्यथा रूप देने से रोकना और राजकर्म और न्यायाधीशें से किसी प्रकार की न्यायिक दुर्व्यवस्था का निरीक्षण करना आदि। न्यायाधीशों पर इतना नियन्त्रण था कि वे न्यायालय में आये हुए वादी एवं प्रतिवादी को धमकाने भर्त्सना करने, गाली या अपमान करने जैसा व्यवहार नहीं कर सकते थे। वे अनावश्यक प्रश्न नहीं पूछ सकते थे।[36]

न्यायालय प्रातःकाल से प्रारम्भ होते थे। उनमें कार्यवाही लिखने के लिए लेखक था। शीघ्र न्याय की व्यवस्था थी। स्थानीय न्यायालयों से केन्द्र तक का परस्पर वैधानिक सम्बन्ध था।

प्राचीन भारत में न्यायिक प्रणाली धर्म पर आधारित थी। धर्म शब्द का अर्थ व्यापक था। जैसे–व्यक्तिगत धर्म, सामाजिक धर्म, अध्यात्म धर्म, वर्ण धर्म एवं आश्रम धर्म आदि। हिन्दू न्यायिक सिद्धान्त में न्यायिक प्रक्रिया सम्बन्धित धर्म का अर्थ, वर्ण और आश्रम के नियमों से संबंधित अधिक प्रतीत होता है। वर्णाश्रम नियम मनुष्यों द्वारा किए जाने वाले सभी कार्यों से सम्बन्धित थे और प्रत्येक व्यक्ति इन नियमों को मानने को बाध्य था। इन नियमों के विपरीत आचरण करने पर राजा द्वारा न्याय करने की जिम्मेदारी थी तथा राजा द्वारा किया जाने वाला न्याय अपनी इच्छा का न होकर धर्म पर आधारित नियमों की परिधि में होता था। न्यायिक

प्रक्रिया में राजा द्वारा नियत किए गए कानूनी व्यवहार को न्यायिक धर्म की संज्ञा प्राप्त थी। हिन्दू न्यायिक प्रणाली में नियम विषय पूरक होते थे, न कि कर्मकाण्डपरक तथा वे ''व्यवहार'' नाम से जाने जाते थे।[37]

राजा का प्रमुख धर्म प्रजा रक्षण था, परन्तु यह तभी सम्भव था जब उसे न्याय की प्राप्ति हो सके। कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के अधिकार क्षेत्र भिन्न–भिन्न थे, यद्यपि दोनों का प्रधान राजा ही था। कार्यपालिका केवल कार्यान्वयन का ही कार्य करती थी, वह हस्तक्षेप के अतिरिक्त स्वयं विवाद का प्रारम्भ भी नहीं कर पाती थी। न्याय वैयक्तिक विषय नहीं अपितु विधि शासन से नियन्त्रित था। फलतः वह समाज एवं विधि दोनों की सीमाओं में रहकर सामाजिक कल्याण का प्रतीक बना रहा। राजा न्यायाधीशों और सभ्यों की सहायता से ही न्याय करता था। राजा ही मुख्य न्यायाधीश होता था, परन्तु उसे ब्राह्मण एवं योग्य व्यक्तियों को ही अपनी सहायता के लिए न्यायाधीश नियुक्त करना पड़ता था, जिसे ''प्राड्विवाक'' कहा जाता था। न्यायाधीश राजा के विधान के प्रति नहीं अपितु शास्त्र के प्रति उत्तरदायी थे। राजा के शासन का विधान स्वयं शास्त्र करते थे। राजशासन का विधान शास्त्र के आधार पर ही हो सकता था, राजा की इच्छा पर नहीं।[38]

न्यायाधीशों को न्याय करते हुए बहुत सावधानी बरतनी पड़ती थी। यदि वे ठीक प्रकार से न्याय कार्य न करें, तो उन्हें भी दण्ड मिल सकता था।[39]

राजा का धर्म है कि यदि न्यायाधीश परस्पर विवाद करते हुए वादियों एवं प्रतिवादियों को डाँटे–डपटें, उनकी भर्त्सना करें, न्यायालय से निकाल दें या बोलने न दें तो सबसे पूर्व उसे ही पूर्व साहस दण्ड दिया जावे। यदि वह उनके प्रति वाक्पारुष्य (कठोर वाणी) का प्रयोग करे, तो दुगना दण्ड दिया जावे। यदि न्यायाधीश पूछने योग्य बात को न पूछ, न पूछने योग्य बात को पूछे, पूछकर बीच में ही छोड़ दे, सिखाये, याद दिलाये या किसी द्वारा पहले कही गई बात को दोहराए तो उसे ''मध्यम साहस दण्ड'' दिया जावे। यदि न्यायाधीश उचित परिस्थिति के सम्बन्ध में न पूछे, अनुचित परिस्थिति के विषय में पूछे, बेमौके बात को टाले, छल करे, देरी करके दोनों पक्षों को थकाये, जिस बात पर मुकदमे का

फैसला हो सकता हो, उसे बीच में छोड़ जाए, गवाहों को सहायता दे या निर्णय हुई बात को फिर से उठाये, तो उसे ''उत्तम साहस दण्ड'' दिया जावे। यदि कोई न्यायाधीश बार–बार ऐसे अपराध करे, तो उसके दण्ड की मात्रा को दुगना कर दिया जाए और उसे अपने पद से च्युत कर दिया जाए। न्यायालय के अन्य कर्मचारियों को भी दण्डित किया जाए यदि वह अपने कार्य में शिथिलता बरतें।[40]

प्राचीन भारत में न्यायालय भली–भाँति व्यवस्थित थे और न्याय करते हुए उनमें निश्चित कार्यविधि का अनुसरण किया जाता था। सुनिश्चित कानूनों और उनका उल्लघंन करने पर सुनिर्धारित दण्ड व्यवस्था का विधान था।

राजा राज्य का प्रमुख था। न्यायिक, विधायी और कार्यपालिका तीनों शक्तियाँ उसी में निहित थी। युद्धकाल में सेनापति से परामर्श लिया जाता था, लेकिन राजा की नीति मान्य होती थी। वह न्याय का स्रोत भी था। जनता को न्याय प्राप्त हो रहा है या नहीं यह देखना उसी का कर्तव्य था। जब राजा न्यायालय में हो तो वह प्रार्थियों से प्रतीक्षा नहीं करवाएगा यदि उसने ऐसा किया या राजकार्य को सरकारी कर्मचारियों पर छोड़ दिया तो राज्य में खलबली मच जाएगी, लोग असंतुष्ट रहने लगेंगे और वह स्वयं शत्रुओं का शिकार बन जाएगा। इसलिए देवताओं, विद्यार्थियों, वेद–विशारद, ब्राह्मणों, गाय–बैलों, तीर्थों, बच्चों, बूढ़ों, दुःखियों, असहायों और स्त्रियों के हित का स्वयं ध्यान रखना ही राजा का धर्म था। राजा का कर्तव्य था कि वह न्यायपूर्वक राज–कार्य को सम्पन्न करने के लिए अपने सुख–स्वार्थ को त्याग कर दिनभर न्यायालय में बैठा रहे।[41]

कौटिल्य ने अमात्य व मन्त्रियों को राज्य का महत्वपूर्ण अंग मानते हुए कहा है कि जिस प्रकार गाड़ी का एक पहिया दूसरे की सहायता के बना अनुपयुक्त होता है, उसी प्रकार राज्य चक्र भी अमात्य आदि की सहायता के बिना एकाकी राजा के द्वारा नहीं चलाया जा सकता। इसलिए राजा को उचित है कि वह योग्य अमात्यों को रखे और उनके मत को बराबर सुने।

राजा साधारणतः मन्त्रियों की सलाह पर ही चलते थे, यद्यपि सब बातों की पूरी जिम्मेदारी राजा पर ही होती थी। मन्त्री का सबसे बड़ा और प्रथम धर्म होता था कि राजा को कुमार्ग पर जाने से रोके और उस पर नियन्त्रण रखे। मन्त्री भी

बराबर राजा और प्रजा दोनों के हित का ध्यान रखते थे। फिर भी साधारण स्थिति में मन्त्रियों की मन्त्रणा पर अन्तिम निर्णय करने का काम राजा का ही था, पर वह साधारणतः मन्त्रियों की सलाह पर निर्णय लेता था। राजा और मन्त्रियों में सौहार्द्र रहता था।[42]

''स्वाम्यमात्य जनपद दुर्ग कोश दण्ड मित्राणि प्रकृतयः'' अर्थात् स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड (सेना) और मित्र, ये सात प्रकृति हैं।[43]

यद्यपि सातों तत्वों के समुचित संतुलन से ही राज्य सुचारू रूप से चल सकता है, किन्तु कौटिल्य की मान्यता है कि पहले वाला तत्व बाद वाले तत्व की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है जैसे – जनपद की अपेक्षा अमात्य, दुर्ग, कोष, दण्ड की अपेक्षा जनपद, और निःसंदेह सभी तत्वों में राजा सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है और इन सबका आधार भी है।

स्वामी – जिसका तात्पर्य प्रमुख या मालिक है, सभी तत्वों के मूलरूप में है। कौटिल्य ने उच्च कुल, बुद्धिमानी, उत्साही और आत्मसम्मत इसके गुण बतलाये हैं।

अमात्य – अमात्य का प्रयोग कौटिल्य ने मंत्री के अर्थ में नहीं किया है अपितु अमात्य वर्ग से तात्पर्य प्रमुख पुजारी, मन्त्रियों, संग्रहकर्ता, खजांची, दीवानी, फौजदारी, प्रशासन में नियुक्त अधिकारियों, अन्तःपुर के लिय नियुक्त अधिकारियों, दूत तथा विभिन्न विभागों के प्रमुख से है। अमात्य कुलीन, बुद्धिमानी, पवित्र ह्रदय, शूर और स्वामी में अनुराग रखने वाले होने चाहिए।

जनपद – जनपद से तात्पर्य क्षेत्र और जनसंख्या से है। कौटिल्य के अनुसार क्षेत्र की अच्छी जलवायु पशुओं के लिए उपजाऊ भूमि और थोड़े परिश्रम से अधिक उत्पादन वाला होना चाहिए। एक गाँव में सौ से पाँच सौ एक परिवार होने चाहिए। मध्य में तथा सीमा प्रान्त में किले हों, आपत्ति में पहाड़ वन आदि के होने से देशवासियों की रक्षा की जा सके।

दुर्ग – दुर्ग से तात्पर्य किले युक्त राजधानी से है। राजा को चाहिए कि चारों दिशाओं मे, जनपद के सीमा स्थानों को ही दुर्ग के रूप में बनवा ले अर्थात्

यथावसर युद्ध के लिए ऐसे ही स्थानों का आश्रय ले। इस प्रकार के दुर्ग मुख्यतया चार प्रकार के होते हैं – औदक (जिसके चारों ओर जल हो), पार्वत (बड़ी–बड़ी चट्टानों अथवा पर्वत की कन्दराओं के रूप में निर्मित), धान्वन (रेगिस्तान के बीच में होना चाहिए जिसके आस–पास घास, वृक्ष, जल आदि कुछ भी न हो), वन दुर्ग (जिसके चारों ओर दलदल या कांटेदार झाड़ियाँ हों)।

कोष – धर्मपूर्वक एकत्र किया हुआ हो और मात्रा में इतना हो कि आपत्तिकाल में भी निर्वाह हो सके। सेना की स्थिति कोष पर ही निर्भर है। चतुर्वर्ग के अंगभूत धर्म और काम की प्राप्ति भी कोष पर निर्भर है।

दण्ड या सेना – कौटिल्य के अनुसार इसमें पैदल, सेना, रथ, हाथी और घुड़सवार होने चाहिए, जिसमें वंशानुगत, भाडे के जंगल आदि के सैनिक सम्मिलित हों। सेना में प्रायः क्षत्रिय होने चाहिए।

मित्र – कौटिल्य ने इसे भी राज्य का आवश्यक अंग मानते हुए कहा है कि मित्र कृत्रिम न होकर सहज होने चाहिए, जिससे कि कभी उनसे विच्छेद होने की सम्भावना न हो और आवश्यकता पड़ने पर सहायता के लिए आ सके।[44]

कौटिल्य ने राजा के लिए मन्त्रिपरिषद की आवश्यकता बताते हुए मन्त्रियों की संख्या तीन या चार निर्धारित की है, जिससे कि निर्णय में अनर्थकारी महान दोष उत्पन्न न हो। मन्त्रियों की योग्यता पर अत्यधिक बल दिया है। कौटिल्य के अनुसार निष्कलंक व्यक्तिगत जीवन बौद्धिक चातुर्य, उचित निर्णय कर्तव्य की उच्च भावना और लोकप्रियता मन्त्रिपरिषद के लिए आवश्यक योग्यताऐं होनी चाहिए।[45]

राजा का धर्म है कि देश, काल और कार्य के अनुसार एक या दो मन्त्रियों के साथ अथवा अमुक कार्य पर नियुक्त मन्त्रियों के साथ गुप्त स्थान पर मंत्रणा करे। राजा का धर्म है कि वह अपने आपको उन्नतिशील बनाने का यत्न करता रहे। दरबार में उपस्थित होने पर प्रत्येक व्यक्ति को मिलने की स्वतन्त्रता हो। सभी प्रकार के पुण्य स्थानों के कार्यों और बालक, बूढ़े, रोगी, दुखी, अनाथ तथा स्त्रियों के सब कार्यों का स्वयं निरीक्षण करना चाहिए।

समस्त राज्य प्रशासन का केन्द्र बिन्दु राजा ही है, वही सभी प्रकार के प्राधिकारों का स्रोत है, शासन सम्बन्धी अन्तिम सत्ता भी उसी में निवास करती है। राज्य के समस्त कार्यों का सम्पादन तथा शक्तियों का प्रयोग राजा के नाम से ही किया जाता था। चूँकि राजा अकेला अपने विशाल साम्राज्य का प्रशासन नहीं कर सकता था, इसलिए उसे अन्य प्रकार के अधिकारियों और कर्मचारियों की आवश्यकता थी। इसी दृष्टिकोण से कौटिल्य ने एक केन्द्रीकृत एवं सुगठित प्रशासनिक संरचना का विवरण प्रस्तुत किया है।

राज्य में सुशासन स्थापित करने के लिए राजा का धर्म है कि सर्वप्रथम वह स्वयं इन्द्रियजयी होकर मर्यादित जीवन बिताये। राज्य में राजा स्थानीय होता है और दण्डशक्ति का प्रयोग उसी में निहित रहता है, अतः यह स्वाभाविक है कि यदि राजा उत्थानशील हो तो उसके कर्मचारी भी उत्थानशील होते हैं, यदि वह स्वयं प्रमादी हो, तो उसके कर्मचारी भी प्रमादी बन जाते हैं। काम–क्रोधादि छहों शत्रुओं का सर्वथा परित्याग करके इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे। विद्वान पुरुषों की संगति में रहकर बुद्धि का विकास करे। गुप्तचरों द्वारा स्वराष्ट्र एवं परराष्ट्र के वृतान्त को अवगत करे। सुयोग्य अमात्यों की नियुक्ति कर उनके परामर्शी को हृदयंगम करें।[46]

मन्त्रियों की नियुक्ति राजा करते थे। प्राचीन भारत में ऐसी कोई केन्द्रीय प्रतिनिधि सभा न थी, जिसके प्रति मन्त्री जिम्मेदार होते, अतः प्रत्यक्ष रूप से भी राजा के प्रति जिम्मेदार थे और अप्रत्यक्ष रूप से ही जनमत के प्रति। साधारणतः राजा अपनी मन्त्रियों का बहुत सम्मान करते थे और मन्त्री राज्य के स्तम्भ माने जाते थे। मन्त्रिमण्डल का राज्य–कार्यभार पर प्रायः अच्छा असर पड़ता था और वैधानिक तौर से जनता के प्रति उत्तरदायी न होने पर भी मन्त्रिमण्डल अपनी शक्तिभर प्रजा के हित साधन का प्रयत्न करता था, जिस प्रकार ज्ञान केन्द्र को मस्तिष्क के आदेशों को पूरा करने के लिए शरीर के विविध अंगों और इन्द्रियों की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार सपरिषद् राजा के लिए भी केन्द्रीय शासन कार्यालय तथा अनेक कार्याध्यक्षों की आवश्यकता है।

शासन की उत्तमता बहुत कुछ सचिवालय के कर्मचारियों की कार्यपटुता और केन्द्रीय शासन के आदेशों के ठीक–ठीक लेखबद्ध करने की योग्यता पर निर्भर करती थी। कौटिल्य का कथन हैं कि शासन (सरकारी आदेश) ही सरकार है। मन्त्रिपद वर्तमान की भाँति अनुभवी और ऊँचे पदाधिकारी या अमात्यों को ही प्रदान किया जाता था। अमात्यों का चयन भी ऊँचे दर्जे की शिक्षा, कार्यपटुता और स्वामिभक्ति के आधार पर किया जाता था। शब्दाडम्बर बचाते हुए, प्रभावशाली शैली में सरकारी आदेश की आवश्यकता समझते हुए, समयक्रम से या महत्व के क्रम से तथ्यों को देखते हुए लेख लिखा जाता था।[47]

मन्त्री व अमात्य दो अलग–अलग पद थे। राजा को अमात्य की नियुक्ति का अधिकार तो था, किन्तु मन्त्री की नियुक्ति का नहीं अर्थात् अमात्य की अपेक्षा मन्त्री का पद बडा होता था, तथा उसके चयन के लिए केवल राज्य नहीं अन्य मन्त्रियों के सहयोग सुझाव की आवश्यकता होती थी, जिस प्रकार अकेले राजा द्वारा निर्णय लेने का विरोध किया गया है, उसी प्रकार अकेले मन्त्री चुनने का अधिकार भी राजा को नहीं था। अर्थशास्त्र में मन्त्रिपरिषद सम्बन्धी विचारों के मूल्यांकन से स्पष्ट है कि राजा का धर्म था कि वह राष्ट्र सम्बन्धी निर्णय अकेले न ले, अपितु मन्त्रिपरिषद के सहयोग तथा बहुमत समर्थित निर्णय ही ले। राजा का प्रमुख कर्तव्य प्रजा का हित ही था, अतः राजतन्त्र होते हुए भी राजा स्वतन्त्र व निरंकुश नहीं था, उस पर मन्त्रिपरिषद का नियन्त्रण था। राजतन्त्र के मूल में प्रजातान्त्रिक मूल्य विद्यमान थे।[48]

प्रशासनिक व्यवस्था पदसोपानीय थी, उसका क्षेत्राधिकार शासन की अन्तिम इकाई ग्राम तक फैला हुआ था। राज्य प्रान्तों में, प्रान्त जिलों में तथा जिले ग्रामों में विभाजित थे। प्रत्येक ग्राम में 100 से 150 तक परिवार निवास करते थे। ग्राम के मुखिया को (प्रशासनिक अध्यक्ष) ग्रामिका कहा जाता था। गोप और स्थानिक को कौटिल्य ने कन्ट्री ऑफिशियल्स के रूप में नियुक्त किया है।

प्रान्त (जनपद) के प्रमुख अधिकारी को समाहर्ता तथा जिले के प्रमुख को ''स्थानिक'' कहा जाता था। जिले 'द्रोणमुख' में, 'द्रोणमुख' 'कर्वातिक' में तथा 'कर्वातिक' 'संग्रहण' में विभाजित थे। 'ग्रामिका' ग्रामसभा की सहायता से ग्राम का

प्रशासन संचालित करते थे। 'ग्रामिका' ही स्थानीय मुद्दों का निपटारा करता था, पारिवारिक विवादों को तथा छोटे–मोटे आपराधिक मामलों को सुलझाता था। ग्रामिका ही ग्राम प्रशासन तथा केन्द्रीय प्रशासन के मध्य कड़ी का कार्य करता था।

कई ग्रामों के ऊपर 'गोपा' प्रशासनिक अधिकारी के रूप में कार्य करता था। उसका कार्य विभिन्न 'ग्रामिकाओं' के कार्यों की देखरेख करना व निरीक्षण करना था।

'गोपों' के ऊपर 'स्थानिक' का प्रशासन था जो कि जिले का प्रमुख अधिकारी था। प्रान्तों का गर्वनर समाहर्ता था जो कि केन्द्रीय प्रशासन के प्रति उत्तरदायी था। अर्थशास्त्र की इस पदसोपानीय व्यवस्था में ग्राम ही मूल आधार हैं और शिखर पर राजा है। केन्द्रीय स्तर पर प्रशासनिक व्यवस्था के पाँच प्रमुख अंग थे – 1. राजा (मुख्य कार्यकारी अधिकारी, 2. मन्त्रिपरिषद, 3. विभिन्न विभागाध्यक्ष, 4. अधीनस्थ प्रशासनिक अधिकारी, 5. ग्रामीण विकास अधिकारी।

राजा का धर्म है कि वह स्वयं महत्वपूर्ण विभागों का निरीक्षण और परीक्षण करे। विभिन्न स्तरीय अधिकारियों एवं कर्मचारियों के बीच समन्वय स्थापित करने तथा उच्च स्तरीय पदाधिकारियों द्वारा अधीनस्थ अधिकारियों तथा कर्मचारियों के कार्यों के समुचित पर्यवेक्षण की व्यवस्था को सुनिश्चित करे। कौटिल्य ने सर्वाधिक बल इस बात पर दिया है कि राजा अपने बही–खातों का सही–सही हिसाब रखे, क्योंकि इसके अभाव में वित्तीय व्यवस्था का सही नियन्त्रण व प्रबन्धन सम्भव नहीं है। प्रत्येक विभाग को अपनी वार्षिक आय–व्यय का लेखा–जोखा लेखा विभाग को जमा करवाना चाहिए, लेखा विभाग को सम्पूर्ण विवरण का परीक्षण एवं अंकेक्षण करना चाहिए।[49]

वरिष्ठ अधिकारियों में करीब 26 विभागाध्याक्षों का कौटिल्य वर्णन करते हैं, इनमें प्रमुख अधिकारी हैं – अयुधगाराध्यक्ष (अस्त्र–शस्त्र आदि का प्रभारी), सीताध्यक्ष (कृषि अधिकारी), दुर्गपाल, सन्निधाता (राज्य के भण्डार गृहों का प्रभारी), प्रदेष्टा (फौजदारी मुकदमों का फैसला करने वाला न्यायाधीश), व्यावहारिक (दीवानी मामलों का फैसला लेने वाला न्यायाधीश) समाहर्त्ता (राज्य के आंतरिक मामलों का प्रभारी) गणिकाध्यक्ष (वैश्याओं पर नियन्त्रण रखने वाला), मुद्राध्याक्ष (राज्य की मुद्रा

का प्रभारी), कार्मान्तिका (कारखानों का प्रभारी)। अर्थशास्त्र लोक प्रशासन की दृष्टि से एक अनुपम ग्रन्थ है। राजा का धर्म है कि वह प्रजा के रंजनार्थ राजशक्ति का सरकारी यन्त्र के माध्यम से उपयोग करे। अपने धर्म का पालन इस तरह करे कि समाज के सभी लोग अपने कर्तव्य का पालन करते हुए स्वतन्त्रता का आनन्द ले सकें।[50]

कौटिल्य द्वारा निर्धारित सिद्धान्त वित्तीय प्रशासन की कसौटी पर खरे उतरते हैं क्योंकि कर निर्धारण के सम्बन्ध में लोकहित का ध्यान रखना राजा का धर्म है। अर्थशास्त्र में सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था सुगठित व सुसज्जित है। पुलिस प्रशासन को भी कर्तव्यहीनता के लिए दण्डित किये जाने का प्रावधान था। सम्पूर्ण उत्तरदायी प्रशासन था यद्यपि राजा सम्पूर्ण शक्तियों का स्रोत था तथापि न तो वह जनहित की उपेक्षा कर सकता था, न ही जनहित के विरुद्ध कोई कार्य कर सकता था। ग्रामीण प्रशासन विकेन्द्रित प्रशासनिक व्यवस्था का आदर्श उद्धरण हैं। वित्तीय प्रशासन जो कि आर्थिक सुदृढ़ता का प्रतीक है, उसे बनाये रखना राजा का कर्तव्य है। समृद्ध कोष और सुदृढ़ राजस्व व्यवस्था राज्य की प्रगति, समृद्धि और विस्तार सुव्यवस्थित वित्तीय प्रशासन से ही सम्भव है।

राजा का धर्म है कि दण्ड, विष्टि और कर आदि द्वारा उत्पन्न हुई बाधाओं के कारण नष्ट हुई कृषि को बचावे। किसानों से अधिक बेगार न ले, कर भी नियमानुसार उचित ही ले। चोर हिंसक जन्तु, विष प्रयोग तथा अन्य प्रकार की व्याधियों से पशुओं की रक्षा करे। खनिज पदार्थों के बेचने के स्थान, मृगवन, हस्तिवन, गाय–बैल आदि की रक्षा और उन्हें बढ़ाने के लिए स्थान, जलमार्ग और स्थलमार्ग और बड़े–बड़े जलाशयों के बाँध बनाये। गाँवों की सीमा निर्धारित करे।[51]

खजाने के कम हो जाने या अकस्मात् ही अर्थसंकट उपस्थित हो जाने पर कोष संचय करना राजा का धर्म है। बड़े या छोटे ऐसे जनपदों से अन्न का तीसरा या चौथा हिस्सा राज्य कर प्रजा की अनुमति से वसूल किया जावे, जहाँ का जीवन वृष्टि पर निर्भर हो और जहाँ काफी अनाज पैदा होता हो। इसी प्रकार मध्यम श्रेणी के या छोटे जनपदों से भी अन्न संग्रह किया जावे। किन्तु जो जनपद मिलों, मकानों, व्यापारिक मार्गों, खाली मैंदानों, खानों और लकड़ी–हाथी के जंगलों

द्वारा राजा तथा प्रजा का उपकार करते हों, जो प्रदेश राज्य की सीमा पर हों और जिनके पास अन्न आदि बहुत थोड़ा हो, उनसे यह राज्य कर न लिया जाये।

राजा का धर्म है कि नये बसने वाले किसानों को अन्न, बैल, पशु और धन सरकार की ओर से सहायतार्थ दिया जाये। इस तरह के किसानों से राजा उनकी उपज का चौथा हिस्सा खरीद ले। जंगल में पैदा हुए तथा श्रोत्रिय द्वारा पैदा किये अन्न में राजा हिस्सा न ले। राजा दुष्ट पुरुषों का धन वाटिका में से पके फल के समान ग्रहण करे तथा धर्मात्माओं का कच्चे फल के समान छोड़ दे।[52]

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में हिन्दू करपद्धति का सिद्धान्त संवैधानिक दृष्टि से बड़े महत्व का है। करों को कानून द्वारा नियत किया गया था और करों की दरें धार्मिक नियमों में समाविष्ट की गयी थी। इसके परिणामस्वरूप शासन का रूप कुछ भी रहा हो, कर लगाना शासक की मनचाही पर निर्भर नहीं था, साथ ही करों के प्रश्न पर राजा और प्रजा के बीच कोई संघर्ष नहीं उठता था। करों द्वारा संग्रहित धन मन्त्रियों के नियन्त्रण में रहता था और उन्हें ही कर वसूली की शक्ति प्राप्त थी। अर्थ–विभाग मन्त्रियों के अधीन होता था, वैदिक काल में भी कोषाध्यक्ष राजा के रत्नियों में से एक होता था। करों को हिन्दू राजनीति में प्रशासन हेतु राजा का पारिश्रमिक रूप में विकसित किया था। ईश्वर ने राजा को बनाया है, यद्यपि बाह्य रूप में वह स्वामी है, किन्तु वह जनता का सेवक है जो करों के रूप में प्रजा की रक्षा और विकास हेतु अपना पारिश्रमिक पाता है।

कौटिल्य ने इस बात पर बल दिया है कि करारोपण और कर संग्रह का आधार और विधि युक्तिसंगत हो। शासक के लिए कर लगाना अनिवार्य है, परन्तु उसे उतना ही कर लगाना चाहिए, जितना करदाता बिना कष्ट के वहन कर सके। उसे उस माली की तरह काम करना चाहिए, जो पुष्पहार बनाने के लिए पुष्पों के पौधों से केवल पुष्प तोड़ता है न कि उनकी जड़ें उखाड़ देता है।[53]

करपद्धति के सम्बन्ध में राजा का धर्म है कि – 1. राजा को अधिक धन संग्रह के लालच में अपनी तथा दूसरों की मूल को नहीं उखाड़ना चाहिए। 2. प्रजा पर इस प्रकार का कर लगाया जाये कि वे भावी कर–भार सहन करने के योग्य रहें, आवश्यकता पड़ने पर अधिक भार भी। 3. जिस राज्य में जनता पर करों का

भार अधिक होता है, वह बड़े कार्य नहीं कर सकता। 4. कर ऐसे हों कि जनता उन्हें महसूस न करे। 5. करों की वृद्धि क्रमिक रूप से की जानी चाहिए। 6. कर ठीक स्थान पर, उपयुक्त समय में और उचित रूप में लगाये जायें। 7. उद्योंगो पर कर उत्पादन, आवश्यक श्रम और लाभादि को ध्यान में रखकर लगाये जायें। 8. कलात्मक वस्तुओं पर कर, उनके उत्पादन में हुए व्यय कलाकार की जीविका आदि को ध्यान में रखकर लगाये जायें। 9. व्यापारियों पर बिक्री मूल्य, पूँजी की लागत, आयात कीमत और कुल कीमत आदि बातों का ध्यान करके कर लगाने चाहिए। 10. राज्य के लिए आयात की गई हानिकर वस्तुओं को अधिक कर द्वारा प्रोत्साहन न देना चाहिए। 11. लाभाकारी वस्तुओं के आयात पर कर न लगाया जाये। 12. कुछ वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध होना चाहिए, किन्तु उनके आयात पर प्रतिबन्ध न हो यथा – अस्त्र, शस्त्र, धातुऐं, सैनिक गाड़ियाँ, अनाज और पशु।[54]

कौटिल्य ने कुछ श्रेणियों को तथा सम्पत्तियों को कर से मुक्त रखना राजा का धर्म माना है। सैनिक गाँव, गूँगे, बहरे, अन्य प्रकार से विकलांग तथा ब्राह्मणों से राजा कर ग्रहण न करे। विद्या अर्जन करने वाले विद्यार्थियों को भी कर मुक्त रखे, परन्तु ऐसे ब्राह्मण जो राजकीय पदों पर आसीन हैं तथा जिन्हें राजकीय कोष से वेतन एवं भत्ते दिये जाते हैं, उन्हें कर मुक्त करना उचित नहीं है। कुछ विशेष प्रकार की जमीनों और सम्पत्तियों को, वनों और जंगलों के उत्पादन पर कर नहीं लगाया जाना चाहिए। सूखा पड़ने तथा अन्य कारणों से फसल नहीं होने पर कर में छूट देना ही नहीं वरन् विपदाओं के कारण फसल नष्ट होने पर छोटे–छोटे किसानों को राजकीय कोष से सहायता देना भी राजा का धर्म था। कौटिल्य ने करारोपण, कर संग्रह तथा कर–मुक्ति के सम्बन्ध में स्पष्ट एवं विस्तृत प्रावधानों का जिक्र किया है। इसी तरह राजा द्वारा आपातकालीन स्थितियों का मुकाबला करने के लिए अतिरिक्त कर लगाने या करों की दर में वृद्धि करने के नियम को उचित ठहराया है। आपातकाल में राजस्व प्राप्ति के लिये शक्ति तथा कपटपूर्ण तरीकों को अपनाने को भी उचित ठहराया है। कौटिल्य ने राजा को आपातकाल में राजस्व प्राप्ति के लिए शक्ति तथा कपटपूर्ण तरीकों को अपनाने, लोगों की धार्मिक

भावनाओं का दोहन करने, गुप्तचरों की सेवा के लिए धर्म के तत्व का दोहन करने की सलाह दी है।

सामाजिक एवं राजनीतिक सुदृढ़ता के लिए आर्थिक स्थायित्व आवश्यक है। अतः भारतीय राजनीतिक चिन्तन में राज्य के घटकों में कोष की महत्ता को स्वीकार किया है। इसकी समृद्धि तथा इसके प्रति जागरुकता राजा का धर्म बताया गया है। देवताओं से भी प्रार्थना की गई है कि कोष की समृद्धि में सहायक हों। राज्य की सात–प्रकृतियाँ राज्य के अवयव हैं। ये सातों अंग परस्पर एक–दूसरे के पोषक होते हैं; इनके योग से ही राज्य का निर्माण होता है। कोष राज्य का मूल होता है। कोष ही राजाओं की वृद्धि का कारण है, अतः राजा को सचेष्ट होकर कोष की रक्षा करना चाहिए। राजाओं की शक्ति कोष और सेना है। सेना भी कोष पर ही आधारित होती है। सेना धर्म का मूल है, धर्म राज्य का मूल है, अतः कोष सबका मूल हुआ, इसीलिए कोष की वृद्धि करनी चाहिए। कोष की अभिवृद्धि का मुख्य साधन कर होता है।[55]

राजा का धर्म है कि वह राष्ट्र की सम्पत्ति को बढ़ाने, राष्ट्र के चरित्र पर ध्यान रखने, चोरों पर निगरानी रखने, राजकीय अधिकरियों को रिश्वत लेने से रोकने, सभी प्रकार के अन्नोत्पादन को प्रोत्साहित करने, जल–स्थल में उत्पन्न होने वाली प्रत्येक व्यापार योग्य वस्तुओं को बढाने, अग्नि आदि के भय से राज्य की रक्षा करने, ठीक समय पर यथोचित कर वसूल करने, ये सब कोषवृद्धि के उपाय अपनाये।[56]

राजा का धर्म है कि वह कर निर्धारण में कुछ नियमों का आवश्यक रूप से पालन करे। राजा कर निर्धारण स्वेच्छापूर्वक नहीं कर सकता। जिस प्रकार राजा स्वयं दण्डनीति के अधीन है, वैसे ही कर भी दण्डनीति शास्त्र में प्रतिपादित व्यवस्था के अधीन ही निर्धारित किये जाते हैं। जैसे – राजा धर्म के अधीन है, वैसे ही कर पद्धति भी है। कर की प्राप्ति के धर्म और शास्त्र पर आधारित होने के कारण राजा के लिए यह कदापि सम्भव नहीं था, कि वह इस सम्बन्ध में स्वेच्छाचारी हो सके। इसीलिए प्राचीन भारत में राजा जब कभी युद्ध आदि की परिस्थितियों से विवश होकर धन की विशेष आवश्यकता अनुभव करते थे, तो भी

वे मनमाने तरीके से कर लगाने का साहस नहीं करते थे। धन की कमी को वे अन्य उपायों से पूरा करने का यत्न करते थे, पर मनमाने टैक्स लगाकर नहीं।[57]

अर्थशास्त्र में विपत्ति के समय धन को संचित करने के लिए ऐसे उपायों का उल्लेख किया है, जिनसे जनता के अन्धविश्वासों का उपयोग किया जावे, जैसे अपने गुप्तचरों द्वारा देव मन्दिरों की स्थापना कर वहाँ भेंट–पूजा करवाना, लोगों को किसी कुँए में दूर से ऐसे साँप को दिखाना, जिसके बहुत से सिर हों और उद्यान में वृक्षों पर असमय फल–फूलों का आना दिखाकर उनसे धन एकत्र करना।[58]

प्रजा पालन और देश की रक्षा का उत्तरदायित्व राजा का धर्म है, इस हेतु कर वह भृति (वेतन) है, जिसे राजा प्रजा द्वारा प्राप्त करता है। खेती की पैदावार के छठे भाग, विविध प्रकार के शुल्क, जुर्मानों की आय आदि के रूप में राजा को जो धनागम (धन की प्राप्ति) हो, वह राजा का वेतन होता है।[59]

धान्य के षड्भाग, पण्य के दसवें भाग आदि को राजा का 'भागधेय' बताकर यह कहा है कि इस भागधेय से 'भृत' (वेतन या भृति प्राप्त कर) हो कर राजा प्रजा का योग क्षेम सम्पादित करते हैं।

राजा का धर्म है कि कर ग्रहण करते हुए अपने और दूसरों के मूल का उच्छेद न करे। अधिक कर वसूल करने का परिणाम स्वाभाविक रूप से यह होगा कि कर देने वालों की जड़ का उच्छेद हो जायेगा, जिस भूमि या सम्पत्ति द्वारा कोई मनुष्य आर्थिक उत्पादन करता है, यदि कर की अधिकता के कारण वहीं उसके पास न रह पाए, तो भविष्य में वह कैसे उत्पादन करेगा और कैसे कर दे सकेगा। कर की अधिकता से राजा के मूल का भी उच्छेद हो जाता है, क्योंकि जनता उसके विरुद्ध हो जाती है, भविष्य में कर प्राप्ति की सम्भावना नहीं रहती है। अतः राजा प्रजा पर इस तरह कर लगाये कि उसकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ बनी रहे और भविष्य में वह अधिक मात्रा में कर दे सकने में समर्थ रहे। राजा को यह भी ध्यान रखना होगा कि करों को समुचित समय में और समुचित स्थानों से ही प्राप्त किया जावे। उन्हें विधि के अनुसार ही वसूल किया जाये, विधि के विरुद्ध नहीं।

राजा का धर्म है कि राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समुचित कोष–संग्रह करे। राजकीय कोष में वृद्धि राज्य द्वारा उपहार, कर–शुल्क व जुर्माने के रूप में प्रजा से प्राप्त हुई राशि तथा राज्य के खनिज, बन्ध व अन्य संसाधनों से होने वाले उत्पादन से होने वाला आय तथा दूसरे राजाओं को वश में करके उनके द्वारा जुर्माने, दण्ड अथवा उपहार के रूप में दी गई राशि से होती है। शासन (राजा) प्रजा की सुरक्षा के दायित्व के निर्वाह तथा प्रजा के हित में अनेक कार्यों को सम्पन्न करने के दायित्व को वहन करने के उद्देश्य से ही प्रजा से कर प्राप्ति का अधिकारी होता है। कौटिल्य ने शासक को करारोपण और कर की वसूली के सम्बन्ध में एक सम्मत नीति अपनाने का सुझाव दिया है। उनकी मान्यता है कि वस्तुओं के उत्पादन व आयत–निर्यात पर करों की दर, वस्तु की प्रकृति, उत्पादन की लागत, उत्पादित वस्तु की मांग आदि बातों को दृष्टि में रखते हुए निर्धारित की जानी चाहिए। राज्य को एक सुनिश्चित नीति के अनुरूप आयात व निर्यात कर लगाना चाहिए। आयात कर को प्रवेश और निर्यात कर को 'निष्क्राम्य' की संज्ञा दी है।

करों की दर को व्यावहारिक और विवेक सम्मत बनाये रखने के साथ ही राजा का धर्म है कि प्रजा पर मनमाने करों का आरोपण नहीं करे। प्रजा से अनुचित कर–संग्रह करने का स्पष्ट निषेध है। राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा पर करों की दर अनुचित रूप से बढाने की अपेक्षा करों की वसूली की व्यवस्था को करों की वसूली के दौरान राजकीय कर्मचारियों द्वारा किये जाने वाले भ्रष्टाचार को नियन्त्रित करके राजकीय आय में वृद्धि को सुनिश्चित करे। एक ओर राजा का कर्तव्य है कि वह अकाल, महामारी जैसी विशेष स्थितियों में प्रजा को राहत दे, वहीं दूसरी ओर राज्य पर बाहरी आक्रमण या युद्ध जैसी स्थिति के कारण संकटग्रस्त होने पर प्रजा से निर्धारित दर से अधिक मात्रा में भी कर प्राप्त करने का अधिकार है।[60]

राजा को चाहिए कि वह दुष्ट पुरुषों का धन उसी प्रकार ले ले जिस प्रकार वाटिका से पके हुए फल को लिया जाता है, किन्तु धर्मात्मा पुरुषों का धन वह उसी प्रकार छोड़ दे जिस प्रकार कच्चे फल को छोड़ दिया जाता है। कच्चे

फल के समान धर्मात्मा पुरुषों से वसूला गया धन प्रजा के कोप का कारण बन जाता है।[61]

प्रजा द्वारा उत्पादित धन राजस्व का स्रोत होता है। इस मौलिक सिद्धान्त से सम्बद्ध कुछ व्यावहारिक नियम हैं, जिनका राजा को पालन करना चाहिए, जैसे कराधान ऐसा न हो कि प्रजा के जीवन निर्वाह में बाधा पड़े, अपितु उसके जीवन–निर्वाह के लिए पर्याप्त छूट देनी चाहिए, करों की वसूली धीरे–धीरे और क्रमशः करनी चाहिए; न कि एक बार में; यह प्रायः ऐसी हो कि प्रजा इसको महसूस न करे तथा प्रजा के लिए पर्याप्त सुविधाजनक स्थान पर और समय में कर वसूली करनी चाहिए। जहाँ कराधान राजा अथवा राज्य की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, वहाँ इससे प्रजा के धन का ह्रास भी होता है। इसीलिए राजनीति कुशल राजा का कर्तव्य हो जाता है कि वह राज्य हित और प्रजा हित में तालमेल बनाये रखे।[62]

राजा का धर्म है कि वह राजकर्मचारियों के व्यवहार, प्रजा के प्रति धारणा तथा शत्रु देश के आन्तरिक गतिविधियों को जानने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति करे। ''कापटिकोदास्थितगृहपति वैदेहक तापस व्यंजनान्सत्रितीक्ष्ण रसद भिक्षु कीश्च'' अर्थात् गुप्तचरों के कापटिक[I], उदास्थित[II], गृहपतिक[III], वैदेहक[IV], तापस[V], सत्री[VI], तीक्ष्ण[VII], रसद[VIII] और भिक्षुकी[IX] नौ प्रकार हैं।[63]

गुप्तचर राजा की आँख एवम् कान होते हैं, अतः उन्हें अपना काम बड़ी मुस्तैदी से करना चाहिए। गुप्तचर व्यवस्था का राज्य में एक महत्वपूर्ण स्थान होता था, यही विभाग विदेश नीति के लिए मार्गदर्शक का कार्य करता है।

राजा का धर्म है कि शत्रु राज्य को संदेश भेजने, उसके दुर्ग, सेना, व्यापार, वहाँ के लोगों की जीविका, राष्ट्र की रक्षा व्यवस्था की जानकारी आदि की जानकारी के लिए निसृष्टार्थ[I], परिमितार्थ[II] तथा शासनहर[III] तीन प्रकार के दूतों की नियुक्ति करे।[64]

कौटिल्य का गतिशील मण्डल सिद्धान्त भारतीय कूटनीति के सिद्धान्त में एक अनुपम और महत्वपूर्ण देन है। कौटिल्य ने राज्यों की विदेश नीति और दूसरे राज्यों के साथ सम्यक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए ही मण्डल सिद्धान्त का

प्रतिपादन किया है। आत्मसम्मान, अमात्य आदि द्रव्य प्रकृति सम्पन्न और नीति का आश्रयभूत राजा विजिगीषु कहलाता है। विजिगीषु राजा की विजय–यात्रा में आगे क्रमशः शत्रु, मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र और अरिमित्रमित्र ये पाँच राजा आते हैं। इसी प्रकार उसके पीछे क्रमशः पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार और आक्रंदासार ये चार राजा होते हैं। विजीगीषु राजा के सहित आगे–पीछे के राजाओं को मिलाकर एक राजमण्डल कहलाता है।

अरि और विजीगीषु राजाओं की सन्धि में सन्धि का समर्थक और विग्रह में विग्रह का समर्थक राजा मध्यम कहलाता है। अरि, विजीगीषु और मध्यम की प्रकृतियों के अतिरिक्त, शक्तिशाली मध्यम राजा से भी बलवान, अरि, विजीगीषु और मध्यम की सन्धि में सन्धि का समर्थक और उनके विग्रह में विग्रह का समर्थक राजा उदासीन कहलाता है। इस प्रकार बारह राजप्रकृतियों का निरूपण किया गया है।

विजीगीषु, मित्र और मित्रमित्र ये तीन प्रकृति हैं। इन तीनों की अलग–अलग अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष और दण्ड, ये पाँच प्रकृतियाँ हैं, एक साथ मिलकर अठारह प्रकृतियों का एक मण्डल होता है। अरि, मध्यम और उदासीन आदि के मण्डलों का यही क्रम समझना चाहिए। बारह राजप्रकृतियाँ और साठ अमात्य आदि द्रव्य प्रकृतियाँ मिलकर बहत्तर प्रकृतियाँ कही जाती हैं।[65]

इस गतिशील मण्डल में मध्यम और उदासीन का वर्णन इस बात का साक्षी है कि कौटिल्य इस पृथ्वी पर एक धर्म राज्य की स्थापना का समर्थक था और समस्त प्रतिभा शान्ति स्थापना के लिए थी।

राज्य की उन्नति के लिए राजा का धर्म है कि वह सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव इन छः गुणों को अपनाये। राजा का धर्म है कि वह विचार–विमर्श के पश्चात परिस्थितिजन्य इनका प्रयोग करे। यदि राजा अपने को शत्रु से निर्बल समझे तो सन्धि बलवान समझे तो विग्रह करे। न शत्रु मुझे दबा सकता है और न मैं ही शत्रु को दबा सकता हूँ, ऐसी अवस्था में आसन (उपेक्षा) गुण का प्रयोग करें। शक्ति, देश, काल आदि गुणों के अधिक होने पर यान का

प्रयोग करें। शक्ति रहित राजा संश्रय से काम निकालें। किसी कार्य में सहायता की अपेक्षा होने पर द्वैधी भाव का प्रयोग करें।[66]

विदेश नीति पर कौटिल्य ने जो उपर्युक्त नियम बताऐं हैं, उनमें राजनीति का सर्वश्रेष्ठ नियम मिलता है, वह है 'अवसरौचित्य'। कौटिल्य ने इस बात पर भी बल दिया है कि राजा के लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि छल व बल से तथा भिन्न–भिन्न उपायों से उससे मैत्री रखने वालों व विरोधी भाव वालों को जो उसके राज्य में रहते हों, या जो बाहर भी हों, उन सबको किसी प्रकार अपनी ओर कर ले।

कौटिल्य का मत है कि एक धर्मात्मा राजा को विजय के उपरान्त शत्रु देश की प्रजा को सभी परिस्थितियों में संतोष के साथ रखा जाना चाहिए। नया राज्य प्राप्त होने पर राजा को अपने सद्‌गुणों के प्रकाश में भूतपूर्व राजा के अवगुणों को दबा देना चाहिए। राजा को प्रजा के नेताओं व हितचिन्तकों के अनुसार चलना चाहिए क्योंकि राजा प्रजा की इच्छा के विरुद्ध करता है, प्रजा का उस पर से विश्वास उठ जाता है। राजा को विद्वानों, वक्ताओं और शूरवीरों पर कृपा बनाये रखनी चाहिए। खोये हुए राज्य को प्राप्त करने पर राजा को उन त्रुटियों को दूर कर देना चाहिए, जिनके कारण उसे अपना राज्य खोना पड़ा था और उन सद्‌गुणों की वृद्धि करनी चाहिए, जिनसे उसे अपना राज्य पुनः प्राप्त हो जावे। राजा द्वारा प्रचलित प्रथाओं को आदर की दृष्टि से देखा जाना चाहिए।[67]

राजा धर्म, व्यवहार, चरित्र तथा न्यायपूर्वक शासन करता हुआ सम्पूर्ण पृथ्वी को जीते। राजा का परम धर्म प्रजा की सुख–समृद्धि के लिए राज्य का विस्तार करना, न्यायोचित व्यवहार करना, प्रजा की प्रत्येक प्रकार के कष्टों से रक्षा करना है। राजा पृथ्वी जीतकर वर्ण और आश्रमों का ठीक–ठीक विभाग करके धर्मपूर्वक पृथ्वी का भोग करे। कौटिल्य ने राज्य की विदेश नीति के निर्धारण में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान माना है। विजित लोगों का शमन करने के लिए राजा से उनके धार्मिक रीति–रिवाजों और भावनाओं की ओर ध्यान देने को कहा गया है। राजा का धर्म है कि वह विजितों के क्षेत्रीय और धार्मिक त्योहारों तथा आमोद–प्रमोद के प्रति सम्मान का भाव प्रदर्शित करे। उसे स्थानीय देवी–देवताओं की पूजा करनी

चाहिए और वाक्शूर, विद्वान तथा धार्मिक व्यक्तियों को भूमि और द्रव्य दान और करों की माफी देनी चाहिए। राजा को अधर्ममय रीति–रिवाजों को मिटाकर धर्ममय रीति–रिवाजों को प्रतिष्ठित करना चाहिए।[68]

भारतीय राजनीतिक विचारवेत्ताओं की तरह कौटिल्य ने भी युद्ध के नियम स्थापित किये, जिनका पालन धार्मिक विधि के समान करना था, किन्तु कौटिल्य की परिस्थितियों के अनुसार राजा का कूट युद्ध करने की स्वीकृति शुत्र के प्रतिकार व आत्मरक्षा के लिए ही है। कौटिल्य युद्ध के तीन प्रकार प्रकाश (धर्म) युद्ध, कूट युद्ध और तृष्णी युद्ध का निरूपण करते हैं। कूट युद्ध में विशेष रुचि होते हुए भी कौटिल्य ने धर्म युद्ध के नियमों पर प्रकाश डाला है। रणभूमि में घिरे हुए, रणभूमि से विमुख शरणागत, शस्त्रहीन और युद्ध शत्रुओं को अभयदान देने का स्पष्ट निर्देश दिया है बलवान एवं बृहद् सेना से युक्त, शत्रुपक्ष को फोड़ने में समर्थ और युद्ध योग्य समय को अपने अनुकूल बनाने वाले विजीगीषु को चाहिए कि वह अपनी अनुकूल भूमि में ही प्रकाश युद्ध करना स्वीकार करे, यदि इसके विपरीत व्यवस्था हो तो कूट युद्ध ही करना चाहिए।[69]

जनपद की सीमाओं की चारों दिशाओं में राजा युद्धोचित प्राकृतिक दुर्ग का निर्माण करवाये। दुर्ग चार प्रकार के हैं – औदक[I], पार्वत[II], धान्वन[III] और वन दुर्ग[IV], इनमें औदक और पार्वत दुर्ग आपत्तिकाल में जनपद की रक्षा के उपयोग में लाये जाते हैं। धान्वन और वनदुर्ग वनपालों की रक्षा के लिए उपयोगी होते हैं अथवा आपत्ति के समय इन दुर्गों में भागकर राजा भी अपनी रक्षा कर सकता है।[70]

राजा शत्रुदेश में आर्यों के जीवन की रक्षा तथा देवताओं, ब्राह्मणों और तापसों की सम्पत्ति का उपभोग नहीं करे।[71]

विजित लोगों की धार्मिक भावनाओं के प्रति आदर दिखलाने के लिए राजा को सहिष्णु नीति बरतनी चाहिए, साथ ही उसका धर्म है कि वह स्वयं उनके धार्मिक रीति–रिवाजों का पालन करे तथा ब्राह्मण समाज व्यवस्था के मुख्य सिद्धान्तों को लागू करे।[72]

प्राचीन भारत में बिना विचार के ही प्रायः युद्ध नहीं छेड़ दिये जाते थे, परन्तु युद्ध उपस्थित होने पर युद्ध करना राजा का धर्म था। युद्ध का एकदम त्याग

कर देना संभव नहीं था, इसलिए युद्ध की संभावना को यथासंभव कम करने के लिए ही कौटिल्यादि विभिन्न विचारकों ने विधिक राज्यों के मण्डल बनाकर उनमें शक्ति संतुलन कायम रखने की व्यवस्था की थी। प्रख्यात मण्डल नीति शक्ति संतुलन के सिद्धान्त पर ही आधारित थी। परस्पर युद्ध की अनिवार्यता देखकर प्राचीन भारतीय विचारकों ने उसकी भीषणता कम करने की यथाशक्य चेष्टा की है और इस हेतु उन्होंने धर्मयुद्ध के बहुत ऊँचे आदर्श का प्रतिपादन किया है। लड़ाई में भी धर्मयुद्ध का आदर्श प्रधान रहता था और उदारता तथा वीरता से काम लिया जाता था।[73]

धीरे–धीरे आत्मरक्षा की भावना, युद्ध में सफलता, साम्राज्यवादी प्रवृति विकसित होने पर सभी उचित, अनुचित साधन और उपाय ठीक समझे जाने लगे। जब तक अपना पलड़ा भारी रहे तब तक धर्म युद्ध के आदर्श पर चलने में हानि नहीं अन्यथा जिस उपाय से सफलता मिले वही करना उचित है चाहे वह धर्म हो या अधर्म।[74]

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के संचालन में धर्म ही प्रमुख है। धर्म परायण और गुणवान राजा ही सर्वत्र सिद्धि प्राप्त कर सकता है। धर्मविमुख राजा सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त नहीं कर सकता है। धार्मिक मान्यताओं को ध्यान में रखकर ही राजा युद्ध के नियमों का निर्धारण करता है। राजा का धर्म है कि वह युद्धबंदियों, युद्ध में घायल व्यक्तियों और पराजित राजा के साथ उचित और नीतिगत व्यवहार करे। जो राजा पराक्रमी है, बलवान है और शत्रु को पराजित करने की क्षमता रखता है, उसे प्रकाश युद्ध या धर्म युद्ध का सहारा लेना चाहिए। केवल विजय ही विजीगीषु राजा का अन्तिम लक्ष्य नहीं होना चाहिए। विजय के बाद उसे अपने धर्म और कर्तव्यों का भी निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए। कौटिल्य ने यह कभी अस्वीकार नहीं किया है कि राज्य का अन्तिम लक्ष्य नैतिक है–धर्म का पालन करना।[75]

कौटिल्य राज्य की समृद्धि और विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों पर यथोचित बल देता है। अपने कूटनीतिक सिद्धान्तों में उसने धर्म, नैतिकता और कालोचित्तता तीनों पर समान रूप से बल दिया है। वह नैतिक सिद्धान्तों को राज्य

के हितों के ऊपर नहीं मानता है। प्लेटो के समान शक्तिशाली एवं उन्नत राज्य की स्थापना कौटिल्य का उद्देश्य है किन्तु जहाँ प्लेटो के चिन्तन का मूल उद्देश्य मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ अच्छाई की प्राप्ति का मार्ग ढूँढना है, कौटिल्य के यर्थाथवादी दृष्टिकोण का उद्देश्य यह चित्रित करना है कि राज्य का शासन संचालन अच्छी तरह कैसे किया जा सकता है। मैकियावली की तरह कौटिल्य की भी यही धारणा है कि नैतिक तत्व अपने–आप में पूर्ण लक्ष्य नहीं हो सकते हैं। वह धर्म और अधर्म के भेद को प्राथमिकता नहीं देता है। यदि धर्म या नैतिकता को ही सर्वोपरि मानता तो वह राजनीतिक क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के छल–छदम और कपट अपनाने की अनुशंषा नहीं करता। कौटिल्य ने विजय प्राप्ति के लिए राजा को साम, दाम, भेद, दण्ड के साथ छल–कपट, प्रपंच, धोखाधड़ी, शत्रुओं का वध करने के लिए भस्म, विष विभिन्न प्रकार के तेलों का प्रयोग औषधियों का प्रयोग तथा अन्य प्रकार के षड्यंत्रों को रचने का सुझाव दिया है। धर्म युद्ध केवल पराक्रमी और बलशाली राजा के लिए अपनाने योग्य है। कमजोर राजाओं को कूट युद्ध में देश और काल के अनुसार किसी भी प्रकार के उपाय को अपनाने में नहीं हिचकना चाहिए। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि कौटिल्य अनैतिक है या धर्म और नीति के विरुद्ध है, वह केवल राज्य की रक्षा और समृद्धि को धर्म से ऊपर रखते हैं। कौटिल्य की कूटनीति अपने आप में साध्य नहीं वरन् राज्य की रक्षा और वृद्धि का एक महत्वपूर्ण साधन है।[76]

कौटिल्य ने चार विद्याओं आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति में से त्रयी (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) में निरुपित धर्म को चारों वर्णों और आश्रमों को अपने–अपने धर्म में स्थित रखने के कारण लोक का अत्यन्त उपकारक माना है। कौटिल्य ने चार वर्णों व आश्रमों के धर्मों को निर्धारित किया है और राजा का धर्म माना है कि प्रजा को अपने–अपने धर्म का पालन कराता हुआ राजा ही इहलोक व परलोक में सुखी रहता है तथा श्रेष्ठ मर्यादा के व्यवस्थित होने पर वर्णाश्रम की ठीक–ठीक परिस्थिति होने पर, त्रयी द्वारा प्रतिपादित धर्म के द्वारा रक्षित प्रजा सुखी रहती है।

वेदत्रयी के अनुसार कौटिल्य ने समाज व्यवस्था की सुस्थापना के लिए विभिन्न वर्णाश्रमों के धर्म बताऐ हैं :–

ब्राह्मण का धर्म – अध्ययन–अध्यापन, यज्ञ–याजन और दान देना तथा दान लेना है।

क्षत्रिय का धर्म – पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना, शस्त्रबल से जीविकोपार्जन करना और प्राणियों की रक्षा करना है।

वैश्य का धर्म – पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना, कृषि कार्य एवं पशुपालन व व्यापार करना है।

शूद्र का धर्म है कि वह ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य की सेवा करे; खेती, पशुपालन तथा व्यापार करे और शिल्प (कारीगरी), गायन, वादन एवं चारण, भाट आदि का कार्य करे।

ब्रह्मचारी का धर्म है कि वह नियमित स्वाध्याय करे, अग्निहोत्र रचे, नित्य स्नान करे, भिक्षाटन करे, जीवनपर्यन्त गुरु के समीप रहे, गुरु की अनुपस्थिति में गुरूपुत्र अथवा अपने किसी समान शाखाध्यायी के निकट रहे।

गृहस्थ अपनी परम्परा के अनुकूल कार्यों द्वारा जीविकोपार्जन करे, सगोत्र तथा असगोत्र में विवाह करे, ऋतुगामी हो, देव, पितर, अतिथि और भृत्यजनों को देकर सबसे अन्त में भोजन करे।

वानप्रस्थी का धर्म है; ब्रह्मचर्य पूर्वक रहना, भूमि पर शयन करना, जटा मृगचर्म को धारण किये रहना, अग्निहोत्र तथा प्रतिदिन स्नान करना, देव, पितर एवं अभ्यागतों की सेवा पूजा करना और वन के कन्दमूल व फल पर निर्वाह करना।

संन्यासी का धर्म है; जितेन्द्रिय होना, वह किसी भी सांसारिक कार्य को न करे, निष्किंचन बना रहे, एकाकी रहे, प्राणरक्षा मात्र के लिए स्वल्प आहार करे, समाज में न रहे, जंगल में भी एक ही स्थान पर न रहता रहे, मन, वचन, कर्म से अपना भीतर तथा बाहर पवित्र रहे।

प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक आश्रम का धर्म है कि वह किसी भी प्रकार की हिंसा न करे, सत्य बोले, पवित्र बना रहे, किसी से ईर्ष्या न करे, दयावान और क्षमाशील बना रहे। अपने धर्म का पालन करने से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती

है। इसका पालन न करने से वर्ण तथा कर्म में संकरता आ जाती है, जिससे लोक का नाश हो जाता है। अतः राजा का धर्म है कि वह प्रजा को धर्म और कर्म मार्ग से भ्रष्ट न होने दें। अपनी प्रजा को धर्म और कर्म में प्रवृत्त रखने वाला राजा लोक और परलोक में सुखी रहता है।[77]

सामाजिक भलाई के लिए मनुष्यों को इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना चाहिए क्योंकि ऐसा न होने पर विभिन्न व्यक्तियों के हितों में संघर्ष होगा। दूसरों की सम्पत्ति एवं स्त्रियों के प्रति आदर भाव रखने पर ही समाज का अस्तित्व संभव है और ऐसी परिस्थितियों के रहने पर ही जीवन के चार लक्ष्यों की प्राप्ति हो सकती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति व्यक्ति के अपने ज्ञान और सामाजिक व्यवस्था पर निर्भर करती है। सामाजिक व्यवस्था के लिए राजसत्ता का होना आवश्यक है। इस प्रकार समाज में नियमों का होना पहली आवश्यकता है और उसके बाद वह सत्ताधारी आता है जिसमें राजशक्ति और दण्ड देने की शक्ति निहित रहती है।

कौटिल्य दृढ़ता के साथ वर्णाश्रम व्यवस्था की पैरवी करते हैं और वेदशास्त्र को आधार मानकर वे समाज के लिए यह धर्म निश्चित करते हैं कि वह कठोरता के साथ इस सामाजिक ढाँचे की रक्षा करें। यद्यपि इस प्रसंग में कौटिल्य ने सर्वत्र धर्म शब्द का ही प्रयोग किया है और उसके लिए त्रयी वेदशास्त्र की प्रामाणिकता को ही आधार बनाया है, परन्तु फिर भी जिस विस्तार के साथ उन्होंने वर्णों तथा आश्रमों के कार्यों का निरूपण किया है, उसमें धर्म शब्द सामाजिक कर्तव्य का पर्यायवाची बन कर रह जाता है और इसी से यह भी प्रकट होता है कि वे परम्परावादी या रुढ़िवादी नहीं थे। कौटिल्य ऐसे समाज की कल्पना मात्र से चौंक जाते हैं, जिनमें समाज के विभिन्न व्यक्ति और समुदाय अपने सम्पूर्ण जीवन की योजना न बनायें और वे समाज के लिए हित का कार्य न करें। कौटिल्य की वर्ण व्यवस्था काम के बंटवारे के अलावा कुछ नहीं थी और आश्रम व्यवस्था में व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन का सुनियोजित ढंग से संचालन करने का प्रयत्न करता था। कौटिल्य कालीन भारत में वर्ण व्यवस्था के रूप में सामाजिक श्रम एवं उत्तदायित्वों का बंटवारा इतना सर्वमान्य था कि इनकी उपादेयता के संबंध में किसी को शंका नहीं थी और सभी लोग यह मानते थे कि जिस समाज में वर्ण

व्यवस्था नहीं रहेगी वह अराजकता की ओर अग्रसर होकर अपने भयानक पतन में जा गिरेगा। कौटिल्य ने समाज में परम्परागत रूप से आ रहे इस सामाजिक संगठन को केवल मान्यता हीं नहीं दी बल्कि राज्य शक्ति के नियंत्रण में लाकर इसे राजतंत्र की दृढ़शक्ति का सामाजिक आधार भी प्रदान किया है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण व्यवस्था के मुख्य अंग थे और यह प्रयत्न किया जाता था कि पूरे समाज को बंधनों में जकड़कर इन्हीं वर्णों में कायम रखा जावे। इसी प्रकार कौटिल्य ने आश्रम व्यवस्था के रूप में व्यक्तिगत जीवन को भी चार भागों में विभक्त करके उसे व्यवस्थित और नियमित करने का प्रयत्न किया था। कौटिल्य ने विस्तार के साथ इन आश्रमों के धर्मों अर्थात् कर्तव्यों का निरूपण किया है। यद्यपि यह सही है कि वर्णों तथा आश्रमों की परम्परागत व्यवस्था को कौटिल्य ने स्वीकार करके अपने अर्थशास्त्र में उनकी पैरवी की है, परन्तु इन आदर्शों को किसी अंधविश्वास के रूप में स्वीकार नहीं किया है। कौटिल्य की धारणा थी कि एक बार वर्णों तथा आश्रमों के धर्मों के उलट–पुलट हो जाने पर समाज में ऐसी अराजकता फैल सकती है जिसमें सबका सर्वनाश हो सकता है। इसीलिए कौटिल्य ने समाज के नियामक राजा का आह्वान करते हुए कहा है कि – जिस राज्य में सामाजिक मर्यादाओं की रक्षा होती है, जहाँ वर्णों तथा आश्रमों के धर्मों उल्लंघन नहीं होता और इस प्रकार वेद धर्म का पालन होता है, वह समाज सुखी रहता है और कभी नष्ट नहीं होता। कौटिल्य अपने ग्रन्थ में जब स्थान–स्थान पर वर्णाश्रम धर्मों का उल्लेख करते हैं तो उनका आशय केवल उपदेश देना भर नहीं है बल्कि ठोस व्यावहारिक प्रश्नों की ओर समाज का ध्यान खींचना है। इनका उल्लेख करते समय वे प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम के जीविका साधनों एवं उपायों की विवेचना सबसे पहले करते हैं। वास्तव में कौटिल्य का अर्थशास्त्र पूरा धार्मिक एवं सामाजिक शास्त्र रहते हुए भी इसी आर्थिक दृष्टिकोण के कारण अर्थशास्त्र है।[78]

कौटिल्य राजा को निर्देश देता है कि वह लोगों को कभी भी अपने धर्म से विमुख न होने दे। कारण, यदि मानव समाज आर्योचित आचरण करेगा, चतुवर्णाश्रम धर्म पर आधारित होगा और तीनों वेदों की शिक्षा के अनुसार चलेगा तो वह समृद्ध होगा और कभी भी उसका नाश नहीं होगा। इस तरह राजा से ऐसा

समाज कायम रखने की अपेक्षा की जाती है, जिसकी सत्ता का मूल स्रोत वेद हैं। यद्यपि वेदों में वर्ण विभाजित समाज का निखरा रूप नहीं मिलता है, परन्तु उनकी दुहाई इसलिए दी जाती है क्योंकि वे देव रचना माने जाते हैं। एक स्थल पर कौटिल्य राजा को धर्म प्रवर्तक कहता है, जिसका अर्थ यह लगाया जाता है कि वह किसी नए धर्म का प्रवर्तक है। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि राजा धर्म के मामले में असीम अधिकारों का उपभोग करता था और उसकी सत्ता पर धर्म का कोई अंकुश नहीं था, परन्तु ऐसा सोचना गलत है, राजा को धर्मप्रवर्तक उस अवस्था में बतलाया गया है जहाँ वर्णाश्रम नष्ट हो गया हो। स्पष्टतया राजा को मनोनुकूल समाज व्यवस्था स्थापित करने की स्वतंत्रता नहीं दी गई है, बल्कि उसे विनष्ट व्यवस्था को पुनरुत्थापित करने को कहा गया है। कौटिल्य राजा से यह अपेक्षा रखता है कि वह उस ब्राह्मण समाज व्यवस्था को कायम रखे और उसका पालन कराए जिसका औचित्य वेदों पर आधारित है।

कौटिल्य समाज में स्त्रियों को सम्मानित स्थान प्रदान करता है। विवाह को धार्मिक संस्था व वैवाहिक जीवन में स्त्री और पुरुष को समान सहभागी मानता है। पुरुष और स्त्री दोनों को तलाक लेने एवं पुनर्विवाह का अधिकार देता है। विवाह–विच्छेद होने की स्थिति में स्त्री पुरुष से जीविका निर्वाह के लिए धर्म खर्च प्राप्त करने की अधिकारिणी है। सभी प्रकार के विवाहों में स्त्री पुरुष में परस्पर प्रीति का होना आवश्यक है। राज्य का प्रमुख धर्म है कि वह स्त्रियों के जान–माल और अस्मिता की रक्षा करे।[79]

प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक आश्रम का अलग–अलग धर्म है, जिसका पालन निष्ठापूर्वक किया जाना चाहिए। प्लेटो की भाँति स्वधर्म पालन पर बल देने का मकसद श्रम विभाजन और पेशागत विशिष्टिकरण है। कौटिल्य भी राज्य की समृद्धि और व्यक्ति के कल्याण के लिए प्लेटो की इस धारणा से सहमत है कि सभी व्यक्ति अपने–अपने कामों को सही और संगत ढंग से करेंगे तो उनकी कार्यकुशलता बढेगी। सभी वर्णों और सभी आश्रमों का सार्वभौम धर्म यह है कि वह किसी प्रकार की हिंसा न करे, सत्य बोले, पवित्र बना रहे, किसी से ईर्ष्या या द्वेष न करे तथा दयावान और क्षमाशील बना रहे। स्वधर्म पालन करने की अनिवार्यता पर बल देते हुए कौटिल्य ने कहा है कि स्वधर्म का पालन करने से स्वर्ग और

मोक्ष की प्राप्ति होती है। उसका पालन नहीं करने से वर्ण तथा कर्म में संकीर्णता आ जाती है और लोक का नाश हो जाता है। राजा का धर्म है कि वह अपनी प्रजा को धर्म और कर्म मार्ग से भ्रष्ट न होने दे। अपनी प्रजा को धर्म और कर्म में प्रवृत्त रखने वाला राजा लोक और परलोक दोनों में सुखी रहता है। उसी प्रकार पवित्र मर्यादाओं में अवस्थित वर्णाश्रम, धर्म में नियमित और त्रयी धर्म से रक्षित प्रजा दुखी नहीं होती है।[80]

कौटिल्य ने सामाजिक व्यवस्था को धर्म पर आधारित माना है तथा सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार, दान, अक्रोध आदि को धर्म के शाश्वत लक्षणों के रूप में माना है। कौटिल्य ने राजा से यह अपेक्षा की है कि वह प्रजा के व्यवहार में इन नैतिक मूल्यों को सुनिश्चित करके धर्म का प्रवर्तन करे।

अर्थशास्त्र में विभिन्न स्थलों पर धर्म और राजनीति के बारे में अनेक बातें कही गयी हैं। उनसे पता लगता है कि धार्मिक विचार किस प्रकार आंतरिक नीति को ढालते हैं और यह भी कि बाह्य शत्रुओं के सम्बन्ध में धर्म कितना प्रभावी साधन है। जहाँ तक आंतरिक नीति का सम्बन्ध है, कौटिल्य का राज्य ब्राह्मण सामाजिक व्यवस्था को मान्यता देता है और ब्राह्मणों की धार्मिक प्रथाओं का पालन करता है। वैदिक धर्म के आधार पर विकसित ब्राह्मणवाद को अर्थशास्त्र में वर्णित राज्य की आधारशिला कह सकते हैं; धर्म और अधर्म क्या हैं, यह तीनों वेदों से ही जाना जा सकता है। कौटिल्य ने वर्णाश्रम को स्वीकार किया है। वह बलपूर्वक कहता है कि प्रत्येक वर्ण को अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए, जो व्यक्ति ऐसा करता है, वह स्वर्ग में जाता है। यदि व्यक्ति अपने वर्ण व धर्म का पालन नहीं करते तो सामाजिक व्यवस्था भंग हो जावेगी। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि राजा लोगों को अपने कर्तव्यों से विचलित न होने दे। इस प्रकार राजा पर वर्ण धर्म पर आधारित सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने का उत्तरदायित्व है।

कौटिल्य के राज्य की बाह्य नीति भी धार्मिक विचारों से प्रभावित है। विजित प्रदेशों की जनता की धार्मिक भावनाओं और व्यवहारों आदि का विजयी राजा को ध्यान रखना चाहिए। उसे स्थानीय देवताओं की पूजा करनी चाहिए और धार्मिक तथा बौद्धिक नेताओं को उपहार तथा करों में छूट देनी चाहिए। राजा को

अधार्मिक प्रथाओं को हटाकर उनके स्थान पर धार्मिक प्रथाऐं स्थापित करनी चाहिए। कौटिल्य ने ब्राह्मणों के तीन विशेषाधिकार स्वीकृत किये हैं – कठोर शारीरिक दण्ड से छूट, सम्मान और उपहारों (दान) के लिए अधिकार। अर्थशास्त्र में विभिन्न प्रकार के धार्मिक कर्मकाण्ड भी स्वीकार किये गये हैं।[81]

कौटिल्य के राजनीतिक विचारों में प्राचीन भारत की धार्मिक परम्परा तथा राजनीतिक परम्परा का स्पष्ट मिश्रण है। एक ओर तो वह वेदों व स्मृतियों में वर्णित वर्णाश्रम धर्म को स्वीकार करता है; राजा के लिए पुरोहित की नियुक्ति आवश्यक बताता है; और ब्राह्मणों को स्मृतियों के अनुसार सामाजिक एवं कानूनी विशेषाधिकार प्रदान करता है। दूसरी ओर कौटिल्य ने अर्थशास्त्रों की परम्परा को अपनाते हुए राजनीतिक ध्येयों की प्राप्ति के लिए धर्म से किसी भी प्रकार का लाभ उठाने की बात कही है। उसके द्वारा वर्णित गुप्तचरों में झूठे साधु और संन्यासी भी सम्मिलित किये गये है। नैतिकता के प्रति कौटिल्य के दृष्टिकोण में दोहरी आवाज सुनाई पड़ती है। प्रथम उसने धर्म और अर्थ के स्तर को राजा के व्यवहार, युवराज के प्रशिक्षण और राजघराने पर होने वाले व्यय सम्बन्धी बातों में लागू किया है। दूसरे, कौटिल्य के विचार पूर्वगामी विद्वानों द्वारा प्रतिपादित अनैतिक शासन कला के विरुद्ध एक प्रकार की प्रतिक्रिया के द्योतक है। उसने उच्चतर नैतिक स्तर और ऊँचे दर्जे की राजनीतिक सूझबूझ से प्रेरणा ली है। कौटिल्य के अनुसार अन्तर्राज्य सम्बन्धों के पेचीदा क्षेत्र में सत्य और शपथ पर आधारित सन्धि सदैव मान्य रहनी चाहिए। कौटिल्य का नैतिकता के प्रति रुख का दूसरा पहलू अन्तर्राज्य सम्बन्धों के क्षेत्र में ही नग्न रूप में दिखाई पड़ता है। शासन कला में इस प्रकार की अनैतिकता को उसने राजा के हित तथा शासक वंश के हित में न्यायोचित ठहराया है।[82]

कौटिल्य ने राजा में देवत्व की वकालत नहीं की है। उसके शिक्षा, दायित्व, कार्यों आदि का जो विवरण दिया गया है उससे वह हिन्दू समाज का सामान्य सदस्य प्रतीत होता है, जो हिन्दू समाज के राजा होने की सम्भावना लगती है। फिर भी वह राजा के सर्वशक्तिमान होने की सम्भावना से इंकार नहीं करता। अर्थशास्त्र में राजा के धर्म निरपेक्ष तथा अक्षत्रिय वर्ण होने का उल्लेख है। जिस राजा धननन्द को हटाकर कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त को मगध का सिंहासन दिलाया था

वे दोनों ही क्षत्रिय नहीं थे। उस समय न तो पश्चिमी भारत के आक्रान्ता ही दैवीय भावना से भरे थे और न चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए ही देवत्व का उल्लेख मिलता है, इससे स्पष्ट है कि चली रही दैवीय उत्पत्ति की परम्परा लीक से हटकर स्वामी का स्थान कौटिल्य ने समाज में बताया है।[83]

कौटिल्य ने राज्य के सात अंगों में प्रथम स्थान स्वामी को बताया है और उसकी सत्ता के लिए स्वामित्व का उल्लेख किया है। यही वास्तव में राज्य का प्रभु था और उसकी सत्ता प्रभुसत्ता थी। इसी से दैवीय अधिकार की बात संभवतः राजा के सम्बन्ध में की गई है। गुप्तकाल में तथा उसके बाद के शासक धर्म से ऊपर हो गये थे। वे स्वयं सर्वशक्तिशाली थे। इन्होंने धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाई। वे सभी धर्मों में समन्वय लेकर चलते थे। किसी एक धर्म से प्रभावित नहीं थे। इसी से धर्म प्रधान कानून की व्यवस्था समाप्त हो गई और अब धर्मनिरपेक्षता कानून का स्वरूप सामने आया। प्राचीन भारत में प्रभुसत्ता राजा में थी; उसी में दैवीय अधिकार थे, धर्म का वहीं सर्वोच्च था, राज्य की सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी तथा न्याय का अधिष्ठान था।[84]

राजा राज्य पूर्णसत्ताधारी तथा अपने बनाये गये कानूनों के अतिरिक्त किसी नियम से प्रतिबद्ध नहीं था।[85] पर धर्म की बात इसलिए कही गई है कि इसके पीछे राजा की दण्डशक्ति होती है। इस प्रकार धर्म राज्य सत्ता के नीचे था।

धर्म सभी संस्थाओं के योग का प्रतिनिधि था। इसी के द्वारा जनकल्याण प्राप्त किया जा सकता था। इन विचारों में धर्म का अभिप्राय धर्म विशेष न होकर राजधर्म है। राजधर्म मौर्य काल से राजा स्वयं निर्धारित करते थे और उसे मन्त्रिमण्डल के सदस्यों द्वारा पूर्ण कराते थे, अतः यह राजा की सत्ता के अधीन था। प्रभुसत्ता राजा में निहित थी और राज्य प्रभुत्वपूर्ण थे, परन्तु राजा कभी भी निरकुंश नहीं था, इसलिए धर्म को राजा के ऊपर बताने का प्रयास धर्मशास्त्रों में बार–बार किया गया है। विवेकशील राजा के लिए धर्मबन्धन था, भले ही धर्म प्रभुसत्ता नहीं था। राजा का दण्डधर होना यह नहीं व्यक्त करता कि वह अप्रतिबन्धित अधिकार का उपयोग करता था। स्वेच्छाचारी और अत्याचारी राजा

धर्म के द्वारा बंधा था और जनता उसे गद्दी से उतार सकती थी। इस प्रकार वह अदण्ड्य नहीं था।[86]

धार्मिक मान्यताओं को अलग रखकर कौटिल्यीय राज्य की नीति की परिकल्पना ही नहीं की जा सकती। लेकिन दोनों का आपसी सम्बन्ध दो परस्पर विरोधी रूपों में व्यक्त हुआ है। ब्राह्मणीय जीवन पद्धति जिस अंश तक कौटिल्य के राज्य के मुख्य उद्देश्य के अर्थात् वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के अनुकूल है, उस अंश तक वह उसका पक्षधर है, लेकिन जो धार्मिक रीति–रिवाज राज्यशक्ति के विस्तार में बाधक हैं वह उनका त्याग कर देता है। कौटिल्यीय राज्य अपेक्षाकृत सहिष्णु तो है, किन्तु कुछ विद्वानों की यह राय सही नहीं है कि वह धर्म निरपेक्ष है। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ राज्य की संगठित नीतियों से धार्मिक प्रभाव का पूर्ण बहिष्कार है, जो कौटिल्य के राज्य में देखने को नहीं मिलता। भारतीय परम्परा में कौटिल्य का विशेष महत्व इस बात में निहित है कि उसके ग्रन्थ अर्थशास्त्र में राज्य के हित साधन के निमित्त अनेक प्रकार से धर्मदृष्टि की अवहेलना की गई है। इस अर्थ में इन्होंने राज्य व्यवस्था शास्त्र की रचना तथा उसे धर्म और धर्म दर्शन के प्रभाव से मुक्त करने की दिशा में प्रथम गम्भीर प्रयास किया है, लेकिन जिस समाज में वह रहता है, उसका स्वरूप चूंकि मुख्यतः धार्मिक था, इसीलिए वह राज्य को धर्म की अधीनता से पूर्णतः मुक्त नहीं करा पाए।[87]

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राज्य के सात अंगों में पुरोहित के पद का जिक्र तक नहीं किया है। यही उसके धर्मनिरपेक्ष ग्रन्थ होने का प्रमाण है। पुरोहित के पद का कौटिल्य ने वर्णन अवश्य किया है उसे उच्च स्थान भी दिया है और यह भी कहा है कि राजा को उसका अनुसरण करना चाहिए जैसे कि शिष्य गुरु का करता है, लेकिन यदि पुरोहित स्वधर्म की परिधि को लांघ जाता है अथवा देशद्रोह का अपराधी माना जाता है तो दण्डनीय है, उसे देश निकाला भी दिया जा सकता है।

भौतिकवाद जितना जीवन में आवश्यक है। कौटिल्य स्वीकार करते हैं। जीवन के तीन उद्देश्यों – धर्म, अर्थ और काम पर बल देते हैं। अर्थ और काम को वह भी भारतीय परम्परा के अनुसार धर्म के अधीन करते हैं। अर्थ को इस

सांसारिक जीवन में जरुरी मानते हैं। पुरुषार्थ पर ज्यादा जोर देते हैं, सितारे आदि की पूजा करने वाली परम्पराओं का विरोध करते हैं तथा धन की प्राप्ति के सभी साधनों के लिए कर्म करने में विश्वास करते हैं। धन और आवश्यक उपायों से रहित व्यक्ति सैकड़ों यत्न करने पर भी अपने अभीष्ट फल को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। अर्थों का ही अर्थों के साथ सम्बन्ध होता है, जैसे एक हाथी के द्वारा दूसरे हाथी को वश में किया जाता है। कार्य आरम्भ में जो राजा नक्षत्र, तिथि, लग्न, मुहुर्त आदि की अनुकूलता को अधिक पूछता है, वह प्रमादी राजा कभी अपने अभीष्ट को प्राप्त नहीं कर सकता है। प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिए पर्याप्त धन और आवश्यक साधनों को ही नक्षत्र समझना चाहिए, इस नक्षत्र गणना से कुछ भी बनता–बिगड़ता नहीं है।[88]

अर्थशास्त्र में मूलतः तीन प्रकार के विषयों का विवेचन किया गया है – राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक। इसके अन्तर्गत अर्थ, धर्म और काम के महत्व तथा उनके बीच सन्तुलन रखने का प्रयास किया गया है। एक यथार्थवादी चिन्तक होने के नाते कौटिल्य ने अर्थ पर विशेष महत्व दिया है। उसने स्वयं कहा है कि अर्थशास्त्र धर्म, अर्थ तथा काम में प्रवृत्त करता है, उनकी रक्षा करता है और अर्थ के विरोधी धर्मों को नष्ट करता है। इसके अन्तर्गत इस बात का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है कि राजनीति का अध्ययन नैतिकता से पृथक होकर ही किया जाना चाहिए, ऐसा करना ही सभी के लिए श्रेयष्कर है। राजधर्म श्रेष्ठ है और उसके लिए नैतिकता का त्याग अनुज्ञेय है।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन की परम्परा में अर्थशास्त्र से पूर्व शास्त्रों में धार्मिक सिद्धान्तों को सर्वोपरिता दी जाती थी, अर्थशास्त्र में राजकीय कानून को सर्वोपरिता प्रदान की गई है। इसमें न केवल राजाज्ञा को कानून का स्रोत माना है, वरन् उसे धर्म और व्यवहार से प्राथमिकता प्रदान की है। अर्थशास्त्र में हमें एक साथ ही राजनीतिशास्त्र, विधिशास्त्र, समाजशास्त्र, दण्डशास्त्र, अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र का ज्ञान उपलब्ध हो जाता है।

संदर्भ सूची :–

1. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — गैरोला वाचस्पति, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 2003, (च.सं.), पन्द्रहवां अधिकरण 'तंत्रयुक्ति', अध्याय 1, प्रकरण 180, पृ. 765
''मनुष्याणां वृत्तिरर्थः मनुष्यवर्ती भूमिरित्यर्थः।
तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रभिति।''
2. घोषाल, यू.एन — ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल आइडियाज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बॉम्बे, 1959, पृ. 84
3. प्रसाद, मणिशंकर — कौटिल्य के राजनीतिक एवं सामाजिक विचार, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1998, पृ. 4–5
4. अलतेकर, ए.एस. — प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, भारती भण्डार, इलाहबाद, 1983 पृ. 7
5. शर्मा, कमल नयन — कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, 2009, पृ. 16–17
6. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — पन्द्रहवाँ अधिकरण, 'तंत्रयुक्ति', अध्याय 1, प्रकरण 180, पृ. 171
''धर्ममर्थं च कामं च प्रवर्तयति पाति च।
अधर्मानर्थं विद्वेषानिदं शस्त्रं निहन्ति च।।''
''येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्द राजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रामिदं कृतम्।।''
''दृष्टवा विप्रतिपत्ति बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणाम्।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च।।''

I- जौली, द अर्थशास्त्र ऑफ कौटिल्य, लाहौर, 1923

II- विंटरनित्स एम, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर, 1963

III- कीथ ए.बी., ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर 1920

IV- शामशास्त्री आर., कौटिल्याज अर्थशास्त्र, 1915

V- जायसवाल के.पी., हिन्दू पॉलिटी, 1967

VI- भण्डारकर, डी.आर., सम आस्पेक्ट्स ऑफ एनशियेन्ट हिन्दू पॉलिटी, 1929

VII- मुखर्जी आर.के., चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, 2008

7. विन्टरनित्स, मॉरिस — हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर, वॉल्यूम III, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1963, पृ. 628–29
8. जायसवाल, के.पी. — हिन्दू पॉलिटी, द बैंगलोर प्रिन्टिंग एण्ड पब्लिशिंग हाउस क. लिमिटेड, बैंगलोर सिटी, 1967, पृ. 364–66
9. अलतेकर, ए.एस. — पूर्वोक्त, पृ. 10–11
10. काणे, पी.वी. — धर्मशास्त्र का इतिहास, प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय धर्म तथा विधियाँ, प्रथम भाग, हिन्दी समिति प्रभाग, लखनऊ, 1992, पृ. 30–32
11. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — प्रथम अधिकरण, विनयाधिकारिक, अध्याय 6, प्रकरण 3, पृ. 19
12. सालेटोरे, बी.ए. — एनशियेन्ट इण्डियन पॉलिटिकल थॉट एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बॉम्बे, 1963, पृ. 52
13. शर्मा, रामशरण — प्राचीन भारती में राजनीतिक विचार एवं संस्थाऐं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृ. 247
14. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — प्रथम अधिकरण 'विनयाधिकारिक', अध्याय 2, 6, प्रकरण 1, 3, पृ. 11, 18
15. चतुर्वेदी मधुमुकुल — प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 2011, पृ. 180
16. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — चाणक्य प्रणीत सूत्र ''धर्मेण धार्यते लोकः।।234।।, स्वर्ग नयति सूनृतम्।। नास्ति सत्यात् परंतपः।। सत्यं स्वर्गस्य साधनम्।। सत्येन् धार्यते लोकः।।416–419।।, पृ. 786, 793
17. थापर, रोमिला — प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, अनु–आदित्य नारायण सिंह, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली, 2010, पृ. 31–32
18. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — तृतीय अधीकरण 'धर्मस्थीय' अध्याय 1, प्रकरण 56–57, पृ. 259–60
19. अलतेकर, ए.एस. — पूर्वोक्त, पृ. 46
20. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — प्रथम अधिकरण, विनयाधिकारिक, अध्याय 6, 12, प्रकरण 3, 8, पृ. 18, 37
21. प्रसाद, बेनी — द स्टेट इन एनशियेन्ट इण्डिया, द इण्डियन प्रेस लिमिटेड, इलाहबाद, 1920, पृ. 267

22. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — प्रथम अधिकरण, विनयाधिकारिक, अध्याय 18, प्रकरण 14, पृ. 64
23. प्रसाद, मणिशंकर — पूर्वोक्त, पृ. 171
24. जायसवाल, के.पी. — पूर्वोक्त, पृ. 340
''प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां तु च हिते हितम्।
नात्मप्रिय हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।।''
25. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — चाणक्य प्रणीत सूत्र संख्या 415, पृ. 793
26. शरण परमात्मा — प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाऐं, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1970, पृ. 6
27. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — प्रथम अधिकरण, विनयाधिकारिक, अध्याय 1, 2, 3, प्रकरण 1 पृ. 8–13
***आन्वीक्षकी** : ये विद्या लोक का उपकार करती है, सुख–दुख में बुद्धि को स्थिर रखती है और सोचने, विचारने, बोलने तथा कार्य करने में सक्षम बनाती है। यह सभी कार्यों का साधन और सब धर्मों का आश्रम मानी गई है।
****त्रयी** : साम, ऋक् और यजु, इन तीनों वेदों का समन्वित नाम ही त्रयी है।
*****वार्ता** : कृषि, पशुपालन और व्यापार, ये वार्ता विद्या के विषय है।
28. शरण, परमात्मा — पूर्वोक्त, पृ. 5
29. वर्मा, वी.पी. — स्टडीज इन हिन्दू पॉलिटिकल थॉट एण्ड इट्स मेटाफिजिकल फाउण्डेशन, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1959, पृ. 66–67
30. चतुर्वेदी, मधुमुकुल — पूर्वोक्त, पृ. 264–65
31. मिश्र, भुवनेश्वरी दत्त — कौटिलीय राजनीति, वैशाली प्रकाशन, गोरखपुर, 1989, पृ. 98–99
32. वेदव्यास — महाभारत, अनु–परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, तृतीय भाग, शान्ति पर्व, षष्ठोध्यायः, श्लोक संख्या 2–8, 24–25, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 1987, पृ. 954–56
33. विद्यालंकार, सत्यकेतु — प्राचीन भारत की शासन पद्धति और राजशास्त्र, श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली, 2001, पृ. 294
34. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — प्रथम अधिकरण, विनयाधिकारिक, अध्याय 3, प्रकरण 1, पृ. 13
35. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — तृतीय अधिकरण, धर्मस्थीय, अध्याय 1, 7, 9, प्रकरण 56, 57, 63, 65, पृ. 253–293

36. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् चतुर्थ अधिकरण, सर्वाधिकरण रक्षणम्, अध्याय 9, प्रकरण 84, पृ. 380–85
37. शर्मा, अन्जू प्राचीन भारत में न्यायिक प्रणाली, श्याम प्रकाशन, जयपुर, 2001, पृ. 51–55
38. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् द्वितीय अधिकरण, अध्यक्ष प्रचार शासनाधिकार, अध्याय 10, प्रकरण 26, पृ. 124
39. विद्यालंकार, सत्यकेतु पूर्वोक्त, पृ. 336
40. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् चतुर्थ अधिकरण, सर्वाधिकरण रक्षणम्, अध्याय 9, प्रकरण 84, पृ. 382–85
41. महाजन, विद्याधर प्राचीन भारत का इतिहास, एस.चन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1970, पृ. 266
42. अलतेकर, ए.एस. पूर्वोक्त, पृ. 130
43. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् छठा अधिकरण, मण्डलयोनि, अध्याय 1, प्रकरण 96, पृ. 441
44. शर्मा, रामशरण पूर्वोक्त, पृ. 47–52
45. प्रसाद, बेनी द स्टेट इन एनशियेन्ट इण्डिया, द इण्डियन प्रेस लिमिटेड, इलाहबाद, 1920, पृ. 269
46. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् प्रथम अधिकरण, विनयाधिकारिक, अध्याय 1, 14 प्रकरण 3, 10, पृ. 18, 19, 46
47. अलतेकर, ए.एस स्टेट एण्ड गवर्न्मेंट इन एनशियेन्ट इण्डिया, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1955, पृ. 188
48. आसोपा, लक्ष्मीनारायण (सं.), संस्कृत वाड़मय में लोकतंत्र, लेख–सुदेश आहूजा कौटिल्य अर्थशास्त्र में मंत्री परिषद, हंसा प्रकाशन, जयपुर, 2010, पृ. 417
49. कोहली, ऋतु कौटिल्याज पॉलिटिकल थ्योरी, योगक्षेमा द कन्सेप्ट ऑफ वेलफेयर स्टेट, दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1995, पृ. 105–07
50. कमल, के.एल. भारतीय राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी अकादमी, जयपुर, 1998, पृ. 68–69
51. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् द्वितीय अधिकरण, अध्यक्ष प्रचार, अध्याय 1–2, प्रकरण 17–18, पृ. 77–83
52. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् पांचवाँ अधिकरण, योगवृत्त, अध्याय 90, प्रकरण 2, पृ. 412–14
53. प्रसाद, मणिशंकर पूर्वोक्त, पृ. 62
54. जायसवाल, के.पी. पूर्वोक्त, पृ. 324–26
55. सहाय, शिवस्वरूप प्राचीन भारतीय शासन और विधि, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 2005, पृ. 255–56

56. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् द्वितीय अधिकरण, अध्यक्ष प्रचार, अध्याय 8, प्रकरण 24, पृ. 109

57. विद्यालंकार, सत्यकेतु पूर्वोक्त, पृ. 314

58. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् पांचवाँ अधिकरण, योगवृत्त, अध्याय 90, प्रकरण 2, पृ. 415–16

59. वेदव्यास महाभारत, सप्तविंशोध्याय, श्लोक संख्या 10, पृ. 103

60. चतुर्वेदी, मधुमुकुल पूर्वोक्त, पृ. 161–62

61. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् पांचवाँ अधिकरण, योगवृत्त, अध्याय 90, प्रकरण 2, पृ. 419

62. घोषाल, उपेन्द्रनाथ हिन्दू राजस्व व्यवस्था का इतिहास, अनु. –अजयमित्र शास्त्री, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली, 1997, पृ. 15–16

63. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् प्रथम अधिकरण, विनयाधिकारिक, अध्याय 10, प्रकरण 6, पृ. 29

I- कापटिक – दूसरों के रहस्य जानने वाला, दबंग, विद्यार्थी के वेशभूषा वाला।

II- उदास्थित – बुद्धिमान्, सदाचारी, सन्यासी के वेश में रहने वाला।

III- गृहपतिक – बुद्धिमान, पवित्र ह्रदय, गरीब, किसान के वेश में रहने वाला।

IV- वैदेहक – बुद्धिमान, पवित्र ह्रदय, गरीब, व्यापारी के वेश में रहने वाला।

V-तापस – जीविका के सिर मुँडाये या जटा धारण करने वाला।

VI- सत्री – सामुद्रिक विद्या, ज्योतिष व्याकरण, वशीकरण, इन्द्रजाल, धर्मशास्त्र, शकुनशास्त्र, पक्षिशास्त्र, कामशास्त्र तथा तत्संबंधी नाचने–गाने की कला में निपुण।

VII- तीक्ष्ण – प्राणों की परवाह न कर हाथी, बाघ और साँप से भी भिड़ जाने वाले।

VIII- रसद – क्रूर प्रकृति, आलसी स्वभाव वाले, जहर देने वाले व्यक्ति।

IX- भिक्षुकी – राजकर्मचारियों के घर में घुसकर विधवाओं, ब्राह्मणों के अन्तःपुरों में स्त्रियों से भेदों की जानकारी प्राप्त करने वाली।

64. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — प्रथम अधिकरण, विनयाधिकारिक, अध्याय 15, प्रकरण 11, पृ. 49

I. निसृष्टार्थ – अमात्य के गुणों से युक्त।

II. परिमितार्थ – एक चौथाई गुणहीन।

III. शासनहर – आधा गुणहीन।

65. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — छठा अधिकरण, मण्डलयोनि, अध्याय 1, प्रकरण 96, पृ. 446–47

66. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — सप्तम अधिकरण, षाड्गुण्य, अध्याय 1, प्रकरण 189–99, पृ. 453

'सन्धिविग्रहासनयानसंश्रयद्वैधीभावाः
षाड्गुण्यमित्याचार्याः'

67. घोषाल, यू.एन. — ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पॉलिटिकल आइडियाज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस बॉम्बे, 1959, पृ. 68, 74

68. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — तेरहवाँ अधिकरण, दुर्गलम्भोपाय, अध्याय 4, 5, प्रकरण 174–76, पृ. 730–34

69. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — दसवाँ अधिकरण, सांग्रामिक, अध्याय 3, प्रकरण 150–52, पृ. 644

70. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — दूसरा अधिकरण, अध्यक्ष प्रचार, अध्याय 3, प्रकरण 19, पृ. 85

औदक दुर्ग – चारों ओर पानी से घिरा हुआ टापू के समान, गहरे तालाबों से आवृत्त स्थल प्रदेश में स्थित।

पार्वत दुर्ग – बड़ी–बड़ी चट्टानों अथवा पर्वत की कन्दराओं के रूप में निर्मित।

धान्वन दुर्ग – जल तथा घास आदि से रहित अथवा सर्वथा ऊसर भूमि में निर्मित दुर्ग।

वन दुर्ग – चारों ओर दलदल से घिरा हुआ अथवा कांटेदार सघन झाडियों से परिवृत दुर्ग।

71. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — तीसरा अधिकरण, धर्मस्थीय, अध्याय 16, प्रकरण 72–73, पृ. 324–25

72. शर्मा, रामशरण — पूर्वोक्त, पृ. 248

73. अलतेकर, ए.एस. — प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, भारती भण्डार, इलाहबाद, 1983, पृ. 216–18

74. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — दसवाँ अधिकरण, सांग्रामिक, अध्याय 3, प्रकरण 150–52, पृ. 644

75. चौधरी, आर.के. कौटिल्याज पॉलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1971, पृ. 371
76. प्रसाद, मणिशंकर पूर्वोक्त, पृ. 128–29
77. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् प्रथम अधिकरण, विनयाधिकारिक, अध्याय 2, प्रकरण 1, पृ. 10–11

''स्वधर्मोब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति।''
''क्षत्रियस्याध्ययनं यजनं दानं शस्त्राजीवो भूतरक्षणं च।''
''वैश्यस्याध्ययनं यजनं दानं कृषिपाशुपल्ये वाणिज्या च।''
''शूद्रस्य द्विजातिशुश्रूषा वार्ता कारूकुशीलवकर्म च।''
''गृहस्थस्य स्वकर्माजीवस्तुल्यैरसमानर्षिभिर्वेवा ह्ययमृतुगामित्वं देवपित्रतिथिभृत्युेषु त्यागः शेष भोजनं च।''
''ब्रह्मचारिणः स्वाध्यायोऽग्निकार्याभिषेकौ भैक्षव्रतत्वमाचार्ये प्राणान्तिकी वृत्तिस्तदभावे गुरूपुत्रे सब्रह्मचारिणी वा।''
''वानप्रस्थस्य ब्रह्मचर्य भूमौ शय्या जटाऽजिनधारणमग्निहोत्राभिषेकौ देवतापित्रतिथिपूजा वन्यश्चाहारः।''
''परिव्राजकस्य संयतेन्द्रियत्वमनारम्भो निष्किञ्चनत्वं संङ्गत्यागोभेक्षमनेकत्रारण्यवासो बाह्याभ्यन्तरं च शौचम्।''
''तस्मात्स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।
स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति।।''

78. दीपंकर, आचार्य कौटिल्यकालीन भारत, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1989, पृ. 179
79. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् तीसरा अधिकरण, धर्मस्थीय, अध्याय 16, प्रकरण 58–59, पृ. 261–67
80. प्रसाद, मणिशंकर पूर्वोक्त, पृ. 152
81. शर्मा, रामशरण पूर्वोक्त, पृ. 247–49
82. घोषाल, यू.एन. पूर्वोक्त, पृ. 153
83. सालेटोरे, बी.ए. पूर्वोक्त, पृ. 299–300
84. सिन्हा, एच.एन इण्डिया : द डेवलपमेंट ऑफ इण्डियन पॉलिटी, एशिया पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली, 1964, पृ. 123
85. कृष्णाराव, एम.वी. स्टडीज इन कौटिल्य इण्डिया, मुंशीराम मनोहर लाल पब्लिशर्स प्रा. लिमिटेड, नई दिल्ली, 1979, पृ. 127–28
86. सहाय, शिवस्वरूप पूर्वोक्त, पृ. 110–11
87. शर्मा, रामशरण पूर्वोक्त, पृ. 255–57
88. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् नौंवा अधिकरण, अभियास्यत्कर्म, अध्याय 4, प्रकरण 142, पृ. 612

अध्याय – चतुर्थ
धर्म और राजव्यवस्था तथा मनुस्मृति और अर्थशास्त्र की तुलना

धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र में वर्णित राजव्यवस्था और समाज व्यवस्था का विवेचन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ मनु एक आदर्शात्मकता व्यवस्था की स्थापना करते है, कौटिल्य ने अपनी व्यवस्था में व्यावहारिकता और यथार्थता को स्थान दिया है।

मनु के राज्य का झुकाव जीवन के भौतिक पक्ष की अपेक्षा आध्यात्मिक प्रतीत होता है। चारों वर्णों व आश्रमों के धर्मों और वर्णों के मिल जाने से उत्पन्न खतरों, पारिवारिक जीवन की पवित्रता, बच्चों–पत्नी आदि के कर्तव्यों की विस्तृत विवेचना धर्मशास्त्र में प्राप्त होती है। इसमें उच्च नैतिक जीवन बिताने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। संस्थाओं की पवित्रता, नियमों की पवित्रता, विवाहित जीवन के प्रति निष्ठा भाव, प्राचीन शिक्षाओं की महत्ता को बनाये रखना, व्यापार, पैतृक धन, दीवानी, फौजदारी कानून संबंधी समस्याओं का उल्लेख भी मनुस्मृति में प्राप्त होता है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राज्य का झुकाव भौतिक पक्ष की ओर अधिक है। सेना, युद्ध, संघर्ष, शान्ति, नीति, षडयन्त्र, भेदियों को नियुक्त करना, सरकारी विभागों का संचालन, राष्ट्रीय संकट, बाहरी व आन्तरिक खतरे आदि अर्थशास्त्र के मुख्य विषय हैं। कौटिल्य की राजव्यवस्था मनु की राजव्यवस्था की अपेक्षा अधिक जटिल, समस्याओं से ग्रस्त व दण्ड और अर्थ के ऊपर आधारित प्रतीत होती है। मनु ने सर्वत्र धर्म को ही सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है।

मनु की भाँति कौटिल्य ने राजनीतिक संस्थाओं पर वेद, धर्मशास्त्रों के पवित्र आधिपत्य को स्वीकार नहीं किया है, न ही ज्ञान के क्षेत्र में वेदों को प्रथम स्थान प्रदान किया है। मनु ने तीन विद्याओं त्रयी, वार्ता और दण्डनीति में वेद को ही मुख्य माना है। कौटिल्य के अनुसार आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति चार विद्याऐं हैं। आन्वीक्षकी तार्किक प्रक्रिया है, यह सब विद्याओं का प्रदीप, सब कार्यों का साधनभूत तथा सब धर्मों का आश्रयभूत है। मनु के राज दर्शन में तर्क का कोई स्थान नहीं है, धर्म ही प्रमुख है।

धर्मशास्त्र के समान ही कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी धर्म का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य का मानना है कि धर्म एवं अर्थ के अविरोध में ही काम की तृप्ति करनी चाहिए, बिना आनन्द के जीवन नहीं बिताना चाहिए। यद्यपि अपनी मान्यता के अनुसार कौटिल्य ने अर्थ को ही प्रधानता दी है क्योंकि अर्थ से ही धर्म और काम की उत्पत्ति होती है। फिर भी चार वर्णों और चार आश्रमों के धर्मो का धारण कर, राजा का धर्म प्रजा को धर्म मार्ग से भ्रष्ट न होने देना है। धर्म के पालन से ही राजा की इहलोक व परलोक में सद्गति होती है। धर्म से रक्षित प्रजा ही सुखी रहती है।

यद्यपि मनु व कौटिल्य दोनों ने ही प्रजा पीड़क, अधर्मी राजा का पदच्युत करने का अधिकार प्रजा को दिया है, तथापित मनु का राजा दैवीय अंशों से युक्त है व कोई भी उसके बनाये नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता है। इस तरह मनु का संप्रभुता का सिद्धान्त राजनीतिक शक्ति की अपेक्षा नैतिकता की शर्तों पर आधारित है, जबकि कौटिल्य का मानना है कि व्यवहार में कोई भी दैवीय शक्ति संप्रभु के चारों तरफ नहीं है।

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में मनुस्मृति में स्पष्ट विवेचन मिलता है। मनु ने राजा के संबंध में दैवीय सिद्धान्त का प्रतिपदान करते हुए माना है कि ईश्वर ने आठ देवताओं के अंशों से संसार की रक्षा के लिए राजा को बनाया है, अतः वह सब प्राणियों से अधिक तेजस्वी है। कौटिल्य के राजा की उत्पत्ति सामाजिक समझौते के आधार पर हुई है। समाज में अव्यवस्था होने पर ''मात्स्य–न्याय'' प्रचलित होने पर प्रजा ने अपनी रक्षा लिए उत्पन्न हुए अन्न का छठा भाग, व्यापार द्वारा प्राप्त धन का दसवाँ भाग और स्वर्ण का कुछ भाग कर के रूप में राजा के लिए नियत किया बदले में राजा ने प्रजा के धन–जन की रक्षा का वचन दिया। कौटिल्य के राजा के पीछे कोई दैवीय बंधन न थे। इससे स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति में प्रत्येक कर्म के पीछे धर्म की शक्ति या प्रेरणा है, अर्थशास्त्र में अर्थ की।

मनुस्मृति भारतीय चिन्तन की पूर्ववर्ती परम्परा अर्थात् वैदिक परम्परा को प्रकट करती है जबकि कौटिल्य का अर्थशास्त्र अपनी एक अलग विशेषता प्रकट

करता है जिसके चिन्तन में दार्शनिक व धार्मिक पक्ष के साथ–साथ विशुद्ध राजनीतिक व क्रियात्मक विचारों का अंश भी मिलता है।

राज्य की दैवीय उत्पत्ति का वर्णत करते हुए मनु ने कहा है कि ईश्वर ने इन्द्र, वायु, सूर्य, यम, वरुण, चन्द्रमा, अग्नि, पृथ्वी तथा कुबेर आदि दिव्य तत्वों के दिव्य अंशों को मिलाकर राजा की सृष्टि की। दिव्य तत्वों के इन अंशों को धारण करने के कारण पृथ्वी पर कोई भी इसे देखने में समर्थ नहीं है। राजा सर्वोपरि है, अतः कोई भी सत्ता उसे चुनौती नहीं दे सकती। वह ईश्वर का प्रतिनिधि है, केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है, कोई भी उसका अनादर न करे, वह स्वयं ईश्वर है जो राजा के रूप में इस पृथ्वी पर शासन कर रहा है।

कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है और राज्य की उत्पत्ति को एक सामाजिक समझौते का परिणाम माना है। यह समझौता शासक व शासितों के मध्य हुआ है, इसमें शासक के शासितों के प्रति कुछ कर्तव्य हैं तो शासितों के शासक के विरुद्ध कुछ अधिकार भी है। प्रजा या शासितों द्वारा राजा को अपदस्थ कर किसी अन्य योग्य व्यक्ति को शासक बनाने की शक्ति का प्रयोग यह व्यक्त करता है कि कौटिल्य ने शासकीय शक्ति का अन्तिम स्रोत जनता को माना है और जनता की सहमति व स्वीकृति को इस शासकीय शक्ति का आधार माना है। कौटिल्य द्वारा किया गया राज्य से पूर्व की अवस्था का चित्रण हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था से मिलता–जुलता है।[1]

इस तरह मनु राजपद को दैवीय, अलौकिक शक्ति से युक्त मानते हैं, कौटिल्य पूर्णरूपेण भौतिक व लौकिक शक्ति से सम्पन्न मानते हैं, परन्तु दोनों ही राजा का प्रथम कर्तव्य प्रजा के हितों की रक्षा ही स्वीकार करते हैं।

12 अध्यायों में विभक्त ई.पू. दूसरी शताब्दी तथा ई. के बाद दूसरी शताब्दी के मध्य की रचना मनुस्मृति में राज्य के सावयवी स्वरूप का वर्णन किया गया है। राज्य के सात घटक माने हैं, जिन्हें मनु ने प्रकृति नाम दिया है। स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र। इन अंगों के तुलनात्मक महत्व के संबंध में मनु कहता है कि प्रत्येक प्रकृति का महत्व उसके पश्चात दी गई प्रकृति की तुलना में अधिक है। साथ ही मनु ने यह भी माना है कि जिस–जिस कार्य में

जो–जो अंग श्रेष्ठ होता है और इस अंग से जो कार्य पूरा होता है, उस कार्य में वही अंग श्रेष्ठ होता है। मनु की भाँति कौटिल्य ने भी राज्य के सावयवी स्वरूप का वर्णन अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में किया है जो कि ई.पू. 300 से ई. के बाद 200 के मध्य की रचना है।[2] अर्थशास्त्र में कुल 15 अधिकरण, 150 अध्याय, 180 विषय एवं 6000 श्लोक हैं। कौटिल्य ने भी सभी प्रकृतियों को राज्य के लिए महत्वपूर्ण माना है, किन्तु राज्य के कार्यों की सिद्धि के लिए जिस समय, जिस प्रकृति को महत्व दिया जाना आवश्यक हो उस समय उसी प्रकृति को महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए।[3]

मनुस्मृति एक नीति ग्रन्थ है। नीति के व्यापक अर्थ में यह मानव जीवन के समस्त कार्य व्यवहार को अपने क्षेत्र में समाहित करती है। जीवन के समस्त अंगों में सम्यक कर्तव्यों का निर्वाह और दायित्वों का अनुपालन व्यापक अर्थ में मनुस्मृति में लौकिक दृष्टि से धर्म के अर्थ को व्यक्त करते हैं। यही कारण है कि राजा के कर्तव्यों व दायित्वों से संबंधित प्रकरण को मनुस्मृति में राजधर्म की संज्ञा प्रदान की गई है, जबकि अर्थशास्त्र में इसके विपरीत अनेक प्रावधानों के द्वारा धर्म को लौकिक आचरण से जोड़ने का अधिक प्रयत्न किया गया है। मनुस्मृति में धर्म के लौकिक अर्थ को उसके पारलौकिक अर्थ पर अपेक्षाकृत अधिक निर्भर बना दिया है। अर्थशास्त्र में सुख का आधार धर्म को, धर्म का आधार अर्थ को व अर्थ का आधार राज्य को माना गया है।[4] इस प्रकार धर्म का अर्थ व राज्य का संयोग निःसंदेह धर्म को एक लौकिक अर्थ प्रदान कर देता है। अर्थशास्त्र की पूरी विषय सामग्री पर विचार करने से कहीं यह आभास नहीं होता है कि धर्म का पालन व धर्म के अनुकूल माननीय वृत्तियों का नियंत्रण किसी पारलौकिक कामना अथवा मोक्ष की प्राप्ति जैसे किसी उद्देश्य को प्राप्त किए जाने की दृष्टि से अभीष्ट है, वरन् कौटिल्य ने धर्म के प्रति राजा व प्रजा दोनों की प्रतिबद्धता की लौकिक उपयोगिता साथ ही राजा और प्रजा दोनों के धर्म से विमुख हो जाने के लौकिक परिणामों की ओर ध्यान आकर्षित किया है।

मनुस्मृति में धर्म के पारलौकिक महत्व को अधिक स्पष्ट किया है और प्रतीत होता है कि मनुष्यों के सांसारिक आचरण को धर्म के अनुकूल नियमित करना मूलतः किसी सांसारिक प्रयोजन की सिद्धि नहीं करता, वरन् धर्म का

अनुपालन पारलौकिक कल्याण के लिए एक पृष्ठभूमि तैयार कर देना है। व्यक्ति यदि अपने लौकिक आचरण को धर्म के अनुकूल संचालित कर पाता है तो वह अपने अस्तित्व के अन्तिम अभीष्ट परमात्मा में विलीन हो जाने का प्राप्त कर सकता है। परमात्मा में लीन हो जाना ही सम्पूर्ण जीवों के लिए निवृत्ति और परम सुख की अवस्था है। मनुस्मृति सांसारिक आचारण को धर्म के अनुकूल नियमित करने को पारलौकिक कल्याण के लिए अनिवार्य मानती है। पुत्र, स्त्री, धन इत्यादि के लौकिक मोह परलोक में कोई सहायता नहीं कर सकते बल्कि व्यक्ति का धर्म ही परलोक में एकमात्र सहायक के रूप में साथ रहता है। बन्धु बान्धव और समस्त सांसारिक सम्बल व्यक्ति की मृत्यु के साथ ही मुख फेर लेते हैं, एक धर्म ही साथ जाता है। मनु ने परलोक में सहायता प्राप्त करने के लिए मनुष्य को धीरे–धीरे हमेशा धर्म का संचय करने की सलाह दी है, क्योंकि वह धर्म की सहायता से समस्त प्रकार की पारलौकिक कठिनाइयों को पार कर सकता है।[5]

मनुस्मृति में राजधर्म संबंधी सप्तम अध्याय के प्रारम्भ में राजधर्म को भी लौकिक व पारलौकिक सफलताओं का साधन बताया है। राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त का स्पष्टतः प्रतिपादन किया गया है। लोक में अराजकता व्याप्त होने पर और बलवानों के द्वारा प्रजा को प्रताड़ित किए जाने पर सम्पूर्ण चराचर की रक्षा के लिए ही ईश्वर ने राजा की सृष्टि की। मनुस्मृति में धर्म को राज्य की किसी पूर्ववर्ती सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया गया वरन् धर्म तथा राजधर्म के विषय में विभिन्न संदर्भों में जो भी चित्रण किया गया है, उससे स्पष्ट होता है कि ईश्वर ने धर्म और राजकीय सत्ता दोनों को एक साथ उत्पन्न किया है और इसी कारण यह धर्म पारलौकिक दृष्टि से भले ही राजा को ईश्वर के प्रति उत्तरदायी बनाता हो किन्तु राजा को धर्म के मापदण्ड निर्धारित करने का अधिकार दे दिया गया है और प्रजा से यह अपेक्षा की गई है कि वह इच्छा के प्रतिकूल होते हुए भी उस धर्म का कदापि उल्लंघन न करे।[6]

मनुस्मृति के विपरीत अर्थशास्त्र मूलतः कोई नीति ग्रन्थ न होकर एक राजनीतिक ग्रन्थ है, स्वयं कौटिल्य ने अर्थ के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए व्यक्त किया है, यह सैद्धान्तिक नहीं वरन् एक व्यावहारिक विवेचन है। कौटिल्य ने मानवीय व्यवहार को अर्थ की संज्ञा दी है। साथ ही मनुष्यों से युक्त भूमि को भी

अर्थ बताया है।[7] मानवीय वृत्ति और मनुष्यों से युक्त भूमि की प्राप्ति और उसके पालन के उपायों को अर्थशास्त्र की विषयवस्तु माना जा सकता है। अर्थशास्त्र गूढ़ दार्शनिक तत्वों का विवेचन नहीं करता किन्तु पूरी तरह उपेक्षा भी नहीं करता। अर्थशास्त्र के अंत में 'चाणक्य प्रणीत सूत्र' में धर्म की परिभाषा, धर्म और व्यवहार के मध्य संबंध, धर्म व राज्य के मध्य संबंध, राज्य पर अनुशासन आदि सैद्धान्तिक विषयों का विवेचन किया गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हमें धर्म के पारलौकिक स्वरूप के साथ–साथ अर्थ पर आधारित लौकिक व्यवहार के दर्शन होते हैं। अर्थ की राज्य पर निर्भरता यह स्पष्ट करती है कि मानव के लौकिक व्यवहार का धर्मानुकूल नियमन राज्य का दायित्व है। राज्य भी अपने इस दायित्व का स्वेच्छा या निरंकुशतापूर्वक निर्वाह नहीं कर सकता वरन् उसे स्वयं अनुशासन और सदाचार के कुछ नियमों के अधीन रहते हुए ही इन दायित्वों का निर्वाह करना है।

मनुस्मृति में राजा स्वयं इस बात के लिए अधिकृत है कि धर्म के अनुकूल प्रजा के आचरण के मापदण्ड निर्धारित करे। तार्किक दृष्टि से मनुस्मृति के राजा पर धर्म का नियंत्रण नहीं रहता क्योंकि धर्म की व्याख्या के लिए वह किसी लौकिक सत्ता के प्रति उत्तरदायी नहीं है। इसके विपरीत धर्म की व्याख्या पर राजकीय नियंत्रण एक दृष्टि से राजा को एक साथ धर्म का प्रतिपादक, सर्वोच्च व्याख्याकार व संरक्षक बना देता है जबकि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में धर्म को उसके लौकिक अर्थ में आचरण के सार्वभौमिक व सामान्य मापदण्डों के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार धर्म को राजकीय व्याख्या से परे निकाल लिया गया है। धर्म को राजकीय सत्ता से अधिक महत्वपूर्ण और नियामक सत्ता माना गया है। धर्म के सार्वभौमिक स्वरूप का एक पक्ष यह भी है कि धर्म को स्थान व काल के अनुसार बदला नहीं जा सकता, बल्कि धर्म के सामान्य नैतिक नियम सब कालों में समस्त व्यक्तियों पर एक ही रूप में बाध्यकारी माने गये हैं। इसके विपरीत मनुस्मृति में इस बात को स्वीकार कर लिया गया है कि अलग–अलग युगों में धर्म का स्वरूप अलग–अलग प्रकार का है।[8] इस प्रकार सत, त्रेता, द्वापर और कलियुग में यदि धर्म की व्याख्या अलग–अलग प्रकार होती है तब सांसारिक

दृष्टि से सर्वोच्च नियामक शक्ति होने के कारण, राजा को धर्म की व्याख्या का निर्द्वन्द्व अधिकार प्राप्त हो जाता है।

मनु धर्म को पूरी तरह राज्याधीन बना देता है। प्रजा के आचरण के राज्य निर्धारित धर्म के अनुकूल नियमन व धर्म के चार स्रोतों वेद, स्मृति, सज्जनों का आचार–व्यवहार और अन्तःकरण के अतिरिक्त मनु ने धर्म के कुछ सामान्य सिद्धान्तों को भी इंगित किया है। धर्म का स्वरूप युग के अनुसार परिवर्तनशील, कुछ सार्वभौमिक मूल्यों के साथ धर्म के संयोग के कारण मनु ने धर्म को एक सार्वभौमिक नैतिक महत्व भी प्रदान कर दिया है। सत्य और अहिंसा को मनु ने धर्म के सार्वभौमिक लक्षण के रूप में स्वीकार किया है।[9] मनु की भाँति कौटिल्य ने भी दया, सत्य, दान और अहिंसा आदि को धर्म का लक्षण बताया है। 'सत्य' धर्म के विचार का केन्द्रीय तत्व है और इसमें पारलौकिक व लौकिक दोनों तरह के कल्याण संभव हैं।[10] यद्यपि कौटिल्य ने मनु की भाँति राजा के कर्तव्यों के निरूपण को राजधर्म की संज्ञा नहीं दी किन्तु राजा के कर्तव्यों के वर्णन के साथ–साथ बार–बार राजा को सचेत किया है कि नीति के उल्लंघन से राजा नष्ट हो सकता है।

भारतीय चिन्तन में राज्य को धर्म पर आधारित उद्देश्यपूर्ण संस्था के रूप में माना गया है। धर्म की व्यापक परिधि में नैतिक मूल्यों, सदाचार के शाश्वत सिद्धान्तों, सामाजिक व्यवस्था के आधारभूत नियमों, प्रजा के कल्याण के प्रति शासक के सकारात्मक दायित्वों तथा शासकीय शक्ति का प्रयोग करते समय शासक से अपेक्षित मर्यादाओं आदि को सम्मिलित किया गया है।

मनुस्मृति में धर्म और राज्य को परस्पर निर्भर माना गया है। राज्य का अस्तित्व ही धर्म–प्रवर्तन के लिए है। अतः राज्य धर्म पर निर्भर है। राज्य के संस्थागत माध्यम के बिना धर्म का सुरक्षित रहना संभव नहीं है। अतः धर्म राज्य पर निर्भर है। धर्म के नैतिक बल को व्यवहार में लागू करने के लिए किसी भौतिक शक्ति की आवश्यकता होती है। दण्ड ऐसी भौतिक शक्ति है जो धर्म को बाध्यकारी रूप में प्रवर्तित कर सकती है। राज्य इस बाध्यकारी बल के प्रयोग के लिए अधिकृत है, किन्तु राज्य इस दण्डशक्ति का स्वामी न होकर अभिकर्ता मात्र है जो

कि धर्म के सिद्धान्तों और विधि की प्रक्रिया के अधीन रहते हुए निश्चित प्रयोजन के लिए दण्ड का उपयोग करता है। राज्य द्वारा धर्म के विरुद्ध दिया गया दण्ड लोक में राजा की अपकीर्ति और परलोक में उसके नरक गमन का कारण बनता है। दण्ड का दुरूपयोग करने पर यह दण्ड ही राजा को नष्ट कर देता है अर्थात् राजा स्वयं भी दण्ड की संप्रभु शक्ति के अधीन है।

कौटिल्य के अनुसार राजा धर्म के द्वारा प्रजा के व्यवहार को नियंत्रित करता है। इस प्रकार धर्म राजकीय शक्ति के प्रजा पर प्रयोग की स्वाभाविक मर्यादा है। राज्य एक ऐसी अधिकृत संस्था है, जो धर्म के संरक्षण के लिए भौतिक शक्ति का प्रयोग करती है। उसके वैध नियंत्रण को लोगों द्वारा चुनौती नहीं दी जा सकती। राज्य द्वारा प्रयुक्त यह भौतिक शक्ति दण्ड है। इस प्रकार दण्ड की अनुल्लंघनीयता और धर्म की नैतिक शक्ति संयुक्त रूप से राज्य की संप्रभुता का आधार है। धर्म को कौटिल्य ने मनुष्य के सार्थक और उद्देश्यपूर्ण जीवन के लिए आवश्यक नियमों की संहिता, नैतिक मूल्यों तथा राज्य सत्ता पर नियंत्रण के रूप में स्वीकार किया है। न्यायिक प्रशासन का मुख्य उद्देश्य विधि के शासन को सुनिश्चित करना है। न्यायाधीश जहाँ एक ओर राज्य की विधायी शक्ति को धर्म के नियंत्रण में रखते थे, वहीं दूसरी ओर वे स्वयं भी विधि के नियंत्रण से परे नहीं माने गये थे। इस प्रकार धर्म राज्य की विधायी, कार्यपालिका और न्यायिक शक्तियों को एक साथ मर्यादित रखने का माध्यम था।

प्राचीन भारत में राजा को शासन की सर्वोच्च सत्ता प्राप्त थी फिर भी वह धर्म के अधीन था। राजा से सदैव ही यह अपेक्षित था कि वह धर्म के अनुसार ही आचरण करे। राजा स्वधर्म का पालन करके ही सभी वर्णों के व्यक्तियों को स्वधर्म पालन हेतु बाध्य और प्रेरित कर सकता है। राजकीय दायित्वों को राजधर्म की संज्ञा दी गयी है। राज्य के संविदात्मक स्वरूप जिसका उल्लेख कौटिल्य ने किया है, ये व्यवस्था थी कि यदि राजा धर्म से विमुख होता है तो प्रजा उसे पदच्युत कर सकती है तथा किसी अन्य योग्य व्यक्ति को अपना राजा नियुक्त कर सकती है। वहीं राज्य के दैवीय स्वरूप जिसका उल्लेख मनु ने किया है, के अनुसार धर्म से विमुख होने पर राजा में देवत्व की कमी हो जाती है और राजा शनैः शनैः नष्ट हो

जाता है अर्थात् मनु एवं कौटिल्य दोनों ही इस बात से सहमत हैं कि चाहे राज्य की उत्पत्ति का आधार कोई भी हो उसके स्थायित्व का आधार धर्म ही है।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में धर्म ही सत्य है की अवधारणा दृष्टिगोचार होती है। धर्म राजा से बहुत ऊपर है क्योंकि धर्म दैवीय है, राजा सदैव धर्म की रक्षा करता था। यहाँ धर्म से अभिप्राय धर्म विशेष न होकर नियम से है। इसी से धर्म नियंत्रित राजा धर्म निरपेक्ष होकर अनेक प्रकार की विपत्तियों से प्रजा की रक्षा करता था। भारत में धर्म ही सामाजिक और राजनीतिक विकास का आधार रहा है।[11] मनु एवं कौटिल्य दोनों ने ही राजा को शास्त्रीय नियमों का विरोध न करने वाला तथा निरंकुश न हो ऐसा बनाया है। धर्म की भावना के कारण ही राजा अपने राज्य की रक्षा करता है। राजा जब धार्मिक होता है तो प्रजा भी धार्मिक बन जाती है। धर्म की रक्षा के लिए दण्ड की भावना भारतीय चिन्तन में विकसित हुई है। दण्ड ही राजा को निरंकुश होने से रोकता था इसीलिए धर्म और दण्ड को एक दूसरे पर आश्रित रखा गया। दण्ड को दैवीय शक्ति प्राप्त थी, जिससे बुरे राजा अपने को बंधनों में रखते थे। मनु ने दण्ड और धर्म को समान माना है क्यों यह सबको सुख देता है।[12] कौटिल्य की मान्यता है कि बिना भेदभाव के दण्ड के प्रयोग से राजा प्रजा को इस लोक और परलोक में सुखी रखता है।[13]

धर्म के लिए दण्ड आवश्यक है किन्तु दण्ड धर्म का निर्माण नहीं करता। धर्म के निर्वाह और धर्म की रक्षा के निमित्त राज्य को दण्डाधिकार प्रदान किया गया है। मनु एवं कौटिल्य दोनों ही दण्ड के अनुचित प्रयोग को मात्स्य न्याय के तुल्य मानते हैं तथा दण्ड के समुचित प्रयोग का लक्ष्य प्रजा की सुख–समृद्धि। जो शासक दण्ड का दूषित प्रयोग करते हैं, वे अवश्य नरकगामी होती हैं।

मनु ने विवादास्पद विषयों को 18 कोटियों में वर्गीकृत किया है एवं सामान्यतया पाँच प्रकार के दण्ड का विधान किया है – अर्थदण्ड, देहदण्ड, अंगभंग, देश–निष्कासन तथा मृत्युदण्ड।[14] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इस वर्गीकरण और दण्ड की मात्रा में न्यूनाधिक अन्तर है जो देशकाल और राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थिति के परिवर्तन के कारण है, किन्तु राज्य का दण्डाधिकार निर्विवाद है।

मनुस्मृति और कौटिल्यीय अर्थशास्त्र में भिन्न अपराधों के लिए पृथक–पृथक दण्ड का विधान किया गया है। मनु एवं कौटिल्य दोनों ने ही अपराधवृति के लिए साहस संज्ञा का प्रयोग किया है। मनु ने सामान्यतया तथा कौटिल्य ने विशेषतया प्रथम साहस और द्वितीय साहस के दण्ड में अंतर किया है। कौटिल्य ने प्रथम बार और द्वितीय बार के साहस के अतिरिक्त साहस की प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय कोटियों का विवरण भी प्रस्तुत किया है। ये कोटियाँ अपराधों की लघुता और गुरुता के आधार पर बखान की गई हैं।

भारतीय राज चिन्तन में दण्ड का व्यापक महत्व है। मनुस्मृति वैदिक परम्परा से पूर्णरूप से प्रभावित है। इस कारण इसमें निहित विचारों में धर्म का अधिक प्रभाव है। राज्य का अस्तित्व ही धर्म की स्थापना के लिए हुआ है किन्तु अर्थशास्त्र कुछ भिन्नता रखता है। इसके चिन्तन में दार्शनिक व धार्मिक पक्ष की अपेक्षा विशुद्ध राजनीतिक क्रियात्मक विचारों का अंश मिलता है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के प्रथम अधिकरण प्रथम अध्याय में दण्डनीति को अत्यधिक महत्व दिया है। वह अपने ग्रन्थ का नाम ही दण्डनीति रखना चाहता था।

मनु एवं कौटिल्य दोनों ने ही वेदों के अध्ययन पर बल दिया है, परन्तु मनु द्वारा वेदों के अध्ययन और उद्धरण पर काफी बल दिया गया है। कौटिल्य एक यर्थाथवादी विचारक थे। उन्होंने आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति कुल मिलाकर चार विज्ञान माने हैं। मनु ने त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन तीनों विद्याओं को ही माना है। उनका मत है कि आन्वीक्षकी का समावेश त्रयी के अन्तर्गत हो जाता है जबकि कौटिल्य ने आन्वीक्षकी को बहुत ही उपयोगी ज्ञान माना है, यह मस्तिष्क को सभी परिस्थितियों में शान्त रखता है, मन, वचन और कर्म में एकाग्रता और स्थितप्रज्ञता प्रदान करता है।

कौटिल्य चारों विद्याओं को मानते हैं और उनकी यर्थाथता धर्म तथा अधर्म के ज्ञान में बताते हैं। सांख्य, योग और लोकायत (नास्तिक दर्शन) ये आन्वीक्षकी विद्या के अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार त्रयी में धर्म–अधर्म का वार्ता में अर्थ–अनर्थ का और दण्डनीति में सुशासन–कुशासन का ज्ञान प्रतिपादित है। त्रयी आदि विद्याओं की प्रधानता–अप्रधानता (बलाबल) को भिन्न–भिन्न युक्तियों से निर्धारित करती हुई

आन्वीक्षकी विद्या लोक का उपकार करती है, सुख–दुख में बुद्धि को स्थिर रखती है और सोचने विचारने, बोलने तथा कार्य करने में सक्षम बनाती है। यह आन्वीक्षकी विद्या सर्वदा ही सब विद्याओं का प्रदीप सभी कार्यों का साधन और सब धर्मों का आश्रय मानी गई हैं।[15]

मनु एवं कौटिल्य दोनों ने ही दण्ड के समुचित प्रयोग को महत्व प्रदान किया है। मनुस्मृति में दण्ड को धर्म तक कह दिया गया है क्योंकि दण्ड के अभाव में धर्म का क्रियान्वयन असम्भव है। इस लोक में ही नहीं बल्कि परलोक में भी व्यक्ति धर्म का पालन दण्ड के कारण ही करते हैं। दण्ड के भय से ही संसार न्यायपथ से चलायमान नहीं होता क्योंकि स्वभाव से निर्दोष मनुष्य बहुत दुर्लभ है। मनुस्मृति प्राचीन भारत का प्रथम विस्तृत दण्ड विधान है, जिसमें व्यक्ति के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक यहाँ तक ही व्यक्तिगत सम्बन्धों के बारे में भी नियमों के उल्लंघन पर दण्ड का विधान है।

कौटिल्य की दण्ड व्यवस्था का क्षेत्र इतना व्यापक है कि कौटिल्य ने यहाँ तक लिख दिया है कि राजा न केवल गृहस्थियों के दुष्ट आचारों को बल्कि संन्यासियों में होने वाले दुष्ट आचारों को भी दण्ड के द्वारा दूर करे। कौटिल्य ने दण्ड को इतना अधिक महत्व देते हुए भी दण्ड को ही प्राणियों को वश में करने का एकमात्र साधन नहीं माना है अपितु कहा है कि कठोर दण्ड देने वाले राजा से सभी प्राणी उद्विग्न हो उठते हैं, किन्तु दण्ड में कोमलता कर देने से व्यक्ति राजा की अवहेलना करने लगते हैं। इसलिए राजा को समुचित दण्ड देने वाला होना चाहिए। संक्षेप में राजा धर्म का संरक्षक था और दण्ड की सहायता से शासन करता था। सिद्धान्ततः तो न्यायिक पद्धति को जनता के कल्याण और सुख को प्रोत्साहन देने के लिए संगठित किया गया था।

भारतीय चिन्तन में न्याय को विशेष स्थान व महत्व प्रदान किया गया है। मनु एवं कौटिल्य दोनों ही विचारकों ने न्याय को राज्य का प्राण माना है। दोनों ने ही न्याय में निष्पक्षता और सत्यता पर बल दिया है तथा कहा कि जो राजा पृथ्वी पर अपनी प्रजा के लिए न्याय की व्यवस्था नहीं कर सकता वह जीवित रहने के

योग्य नहीं है। न्याय का उद्देश्य प्रजा के लिए सुखी जीवन की व्यवस्था कर उसके दुखों का निवारण करना है।

मनु के अनुसार दण्डशक्ति के माध्यम से समाज में व्याप्त हर प्रकार की बुराई का अंत करना तथा समाज में सद्‌गुण और शान्ति की स्थापना करना राजा का प्रमुख उद्देश्य है। राजा द्वारा इस दण्डशक्ति का प्रयोग निष्पक्ष रीति से किया जाना चाहिए। राजा की न्यायिक शक्ति को मनु ने 'यमव्रत' का नाम दिया है। न्यायिक शक्ति के प्रयोग में राजा अपनी बौद्धिक क्षमता का प्रयोग करे। दण्डशक्ति के बिना विचारे प्रयोग किये जाने पर यह दण्ड ही शासक को नष्ट कर देता है। दण्ड के माध्यम से समाज की भी नैतिक उन्नति होती है तथा सुदृढ सामाजिक व्यवस्था का निर्माण होता है।[16] मनु ने दण्ड के तीन दृष्टिकोण बताये हैं, प्रथम **निवारक** अर्थात् दण्ड के माध्यम से ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करना कि कोई अपराध करने का साहस न करे। द्वितीय **प्रतीकारात्मक** अर्थात् दण्ड के माध्यम से अपराधी द्वारा किये गये अपराध का बदला देना जैसे चोरी करने पर हाथ काट देना, गाली देने पर जीभ काट लेना आदि। तृतीय **सुधारात्मक** अर्थात् दण्ड के माध्यम से अपराधी का ह्रदय परिवर्तन करना ताकि उसके मन में से अपराध की प्रवृत्ति समाप्त हो जाये। मनु ने दण्ड के प्रतीकारात्मक तथा निवारक दृष्टिकोण को ही महत्व दिया है तथा सुधारवादी दृष्टिकोण की उपेक्षा की है। मनु के अनुसार दण्डशक्ति का प्रयोग शुद्ध चरित्र, सत्यनिष्ठ, शास्त्रानुसार व्यवहार करने वाले और अच्छे सहायकों से युक्त शासक द्वारा ही किया जा सकता है।[17]

अर्थशास्त्र में भी शासक के न्यायिक दायित्वों को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है तथा इसे राज्य के अस्तित्व का आधार भी माना है क्योंकि समाज में अन्याय और अराजकता की स्थिति का निराकरण करने के लिए तथा न्याय एवं सुव्यवस्था की स्थापना के लिए राज्य रूपी संस्था का गठन किया गया है। अर्थशास्त्र में राजा को सर्वोच्च न्यायिक अधिकारी तथा राज्य को न्याय का स्रोत माना गया हे। राजा की न्यायिक शक्ति को कौटिल्य ने विधि के अधीन माना है और राजा से यह अपेक्षा की है कि वह अपनी इस शक्ति का प्रयोग विधि के अनुसार ही करे अन्यथा वह स्वयं भी दण्ड का पात्र होगा। न्यायिक शक्ति राजा की निजी शक्ति नहीं है, एक संस्थागत शक्ति है, अतः उसका उपयोग संस्थागत

रूप में तथा विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही किया जाना चाहिए।[18] कौटिल्य ने भी मनु की भाँति दण्ड के तीन प्रयोजनों को स्वीकार किया है – **प्रतीकारात्मक, निवारक** एवं **सुधारक**।

मनु एवं कौटिल्य दोनों ही विचारकों ने अपराध व अपराध के अनुपात में दण्ड का वर्गीकरण किया है। मनु के अनुसार समाज की विधि के विरुद्ध की गई प्रत्येक गतिविधि अपराध है तथा जानबूझकर अपने कृत्यों से दूसरों को क्षति पहुँचाने वाला अपराधी है। दण्ड की मात्रा अपराधी द्वारा किये गये अपराध की गंभीरता, अपराध के मन्तव्य, अपराध घटित होते समय अपराधी की मनोदशा तथा सामाजिक स्तर को ध्यान में रखकर निर्धारित की जानी चाहिए। किसी भी अपराध के लिए शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण तथा राजा उत्तरोत्तर अधिकाधिक दण्डनीय होते हैं। मनु ने दण्ड के चार प्रकारों का उल्लेख किया है – **वाक्दण्ड, धिक्दण्ड, अर्थदण्ड** तथा **भौतिक दण्ड**।[19] मनु ने प्रथम साहस, मध्यम साहस व उत्तम साहस अपराधों के लिए उत्तरोत्तर क्रम में दण्ड की मात्रा में निरन्तर वृद्धि का सुझाव दिया है।

कौटिल्य ने भी दण्ड के विषय में कुछ विवेक सम्मत नियमों का प्रतिपादन किया है। कौटिल्य मनु के समान स्वीकार करते हैं कि दण्ड की मात्रा और प्रकृति अपराध की गंभीरता और परिस्थिति पर आधारित होनी चाहिए किन्तु दण्ड के विषय में समानता का दृष्टिकोण अपनाने पर बल देते हैं अर्थात् राज्य की विधि के सम्मुख सभी समान हों। केवल दोष सिद्ध अपराधी को दण्डित करने, अभियुक्त को केवल संदेह के आधार पर दण्डित न करने का भी निर्देश देते हैं। कौटिल्य ने अपराधों की पाँच श्रेणियाँ मानी हैं। प्रथम व्यक्तियों के शरीर अथवा सम्पत्ति को क्षति पहुँचाने से संबंधित, द्वितीय सामाजिक अपराध, तृतीय आर्थिक अपराध, चतुर्थ राज्य कर्मचारियों द्वारा किये गये अपराध तथा पंचम राजद्रोह। प्रथम चार के लिए मुकदमे द्वारा अपराध का विनिश्चिय एवं दण्ड का निर्धारण किये जाने का आग्रह किया है तथा अन्तिम अपराध के लिए बिना कोई मुकदमा चलाये ही प्राण दण्ड देना उचित माना है।[20]

मनुस्मृति में कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भाँति दीवानी व फौजदारी न्यायालयों के रूप में न्यायपालिका को वर्गीकृत नहीं किया गया है बल्कि न्यायपालिका में प्रस्तुत होने वाले वादों को दीवानी तथा आपराधिक वादों में विभक्त किया गया है, जिन वादों में किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति समुदाय पर किसी प्रकार की हिंसा का अभियोग हो वे न्यायालय के आपराधिक क्षेत्राधिकार में आयेंगे तथा किसी व्यक्ति के अधिकार से संबंधित विवाद न्यायालय के दीवानी क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आयेंगे। मनु ने केन्द्रीय न्यायपालिका के रूप में धर्मसभा का उल्लेख किया है। इसका अध्यक्ष राजा होता है, उसे धर्माध्यक्ष कहा जाता है। राजा की अनुपस्थिति में राजा द्वारा नियुक्त 'प्राड्विवाक' कार्यों का निर्वहन करता है। न्यायपालिका में एक न्यायाधीश तथा तीन अन्य न्यायाधीश होने चाहिए। न्यायिक शक्ति राजा की वैयक्तिक शक्ति नहीं बल्कि एक संस्थागत शक्ति है, जिसका प्रयोग शासक द्वारा धर्मसभा के सदस्यों के माध्यम से सामूहिक रूप में किया जा सकता है। न्यायाधीश द्वारा उचित निर्णय न किये जाने पर अधर्म का प्रथम चतुर्थांश अधर्म करने वाले को, द्वितीय चतुर्थांश साक्षी को, तृतीय चतुर्थांश न्यायाधीश को तथा चतुर्थ चतुर्थांश शासक को मिलता है।

कौटिल्य ने न्यायालयों के दायित्वों में नागरिकों तथा उनके अधिकारों की सुरक्षा, श्रेष्ठ शासन के लाभों को सुनिश्चित करना तथा व्यक्तियों द्वारा उनकी व्यक्तिगत, आधिकारिक तथा व्यावसायिक स्थिति में किये गये अपराधों के लिए उन्हें समुचित दण्ड देना आदि शामिल किया है। इन दायित्वों की पूर्ति के लिए कौटिल्य ने सुव्यस्थित व संगठित न्यायालयों पर बल दिया है। कौटिल्य दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख करते है : **धर्मस्थीय न्यायालय** तथा **कंटक शोधन न्यायालय** धर्मस्थीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार में सभी प्रकार के दीवानी तथा छोटे फौजदारी मामले शामिल हैं, जिनमें व्यक्ति का अपराध उसकी निजी स्थिति अथवा किसी समझौते के उल्लंघन के कारण उत्पन्न हुआ हो। कंटक शोधन न्यायालयों के अन्तर्गत समस्त फौजदारी मामलों और उन अपराधों को शामिल किया है जो राज्य के अधिकारियों या किसी व्यवसाय में संलग्न व्यक्तियों द्वारा किये गये हों।

मनु ने न्यायाधीशों की कुछ विशिष्ट योग्यताओं को माना है जैसे कि वह ब्राह्मण होना चाहिए जो कि वेदों, स्मृतियों तथा शास्त्रों में पारंगत हो। क्षत्रिय और

वैश्य भी न्यायाधीश हो सकते हैं, किन्तु किसी शूद्र की इस पद पर नियुक्ति पूर्णतया निषिद्ध है। न्यायाधीश न्यायनिष्ठ, उत्कृष्ट चरित्र वाला तथा विधि और राष्ट्र में प्रचलित परम्परा व रूढ़ियों का सम्यक ज्ञान रखने वाला होना चाहिए। भाव–भंगिमा, चेष्टाओं से साक्षी को समझने वाला हो तथा उसकी निष्ठा व निष्पक्षता संदेह से परे होनी चाहिए।[21]

कौटिल्य ने न्यायाधीशों की नियुक्ति राजा के द्वारा किये जाने की अपेक्षा की है। न्यायाधीश धर्म के मर्म को समझने की क्षमता, विधि व न्याय में पारंगत होने चाहिए तथा उनकी निष्ठा, निष्पक्षता एवं ईमानदारी संदेह से परे हो। अमात्य के लिए निर्धारित गुण हों। राजा प्रत्येक श्रेणी के न्यायालय में तीन–तीन न्यायाधीश नियुक्त करेगा। जनपद सन्धि जो कि राज्य की राजधानी है, संग्रहण अर्थात् 800 ग्रामों का मुख्यालय, द्रोणमुख अर्थात् 400 ग्रामों का मुख्यालय एवं स्थानिक अर्थात् 100 ग्रामों का मुख्यालय। कौटिल्य न्यायिक कार्य को न्यायिक पीठ द्वारा किया जाना उचित मानते हैं। किसी न्यायालय द्वारा किये गये निर्णय के विरुद्ध अपील राजा को ही की जा सकती है, जिसका आदेश अन्तिम होगा, किन्तु राजा से यह अपेक्षित है कि वह न्यायिक दायित्व के निर्वहन में धर्म, विधि एवं न्याय में पारंगत व्यक्तियों से अवश्य परामर्श ले।[22]

प्राचीन भारत में न्यायिक प्रणाली के अन्तर्गत जूरियों का बड़ा महत्व था। यहाँ तक कि राजा भी जूरियों की सहायता से मुकदमें की सुनवाई करता था। जूरियों की संख्या मुकदमों की प्रकृति के अनुसार निर्धारित की जाती थी, यह विषम संख्या होती थी, जैसे – तीन, पाँच, सात इत्यादि। राजा जूरी के बहुमत द्वारा निर्णय लेता था, जूरी में धर्मशास्त्र के ज्ञाता ब्राह्मणों का होना आवश्यक था। यदि ब्राह्मण जूरी नहीं होते हैं तो सही निर्णय नहीं दिया जा सकता है। जबकि कौटिल्य ने इस प्रकार के बंधन का कोई संकेत नहीं दिया है।

मनुस्मृति में राजा के न्यायिक कार्यों तथा न्याय व्यवस्था का विस्तृत वर्णन किया गया है। राजा सर्वोच्च न्यायाधीश था। यदि मन्त्री किन्हीं मुकदमों का अनुचित निर्णय देते थे तो राजा स्वयं उनकी फिर से सुनवाई करता था। कौटिल्य के अनुसार भी राजा न्यायपालिका का अध्यक्ष था, परन्तु कानून का स्रोत नहीं था।

अर्थशास्त्र में दी गयी न्याय व्यवस्था और न्यायाधीशों के वर्णन से स्पष्ट पता चलता है कि न्यायाधीशों के ऊपर नियंत्रण की पूर्ण शक्ति राजा के हाथों में थी।

मनुस्मृति के अनुसार कानूनों का स्रोत धर्मशास्त्र थे, अतः राजा को कानून बनाने की शक्ति प्राप्त नहीं थी। राजा तो केवल धर्म के द्वारा विहित कानूनों और नियमों को लागू ही कर सकता था और उनके अन्तर्गत आदेश जारी कर सकता था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजा को कानून बनाने की शक्ति प्रदान की, क्योंकि उसने राजा को कानूनों के निर्वाचन के लिए एक नया अंग स्थापित करने का अधिकार प्रदान किया।[23]

मनु ने राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था का केन्द्र राजा को माना है। हालांकि मनुस्मृति में कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भाँति प्रशासनिक व्यवस्था का व्यवस्थित रूप से विवेचन नहीं किया गया है, केवल प्रशासनिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण पक्षों का उल्लेख किया गया है। मनुस्मृति में राज्य के केन्द्रीय शक्ति के रूप में राजा का विस्तृत वर्णन किया गया है। मनुस्मृति में राजा की शक्ति का व्यापक विकास हुआ है। मनु की राजतंत्रीय व्यवस्था में राजा ही सम्पूर्ण प्रशासन की चालक शक्ति है। सुरक्षा के प्रश्न के परिणामस्वरूप राजा की उत्पत्ति हुई है। अतः सुरक्षा का प्रश्न महत्वपूर्ण है। इसी सुरक्षा के कारण मनुस्मृति का राजा कार्यपालिका, न्यायपालिका, प्रशासकीय और सैनिक प्रधान बन जाता है। विधायिका की शक्ति सीमित है। राजा को विधि का अधिकार न देकर उसे क्रियान्वयन के शीर्ष पर रखा गया है।[24]

मनुस्मृति में राजा का कार्यपालिका संबंधी अधिकार सबसे महत्वपूर्ण है। कार्यपालिका शक्ति के अन्तर्गत दो पहलू आते हैं, सुरक्षा और दण्ड। सार्वजनिक स्थानों की सुरक्षा के साथ वहाँ पुलिस एवं चर आदि का समुचित प्रबन्ध करने का अधिकार राजा को है। समाज में अपराधों का विकास भी नहीं होना चाहिए। राजा इसके लिए दण्ड का प्रयोग कर सकता है। राजा का धर्म है अपराधियों का पता लगाये, दण्डशक्ति के प्रयोग से उन्हें रोके।[25]

कौटिल्य ने भी कार्यपालिका शक्ति के रूप में राजा द्वारा सुरक्षा का कर्तव्य निबाहना सबसे महत्वपूर्ण माना है। राजा लोगों की समृद्धि के लिए पूरी तरह

उत्तरदायी था। कौटिल्य के राजा के लिए भी असहायों, वृद्धों, अनाथों, रोग से ग्रस्त लोगों की सुरक्षा का प्रश्न था। राजा इस सुरक्षा के कर्तव्य को पूरा करता था।[26] कौटिल्य ने राजा को अनाथालय, विधवागृह और राज्य सहायता केन्द्र की व्यवस्था अशक्यों के लिए करने का उत्तरदायित्व सौंपा है। इस संदर्भ में मनु और कौटिल्य की विचारधारा समान है, किन्तु सुरक्षा के प्रश्न को मूल रूप में लगातार कायम रखते हुए कौटिल्य ने मनु की अपेक्षा राजा को कार्यपालिका शक्ति के अन्तर्गत अधिक अधिकार सौंपे हैं।

कौटिल्य ने सुरक्षा की नीति को राष्ट्रीय विपत्ति (यथा आग, बाढ़, घातक रोग, सूखा, अकाल, चूहा, शेर, साँप और राक्षस) से लोगों की रक्षा के संदर्भ में विशेष रूप से कहा है। मनुस्मृति में राष्ट्रीय विपत्ति के इन तत्वों का विश्लेषण नहीं किया गया है। स्पष्ट हैं कि कार्यपालिका शक्ति के संदर्भ में राजा के कर्तव्य मनु की अपेक्षा अर्थशास्त्र में ज्यादा व्यापक है।

मनुस्मृति में राजा प्रशासन का अध्यक्ष है, प्रशासनिक शक्ति के अन्तर्गत राजा को नियुक्तियाँ तथा प्रशासनिक कार्यों का संचालन करने का अधिकार है राजा अपने ढंग से मंत्रिपरिषद का गठन कर सकता है। बिना मंत्रियों की परिषद की स्वीकृति और सहयोग के राजा कोई काम नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र तथा राजनीति सम्बन्धी सभी ग्रन्थ एक मत है। स्वयं सब शासन का कार्य करने वाले राजा को मनु ने मूर्ख कहा है।[27] कौटिल्य का मत है कि प्रशासन रूपी रथ एक पहिए से नहीं चल सकता इसलिए राजा मंत्रियों की नियुक्ति और उनकी सलाह से अनिवार्य कार्य करे।[28]

मनुस्मृति और अर्थशास्त्र में जो भिन्नता मिलती है, वह है मन्त्रिपरिषद की स्थिति। मनु किसी उचित निर्णय पर पहुँचने के लिए राजा का सात या आठ मन्त्रियों से परामर्श करना उपयुक्त समझते हैं, जबकि कौटिल्य का मानना है कि उतने ही सदस्य होने चाहिए, जितने सदस्यों की राजा को आवश्यकता है। निश्चित कार्य पर नियुक्त हुए तीन या चार मन्त्रियों के साथ मिलकर ही राजा को मन्त्रणा करनी चाहिए।[29]

मनु ने राजा को उसकी प्रशासनिक शक्ति के अन्तर्गत दूतों की नियुक्ति का अधिकार दिया है। मनु का मत है कि राजा सब शास्त्रों में कुशल, संकेत, आकार और चेष्टा से मन के भाव को जानने वाले, पवित्र चरित्र चतुर व्यक्तियों को दूत नियुक्त करे। दूत राजा के लिए आवश्यक है। राज्य में अन्य कार्यों की देखभाल के लिए राजा को विभिन्न प्रकार के अध्यक्षों की नियुक्ति का अधिकार है।[30] मनु अध्यक्षों की सूची प्रस्तुत नहीं करते, संकेत मात्र देते हैं, जबकि अर्थशास्त्र में राज्य के कार्यों के सुचारु संचालन के लिए एक सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। प्रशासनिक व्यवस्था का शीर्षस्थ बिन्दु राजा ही है, जो सैद्धान्तिक दृष्टि से सम्पूर्ण प्रशासन पर नियन्त्रण रखता है, कौटिल्य ने इसे स्वामी की संज्ञा दी है। सम्पूर्ण प्रशासन को 15 तीर्थों में बांटा है, इनके प्रमुख अधिकारियों के रूप में कौटिल्य ने पुरोहित, मन्त्री, युवराज, विभिन्न विभागों के अध्यक्ष एवं उनके प्रमुख सहायक अधिकारियों की गणना की है।[31] प्रधान प्रशासनिक अधिकारियों के अधीन विभिन्न प्रशासनिक विभागों की स्थापना की है और प्रत्येक विभाग के प्रमुख अधिकारी को अध्यक्ष कहा है।[32] इस प्रकार कौटिल्य ने मनु की अपेक्षा प्रशासनिक अधिकारियों का विस्तृत विवेचन किया है।

मनुस्मृति में राजा के आध्यात्मिक, धार्मिक कल्याण सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन हेतु पुरोहित की नियुक्ति का राजा का अधिकार है। पुरोहित का राजनीतिक व्यवस्था में वास्तविक स्थिति पर मनु मौन है। इसका तात्पर्य हुआ कि धर्म और राज के सम्बन्धों की व्याख्या मनु ने देशकाल व परिस्थितियों पर छोड़ दी है। कौटिल्य ने राजा को पुरोहित का अनुसरण करने की बात स्वीकार की है। अर्थशास्त्र में राजा मन्त्रियों की नियुक्ति के समय पुरोहित से भी सलाह लेता है। परन्तु मनुस्मृति में पुरोहित की नियुक्ति राजा मुख्यतः धार्मिक कार्यों के लिए करता है। पुरोहित पर भी अन्तिम नियंत्रण राजा का ही है। कौटिल्य ने भी पुरोहित को राजा का वेतन भोगी कर्मचारी स्वीकार किया है। प्रशासनिक अधिकारियों पर राजा का पूर्ण नियन्त्रण है, इस सम्बन्ध में मनु एवं कौटिल्य के विचारों में समानता भी देखने को मिलती है। मनु का मत है कि यदि पुरोहित राज्य और समाज के विरुद्ध कार्य करता है तो उसे भी अमात्यों और न्यायाधीशों के समान दण्डित करने

का राजा को अधिकार है।[33] कौटिल्य का मत है कि यदि पुरोहित भी अपराध में पकड़ा जाये तो राजा उसे बंदी बना ले या देश से निर्वासित कर दे।[34]

मनु राजकीय दायित्व अधिक होने के कारण राजा को अपने कार्यों का विभाजन मन्त्रियों, सचिवों, अध्यक्षों एवं अन्य प्रशासनिक अधिकारियों को प्रत्यायोजित करने का परामर्श देते हैं। कुछ कार्यों को सम्पन्न करने का दायित्व पूर्णरूपेण मंन्त्रियों पर छोड़ने का परामर्श देते हैं। इसी तरह राजा को सेना से सम्बन्धित कार्यों के नियन्त्रण एवं निरीक्षण का दायित्व सेनापति को सौंप देना चाहिए। इस प्रकार शासकीय शक्तियों के प्रत्यायोजन के माध्यम से मनु ने शक्तियों के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, किन्तु शासन की सर्वोच्च शक्ति शासक में ही निहित मानी है।[35] कौटिल्य ने राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था में विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता पर बल दिया है और राज्य को स्थानीय और प्रादेशिक इकाईयों के संगठन का परामर्श दिया है। इन स्थानीय इकाईयों का प्रशासन क्षेत्रीय अधिकारियों के नियंत्रण में रहेगा। कौटिल्य ने मुख्यतः दो प्रकार की स्थानीय संस्थाओं का उल्लेख किया है – नगरीय प्रशासन और ग्रामीण प्रशासन। **नगरीय प्रशासन** के अन्तर्गत नगर को कई भागों में विभक्त कर उसके प्रत्येक भाग को **स्थानिक** के अधीन तथा बीस कुटुम्बों के ऊपर नियुक्त **गोप** को स्थानिक के अधीन रखा है। नगर का प्रधान अधिकारी **नागरिक** होगा जो कि नगर के सम्पूर्ण प्रशासनिक कार्यों, नगर में कानून व्यवस्था के निर्वाह व राजकीय कार्यों के लिए व्यवस्थाऐं हेतु उत्तरदायी होगा। **ग्रामीण प्रशासन** में सौ ग्रामों पर एक **स्थानीय**, दो सौ ग्रामों पर एक **कार्वटिक,** चार सौ ग्रामों पर एक **द्रोणमुख** और आठ सौ ग्रामों के ऊपर **संग्रहण** नामक इकाईयों की स्थापना होगी।[36]

मनु ने राज्य के प्रशासन को दो भागों में बाँटा है। पुर (राजधानी) एवं राष्ट्र का प्रशासन। राष्ट्र के प्रशासन को दो प्रमुख इकाईयों ग्रामीण क्षेत्र व नगरीय क्षेत्र में विभक्त किया है। **ग्रामीण प्रशासन** में एक ग्राम के अधिकारी को **ग्रामिक**, दस ग्राम के अधिकारी को **दसग्रामपति**, बीस ग्राम के अधिकारी को **विशपति**, सौ ग्राम के अधिकारी को **शताध्यक्ष** तथा एक हजार ग्रामों के अधिकारी को **सहस्त्रपति** कहा है। नगर का सर्वोच्च अधिकारी **सर्वार्थचिन्तक** है, यह अपने अधीन आने वाले सभी

लोगों की भली–भाँति देखभाल करे और अपने दूतों एवं गुप्तचरों के माध्यम से राज्य के भ्रष्ट कर्मचारियों से प्रजा की रक्षा करे।[37]

मनु एवं कौटिल्य दोनों ही सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों पर नियन्त्रण रखने पर एकमत है। मनु ने यह भी कहा है कि राज्य के अधिकारी व कर्मचारियों को भ्रष्टाचार से दूर रखने के लिए उन पर नियन्त्रण रखने के साथ–साथ उन्हें पर्याप्त मात्रा में वेतन का समय पर भुगतान किया जाना आवश्यक है। कौटिल्य के अनुसार यदि कर्मचारियों और अधिकारियों पर समुचित नियन्त्रण न रखा गया तो वे भ्रष्ट हो जायेंगे तथा अपनी शक्ति का दुरूपयोग करेंगे। प्रशासनिक शक्तियों का दुरूपयोग एक गंभीर अपराध है और इस अपराध के लिए कर्मचारी या अधिकारी को कठोर दण्ड देने की व्यवस्था की है।

मनुस्मृति एवं अर्थशास्त्र दोनों ही ग्रन्थों में राजस्व प्रशासन की सुदृढ़ व्यवस्था है। किसी भी शासन के सुचारूपूर्वक संचालन के लिए समुचित एवं समृद्ध कोष की आवश्यकता होती है और कोष का प्रमुख स्रोत है राजस्व, अतः राजस्व के संग्रह, संचालन एवं वितरण के लिए समुचित एवं सुदृढ़ व्यवस्था की अनिवार्यता है। मनुस्मृति में राजा की आर्थिक शक्ति महत्वपूर्ण है। अर्थशक्ति के अभाव में राजा राज्य का संचालन नहीं कर सकता है। राजा की आर्थिक शक्ति का बोध उसके द्वारा लगाए गए विभिन्न करों से होता है। मनु का मत है कि कोष और सेना राजा के अधीन हैं।[38] फलतः राज्य की समृद्धि के लिए धन संचय हेतु राजा को सतत् प्रयास करना चाहिए। कौटिल्य ने भी अर्थ को ही प्रधानता दी है। अर्थ राज्य रूपी वृक्ष का बीज है। सेना तथा कोष भारतीय परम्परा में राज्य के दो विशाल स्तम्भ हैं।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में कोष की पर्याप्तता पर बल दिया है। पूर्ण और पर्याप्त कोष के बिना राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकती है। पर्याप्त कोष के आधार पर ही राज्य विजयी हो सकता है तथा कोष की कमी होने पर राजा संकट में पड़ सकता है। इसलिए उसने स्पष्ट निर्देश दिया है कि कोष में कमी हो जाने पर राजा को कोष संचय के लिए अविलम्ब प्रयास करना चाहिए।[39]

मनु व कौटिल्य दोनों ने ही राजा को प्रजा पर विभिन्न कर लगाने का विधान दिया है। दोनों ही विचारक प्रजा की रक्षा और हितों को ध्यान में रखते हुए राजा को कर लगाने के निर्देश देते हैं। मनु ने राजा को वार्षिक कर, शुल्क कर, तारण कर, श्रमजीवियों एवं शिल्पियों पर कर, आय कर, दण्ड कर, पशु कर आदि कर धर्मपूर्वक ही लगाने का निर्देश दिया है। वार्षिक कर द्वारा राजा विश्वासपात्रों के द्वारा प्रजा से वार्षिक बलि ग्रहण करें। और प्रजा के साथ पिता के समान व्यवहार करें।[40] जो राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता हुआ, बलि कर ग्रहण करता है, वह मर कर नरक को जाता है। शुल्क कर स्थल व जल मार्ग से व्यापार करने वालों पर लगाया जाता है, लाभ का 20वाँ भाग कर के रूप में राजा ग्रहण करता है। **तारण कर** वह साधन है, जिसके द्वारा मनुष्यों और वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है। पुल, नाव भाड़ा के रूप में ग्रहण किया जाने वाला कर।

पशु कर मनु ने पशु पर 50वाँ भाग, धान्य का 8वाँ अथवा 12वाँ भाग ग्रहण करने का नियम बनाया है। **दण्ड कर** अर्थ दण्ड राजा के अर्थ लाभ का आधार है आर्थिक व शारीरिक दोनों रूपों में दण्ड का उल्लेख है। राजा अपराधी की शारीरिक और आर्थिक स्थिति का विचार कर ही दण्ड ग्रहण करे। ब्राह्मण को कटु वचन करने पर क्षत्रिय एक सौ पण, वैश्य डेढ़ से दो सौ पण के दण्ड योग्य होता है और शूद्र वध के योग्य होता है। जो माता–पिता, पत्नी, भाई, पुत्र और गुरू की निन्दा करे व गुरू के लिए मार्ग न छोड़े, उस पर एक सौ पण दण्ड होना चाहिए।[41] श्रमजीवी एवं शिल्पियों पर कर के रूप में महीने में एक दिन राजा को अपना कुछ कार्य करा लेना चाहिए। राजा को अत्यत्न शूद्र, दरिद्र और साग–सब्जी बेचने वालों से भी कुछ वार्षिक कर लेने का निर्देश है।

कौटिल्य ने भी राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समुचित कोष संग्रह को आवश्यक माना है। कौटिल्य के अनुसार राजकीय कोष में वृद्धि राज्य द्वारा उपहार, कर, शुल्क व जुर्माने के रूप में प्रजा से प्राप्त हुई राशि तथा राज्य के खनिज, वन्य व अन्य संसाधनों से होने वाले उत्पादन से होने वाली आय तथा दूसरे राजाओं को वश में करके उनके द्वारा जुर्माने, दण्ड अथवा उपहार के रूप में दी गई राशि से होती है। कौटिल्य ने कोष संचय के मार्गों को दो श्रेणियों में

विभाजित किया है – **आय शरीर** और **आय मुख**। राजा के दुर्ग, राष्ट्र, खान, सेतु, वन, ब्रज और वनिक पथ से संबंधित आय **''आय शरीर''** कहलाती है। **दुर्ग आय –** दुर्ग अर्थात् राजधानी में होने वाले विभिन्न प्रकार के व्यवसायों, उद्योगों एवं व्यापारों पर राज्य की ओर से कुछ कर लगाये जाते थे, इन करों से प्राप्त आय दुर्ग आय कहलाती थी। **राष्ट्र आय –** राजकीय कृषि की उपज, भाग, बलि, कर, वणिकों से प्राप्त कर, नदियों एवं नौकाओं द्वारा संग्रहित किया गया कर, नगरों से प्राप्त राज्यांश, गौचारण से एकत्र किया गया राज्यांश, सड़कों एवं मार्गों से संचित किया गया, राजांश एवं चोरों से एकत्र किया गया धन राष्ट्र आय के अन्तर्गत आते थे। कृषि उत्पादनों पर उनके मूल्य का 5वाँ या 6वाँ भाग कर के रूप में दिया जाना उचित माना है। **खन्नि आय** – राज्य में खानों से निकाले हुए खनिज पदार्थ जैसे – सोना, चाँदी, हीरा, मोती, लोहा इत्यादि तथा कच्चे माल पर मानवीय श्रम और पूँजी के विनियोग के द्वारा उत्पादित वस्तुओं जैसे – रेशमी कपड़ा, मिश्रित धातुऐं तथा चमड़े से बने पदार्थ आदि पर 10वाँ या 15वाँ भाग कर के रूप में लिया जाना उचित माना। **सेतु आय –** इसके अन्तर्गत पुष्प वाटिकाओं, फल–वाटिकाओं, साग–सब्जियों के क्षेत्र तथा जल क्षेत्र से प्राप्त आय आती है। इनका भी 5वाँ हिस्सा सरकारी टैक्स के रूप में जमा होता है। **वन आय** – इसके अन्तर्गत वनों के पशुओं और लकड़ी से प्राप्त आय आती थी। **ब्रज आय** – गाय, भैंस, बकरी, भेड़, गदहा, ऊँट, अश्व, खच्चर आदि पशुओं का व्यवसाय करने वालों से 6वाँ व 10वाँ भाग कर के रूप में लिया जाता था, जो ब्रज कर के नाम से जाना जाता था। **वणिक पथ** – आय स्थल और जलमार्ग द्वारा व्यवसाय से प्राप्त आय वणिक पथ आय कहलाती थी।[42] **आय मुख** – कौटिल्य ने आय के कुछ साधनों को आय मुख के नाम से संबोधित किया है। इसके अन्तर्गत मूल (अनाज, साग–सब्जी के विक्रय से प्राप्त धन), भाग (पैदावार का षष्ठांश), ब्याजी (कपटी व्यापारियों से दण्ड स्वरूप प्राप्त किया गया धन), परिध (लावारिस का धन), क्लृप्त (नियत कर), रूपिक (नमक कर), अव्यय (जुर्माने का धन) आदि कर आते थे।[43]

मनु के अनुसार इनमें करों और महसूलों की दर नियत करना सम्मिलित था। राज्य करों की वसूली विश्वस्त अधिकारियों द्वारा होती थी। कौटिल्य के

अनुसार इस क्षेत्र में राजा की शक्तियाँ अन्तिम तथा विस्तृत थीं। यह देखना उसका कर्तव्य था कि कोष खाली न रहे, वह प्रतिदिन आय और व्यय के ब्यौरे को देखता था और वही इस विभाग के उच्च अधिकारियों को नियुक्त करता था।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में राजा स्वतंत्र नहीं था, वह दण्ड नीति अथवा धर्म के अधीन था। अतएव कर–व्यवस्था भी दण्डनीति शास्त्र व धर्म शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित नियमों के अधीन थी। राजकोष प्रजा की रक्षा और उसके कल्याण के लिए होता था। मनु ने कहा है कि जो राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता वो शीघ्र नरक को जाता है। राजा को जो कर दिया जाता वह उसकी शासन सम्बन्धी सेवाओं का वेतन समझा जाता था।

मनुस्मृति एवं अर्थशास्त्र दोनों ही ग्रन्थों में अन्तर्राष्ट्रीय नीति के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही पक्षों का व्यापक उल्लेख मिलता है। प्राचीन समय में अनेक स्वतंत्र राज्यों का अस्तित्व था, जो कि पूर्णरूप से स्वतंत्र होते हुए भी एक–दूसरे से किसी न किसी प्रकार का पारस्परिक संबंध बनाये रखते थे। एक–दूसरे के प्रति वैदेशिक नीति निर्धारित करते थे। इस नीति से जुड़े ये राज्य – राज्य मण्डल, चक्र या मण्डल की संज्ञा से संबोधित किये जाते थे। 'मण्डल' का उद्देश्य उस घेरे के विभिन्न राज्यों के बीच शक्ति संतुलन बनाये रखना होता था।[44]

मनुस्मृति में पहली बार राज्य मण्डल का स्पष्ट चित्रण मिलता है। यहाँ मण्डल के चार राज्यों मध्यस्थ, उदासीन, शत्रु और मित्र का उल्लेख किया गया है। ये ही चारों पड़ौसी राज्य मण्डल की नींव है। राज्य मण्डल के केन्द्रस्थ राज्य को विजीगीषु कहा है। विजिगीषु के अग्रभाग के पाँच, पृष्ठ भाग के चार, एक मध्यम, एक उदासीन तथा एक स्वयं विजिगीषु इस प्रकार कुल 12 राज्य हैं। राज्य मण्डल के अन्तर्गत कुल 72 प्रकृतियाँ हैं। इसमें 12 राज्य मण्डल के सदस्य राज्य हैं, जिनमें राज्य की 7 प्रकृतियों में से स्वामी (राजा) तथा मित्र शामिल हैं, इसके अतिरिक्त इन सभी राज्यों की शेष रही 5–5 प्रकृतियों – अमात्य (मंत्री), राष्ट्र, दुर्ग (पुर), अर्थ (कोष) एवं दण्ड (सैन्य) हैं, जिनका योग 60 हुआ और इसमें राज्य मण्डल के सदस्यों की संख्या जोड़कर कुल प्रकृतियाँ की संख्या 72 होती है।

राजा का धर्म है कि वह राज्य की रक्षा, हित संवर्धन एवं स्थायित्व के लिए राज्य मण्डल के मित्र और शत्रु राज्यों की संख्या में उचित अनुपात बनाये रखे।[45]

कौटिल्य ने राज्य के क्रिया–कलापों में राज्य मण्डल के महत्व को समझाया है। इसे राज्य की वैदेशिक नीति का एक महत्वपूर्ण अंग माना है। इसकी बड़ी व्यापक व्याख्या प्रस्तुत की है। जहाँ से मनु ने राज्य मण्डल के सिद्धान्त को छोड़ दिया था, वहीं से कौटिल्य ने इसकी व्याख्या और महत्ता के ऊपर आगे विचार करना प्रारम्भ किया है। मण्डल सिद्धान्त के द्वारा कौटिल्य ने राज्यों का एक व्यावहारिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। प्रत्येक राज्य अपने विस्तार की कामना रखता है और इस दृष्टि से पड़ौसी राज्य को जीतना चाहता है। अतः दो निकटवर्ती राज्य सदैव ही एक–दूसरे के प्रतिद्वन्दी एवं शत्रु होते हैं। एक राज्य मण्डल `में कौटिल्य ने कुल 12 राज्य बताये हैं, केन्द्रस्थ राज्य **विजिगीषु** है। विजिगीषु राज्य के अग्रभाग में क्रमशः **अरि, मित्र, अरि–मित्र, मित्र–मित्र** तथा **अरि मित्र–मित्र** नामक पाँच राज्य होते हैं तथा पृष्ठ भाग में क्रमशः **पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहसार** और **आक्रान्दासार** नामक चार राज्य होते हैं। इन सभी राज्यों की पाँच–पाँच प्रकृतियाँ अमात्य, कोष, दुर्ग, दण्ड, राष्ट्र तथा स्वयं, इन बारह राज्यों का कुल योग 72 होता है।[46] कौटिल्य के अनुसार जिस शक्ति का विवेचन करके विजिगीषु सफलता प्राप्त कर सकता है, वह तीन प्रकार की होती है, मन्त्र शक्ति, प्रभु शक्ति और उत्साह शक्ति, जब तक इन तीनों प्रकार की शक्तियों को दृष्टि में रखकर अपनी नीति का निर्धारण नहीं किया जायेगा, विजिगीषु कभी अपने उद्देश्य की सिद्धि नहीं कर सकेगा, मण्डल सिद्धान्त का यही सार है। इस प्रकार कौटिल्य ने मनु की अपेक्षा मण्डल सिद्धान्त की विशद् व्याख्या की है।

पड़ौसी राज्यों के साथ संबंध बनाने के लिए मनु एवं कौटिल्य ने षाड्गुण्य नीति तथा उपायों को भी सम्मिलित किया है, मनु के अनुसार आसन, यान, सन्धि, विग्रह, द्वैधीभाव और संश्रय, ये छः गुण अन्य राज्यों के प्रति नीति के अंग हैं।[47] मनु ने इनका संक्षेप के साथ प्रतिपादन किया है, पर कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में इनका विशद रूप से निरूपण किया है। जब दूसरे राज्य की शक्ति अधिक हो तो उससे **सन्धि** की जाये; यदि अपने राज्य की शक्ति अधिक हो तो **विग्रह**; जब यह देखा जाये कि न दूसरा हमें परास्त कर सकता है और न हम–दूसरे पर विजय

पा सकते हैं, तो आसन का उपयोग किया जाये। अपने राज्य में पर्याप्त शक्ति हो तो युद्ध की तैयारी की ओर ध्यान दिया जाये **यान**; यदि अपना राज्य शक्तिहीन हो तो किसी अन्य राज्य का **संश्रय** लिया जाये; और जब साध्य (उद्देश्य) के साधन के लिए किसी अन्य राज्य के साहाय्य की आवश्यकता हो तो उससे सन्धि करके दूसरे के साथ विग्रह इस प्रकार **द्वैधी भाव** की नीति को अपनाया जावे।[48]

समय की परिस्थिति के अनुसार इनमें से जो भी नीति उपयुक्त हो, राजा को उसी का अनुसरण करना चाहिए। किन परिस्थितियों में किस नीति का अनुसरण उपयोगी होगा, इसका भी कौटिल्य ने विशद् रूप से विवेचन किया है। विजिगीषु राजा के लिए युद्ध की उपयोगिता अवश्य थी, परन्तु कौटिल्य के मन्तव्य के अनुसार यदि सन्धि और विग्रह, दोनों नीतियों से एक समान लाभ सम्भावित हो तो सन्धि की नीति अधिक उत्तम है, क्योंकि युद्ध से शक्ति का क्षय, धन का व्यय, जनता का प्रवास आदि कितनी ही हानियाँ होती हैं। विजिगीषु राजा के लिए केवल युद्ध ही एकमात्र उपाय नहीं है, परिस्थिति के अनुसार षाड्गुण्य के सभी उपायों का उसे प्रयोग करना चाहिए।

मनु की अपेक्षा कौटिल्य ने षाड्गुण्य नीति का विस्तृत विवेचन किया है। मनु ने सन्धि के दो ही भेद बताये हैं, सन्धि की परिभाषा नहीं दी है। समानयान कर्मा सन्धि और असमानयान कर्मा सन्धि। जबकि कौटिल्य ने अनेक प्रकार की सन्धियों का उल्लेख किया है। सन्धि दो राजाओं के मध्य निर्धारित शर्त के बाद होने वाले मेल को कहा जाता है। कौटिल्य ने सन्धि कई कारणों से आवश्यक मानी है जैसे – जब सन्धि के द्वारा महान राजकीय उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती हो या सन्धि के द्वारा शत्रु के उत्तम कार्यों से लाभ उठाना हो, सन्धि शत्रु के विनाश में सहायक हो या शत्रु मण्डल में भेद उत्पन्न करना हो। कौटिल्य के अनुसार हीन सन्धि, कोषोपतन सन्धि, देशोपतन सन्धि, परिणत–अपरिणत सन्धि तथा सम–विषम एवं अति सन्धि विजिगीषु को काल व परिस्थिति के अनुसार करनी चाहिए।

मनु एवं कौटिल्य दोनों ने ही राजा को अन्य राजाओं के साथ समव्यवहार करते हुए चार उपायों यथा साम, दाम, दण्ड और भेद की नीति का प्रयोग करने

के निर्देश दिये हैं। मनु का मत है कि साम, दाम तथा भेद द्वारा राजा को अपने प्रतिद्वन्द्वी राजा को वश में करने की स्थिति में असमर्थ होने के बाद ही दण्ड के उपाय को काम में ले। राजा बगुले के समान दत्तचित्त होकर अपने उद्देश्यों के बारे में सदैव चिन्तन–मनन करे, सिंह के समान पराक्रमी हो, भेड़ियों के समान शत्रु नाश में सक्षम हो तथा खरगोश के समान उचित अवसर पर पलायन करने की सामर्थ्य रखता हो।[49]

कौटिल्य ने भी विदेश नीति की सफलता के लिए षाड्गुण्य की छः नीतियों के अलावा चार उपायों साम, दाम, भेद और दण्ड का उल्लेख किया है। कौटिल्य के अनुसार प्रथम दो उपायों का प्रयोग कमजोर राजा के साथ तथा अन्तिम दो उपायों का प्रयोग बलशाली राजा के साथ किया जाना चाहिए। जब साम, दाम और भेद तीनों उपाय विफल हो जाये तो दण्ड का सहारा लिया जाना चाहिए। दण्ड का प्रयोग अन्तिम उपाय के रूप में किया जाना चाहिए, क्योंकि इससे विजिगीषु को क्षति भी पहुँच सकती है। साम को दाम से प्राथमिकता मिलनी चाहिए, दाम को भेद से और भेद को दण्ड से प्राथमिकता मिलनी चाहिए।[50]

पर राष्ट्र नीति के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप में परिणत करने के लिए मनु व कौटिल्य दोनों ही दूत व्यवस्था व गुप्तचर व्यवस्था को अपरिहार्य मानते हैं। मनु राजनयिक अर्थात् दूत की भूमिका को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते हैं। राज्यों के मध्य कूटनीतिक सम्बन्ध बनाये रखने के लिए राजदूतों की नियुक्ति आवश्यक है। शान्तिकाल में राजाओं को एक–दूसरे के दरबार में राजदूत भेजने चाहिए। दूत शत्रुओं में मित्रता और मित्रों में शत्रुता करवा सकता है। मनु ने दूतों के लिए शास्त्रों का ज्ञान, वाणी स्वर, चेष्टाओं, भाव–भंगिमाओं आदि को समझने की क्षमता, शुद्ध ह्रदयता, चातुर्य, स्त्री अनासक्ति एवं मद्यपान रहित होना आदि योग्यताओं को होना अनिवार्य माना है। दूत को तीक्ष्ण स्मरण शक्ति वाला, शुद्ध आचरण वाला, राग–द्वेष न रखने वाला, निर्भीक, वाकपटु, देश व काल के अनुरूप आचरण करने वाला, षड्गुणों में प्रवीण, धर्म युक्त होना, गणितज्ञ, निर्लोभी, विभिन्न लिपियों का ज्ञान होना तथा विश्वासपात्र होना आदि दूत की आवश्यक योग्यताएँ बताई गई हैं।[51]

कौटिल्य ने कूटनीति में छल, कपट, धोखा, विश्वासघात आदि को उचित माना है। शत्रु को परास्त कर अपने उद्देश्यों की पूर्ति करने में वह उचित या अनुचित सभी साधनों के प्रयोग की विजिगीषु राजा को छूट देता है। कूटनीति का संचालन राजा के दूतों के माध्यम से किया जाता है। कौटिल्य ने तीन प्रकार के **निसृष्टार्थ, परिमितार्थ** एवं **शासनहार** का उल्लेख किया है। कौटिल्य के अनुसार दूत को शत्रु राजा द्वारा किये गये सम्मान पर गर्व नहीं करना चाहिए, शत्रुओं के मध्य अपने को बलवान नहीं समझना चाहिए, कुवाक्य को पी लेने की क्षमता रखनी चाहिए, स्त्री प्रसंग और मद्यपान से सर्वथा दूर रहना चाहिए तथा शत्रु राजा के रहस्यों का पता लगाते हुए अपने भेदों का कोई पता नहीं देना चाहिए। दूत को आत्मरक्षा का अधिकार है तथा वह सर्वथा अवध्य है।[52] इस प्रकार मनु दूतों के स्तर तथा वेतन के सम्बन्ध में ज्ञान प्रदान नहीं करते जबकि कौटिल्य ने इनका विस्तृत वर्णन किया है।

वैदेशिक संबंधों के संचालन में गुप्तचरों की भूमिका महत्वपूर्ण है। गुप्तचर दूसरे राज्यों की दुर्बलताओं एवं गतिविधियों के बारे में तथा अपने राज्य में दूसरे राज्यों के गुप्तचरों का पता लगाकार राजा को सूचित करते हैं। मनु ने **कापाटिक, उदास्थित, गृहपति, व्यापारी** एवं **तापस** पाँच प्रकार के गुप्तचर बताये हैं।[53] कौटिल्य ने दूतों की गतिविधियों तथा दूसरे राजाओं की नीतियों और कार्यों की निरन्तर जानकारी रखने के लिए गुप्तचर व्यवस्था का व्यापक उल्लेख किया है। कौटिल्य ने गुप्तचरों की दो श्रेणियाँ मानी हैं : **एक स्थान पर स्थित गुप्तचर** इनकी पाँच श्रेणियाँ हैं – **कापाटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक** तथा **तापस**। दूसरा प्रकार है – **भ्रमणशील गुप्तचर** इनकी चार श्रेणियाँ हैं – **सत्री, तीक्ष्ण, रसद** और **परिव्राजिका**। इनके अतिरिक्त **मुण्डा, वृषली** घरों में काम करने वाले, कुबडे, बौने, नपुंसक, कारीगर स्त्रियों, गूंगे, निम्न जाति के पुरुष, तपस्वी, व्यापारी, कृषक तथा उदास्थित वानप्रस्थी और वनवासी लोगों को गुप्तचर के रूप में नियुक्त किया जाना चाहिए।[54]

मनु एवं कौटिल्य विजिगीषु राजा का वैदेशिक नीति के संदर्भ में युद्ध करना भी धर्म मानते हैं। मनु ने राजा का **धर्मयुद्ध** करना ही उचित समझा है और कभी भी युद्ध की पहल न करने का निर्देश दिया है। कौटिल्य भी यद्यपि धर्मयुद्ध को ही

प्रमुखता देते हैं, किन्तु उन्होंने पराजित राजा का अवसर प्राप्त होते ही मंत्रयुद्ध या कूट युद्ध करना ही उचित माना है। मनु स्मृति में लिखा है कि राजा साम, दाम और भेद की नीति का एक–एक करके या सम्मिलित रूप से प्रयोग करके अन्य राज्यों को जीतने का प्रयत्न करे, युद्ध द्वारा नहीं। युद्ध से प्रायः दोनों पक्षों का ही नाश होता है, किन्तु कतिपय परिस्थितियों में युद्ध अनिवार्य होता है। अतः जब आवश्यक हो तो निःशक होकर युद्ध का भी आश्रय लिया जाये, यद्यपि यह युद्ध धर्मानुकूल होना चाहिए। मनु युद्ध के लिए व्यूह रचना तथा शत्रु के प्रति किसी भी प्रकार की दया प्रदर्शित न करने का समर्थन करते हैं। शत्रु राष्ट्र को भली–भाँति पीड़ित किया जाये, परन्तु जब शत्रु परास्त हो जाये, तो उसके राजवंश का मूलोच्छेद करने का समर्थन मनु नहीं करते। पराहित राज्य के राजवंश के ही किसी व्यक्ति को राजगद्दी पर बिठाया जाये और उसके साथ सन्धि कर ली जाये। मनु ने शस्त्रविहीन तथा असावधान शत्रु के विरुद्ध लड़ने का निषेध किया है।[55]

कौटिल्य प्रमुख रूप से दो प्रकार के युद्ध का वर्णन करते हैं – **प्रकाश युद्ध** और **कूट युद्ध**। जिस राजा की शक्ति प्रबल हो, जिसने अपने षड्यन्त्रों द्वारा शत्रु पक्ष में प्रवेश कर लिया हो और जिसने अपने पक्ष की रक्षा की पूरी व्यवस्था कर ली हो, उसे प्रकाश युद्ध का प्रयोग करना चाहिए। जब राजा की स्थिति ऐसी सुदृढ़ न हो तो कूट यूद्ध का आश्रय लेना भी उचित है।[56] कूट युद्ध में शत्रु को धोखा देने का प्रयत्न किया जाता था। विजिगीषु राजा की पराजय हो रही हो, शत्रु की विजय हो रही है – यह प्रकट करने के लिए अनेक उपाय किये जाते थे, ताकि शत्रु विजय के मद में असावधान हो जाए और फिर अचानक हमला करके उसे जीत लिया जा सके। शत्रु के सैनिकों, सेनापतियों और अन्य पुरुषों को भी अपने पक्ष में लाने के लिए अनेक उपाय प्रयुक्त किये जाते थे। कौटिल्य विष, औषधि आदि का प्रयोग तथा रहस्यमय पुरुषों द्वारा शत्रुओं का वध करना को **तूष्णी** युद्ध तथा छल, कपट, भ्रम तथा रहस्य उत्पन्न करके शत्रु को पराजय के लिए किए जाने वाले कार्यों को **माया युद्ध** में शामिल करते हैं। इस प्रकार मनु धर्मयुद्ध को किन्तु कौटिल्य कूट युद्ध को भी विजिगीषु के लिए आवश्यक मानते हैं।

मनुस्मृति मूल रूप से धर्मशास्त्र व समाजशास्त्र पर आधारित ग्रन्थ है। मनु सामाजिक व्यवस्था के नियमन को राजा का एक महत्वपूर्ण दायित्व मानते हैं। मनुस्मृति में जिस प्रकार सामाजिक व्यवस्था का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है, उस प्रकार कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नहीं। यद्यपि कौटिल्य ने भी मनु की भाँति सामाजिक व्यवस्था के संगठन को वर्ण आश्रम व्यवस्था, नैतिक आधार, विभिन्न वर्णों के पारस्परिक संबंध, उनके कर्तव्य आदि पर आधारित माना है। सामाजिक व्यवस्था के कारण काफी विवादास्पद रहे हैं, लेकिन कौटिल्य ने सभी वर्णों में अधिक भेदभाव न करते हुए संतुलन बनाये रखने का प्रयास किया है।

सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए नैतिक नियमों की आवश्यकता होती है, जो कि मनुष्य के आचरण एवं व्यवहार को बनाये रखने के लिए आवश्यक होते हैं, इन्हीं नैतिक नियमों को मनु ने धर्म की संज्ञा दी है। मनु एवं कौटिल्य सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने में नैतिक नियमों की अपरिहार्यता अर्थात् धर्म को आवश्यक मानते हैं। मनु ने धर्म के पाँच स्रोत – वेद, स्मृति, सज्जनों का आचरण, अन्तःकरण तथा राजा की आज्ञा माने हैं। मनु ने राजाज्ञा को धर्म का स्रोत माना है किन्तु राजा द्वारा निर्धारित धर्म के लिए यह आवश्यक माना है कि वह सार्वभौमिक, नैतिक मूल्यों व मंतव्यों के तथा विद्वानों द्वारा की गई धर्म की व्याख्या के अनुरूप हों।

कौटिल्य ने भी सामाजिक व्यवस्था को धर्म पर आधारित माना है तथा सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार, दान, अक्रोध आदि को धर्म के शाश्वत लक्षणों के रूप में माना है। कौटिल्य राजा से यह अपेक्षा भी रखते हैं कि वह प्रजा के व्यवहार में इन नैतिक मूल्यों को सुनिश्चित करके धर्म का प्रवर्तन करें। मनुस्मृति में भी सत्य व अहिंसा को सार्वभौमिक नैतिक मूल्यों के रूप में मान्यता दी गई है। यमों व नियमों के माध्यम से नैतिक पक्ष स्पष्ट किया है। यम के अन्तर्गत मनु अक्रूरता, क्षमा, सत्य, अहिंसा, इन्द्रिय दमन, ध्यान, प्रसन्नता, मधुरता तथा सरलता आदि गुणों को शामिल करते हैं तथा ''नियम'' के अन्तर्गत प्रार्थना, तपस्या, दान, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, वृत, उपवास, अक्रोध एवं गुरुसेवा आदि को यम का संबंध सार्वभौमिक नैतिक अवस्थाओं से तथा नियम का संबंध आचरण के व्यावहारिक पक्ष से है।

मनुस्मृति में वर्ण व्यवस्था के माध्यम से समाज व आश्रम व्यवस्था के माध्यम से सम्पूर्ण जीवन को अनुशासित करने का प्रयास किया गया है। मनुस्मृति का मूल उद्देश्य वर्णाश्रम व्यवस्था को लागू कर समाज व व्यक्ति जीवन को अनुशासित करना है। मनु ने समाज में रहने वाले व्यक्तियों को चार वर्णों में वर्गीकृत भी किया है – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनके कर्तव्यों का विवेचन भी किया है। वर्ण व्यवस्था समाज में व्यक्तियों में उनकी योग्यता एवं क्षमता के आधार पर समाज के प्रति उनके द्वारा पूर्ण किए जाने वाले दायित्वों के विभाजन की एक सुव्यवस्थित व्यवस्था है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण के अनुरूप दायित्वों का निर्वाह करना होगा अन्यथा इसका आशय होगा कि वह अपने धर्म से विमुख हो रहा है, अपने पारलौकिक लक्ष्य को विस्मृत कर रहा है। मनु ने चार वर्णों व उनके कर्तव्यों का उल्लेख किया है। **ब्राह्मण** : ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न, ज्येष्ठ, वेदों का धारण करने वाला, सम्पूर्ण वर्ण व्यवस्था में श्रेष्ठ है, इनका प्रमुख कर्तव्य अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना है। **क्षत्रिय** : ब्रह्मा के बाहु से उत्पन्न क्षत्रिय वर्ण का प्रमुख कार्य प्रजा की रक्षा के साथ दान देना, यज्ञ करना, पढना और विषयों में न लगना है। **वैश्य** : ब्रह्मा की जंघा से उत्पन्न हुए हैं, प्रमुख कर्तव्य पशुओं की रक्षा दान देना, यज्ञ देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार, ब्याज और खेती करना है। **शूद्र** : मनु ने शूद्र का एक ही कर्म कहा है, इन तीनों वर्णों की निष्कपट सेवा करना।[57]

मनु ने क्रमिक उत्पत्ति के अनुसार ब्राह्मण को श्रेष्ठ और शूद्र को निम्नतम स्थान प्रदान किया गया है। कर्म विभाजन की यह व्यवस्था किसी हीनता अथवा श्रेष्ठता की द्योतक नहीं है, इसका मूल मंतव्य सामाजिक व्यवस्था के सुचारु रूप से निर्वहन के लिए समाज के व्यक्तियों के मध्य कर्तव्यों के निर्धारण की एक व्यवस्था मात्र ही है।

कौटिल्य ने भी समाज को चार वर्णों में विभाजित कर उनके कार्यों और दायित्वों का विभाजन किया है। **ब्राह्मण** : अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना एवं स्वयं के आचारण द्वारा समाज के सम्मुख आदर्श प्रस्तुत करना ब्राह्मण का कर्तव्य है। **क्षत्रिय** : क्षत्रिय कार्य प्रमुख कार्य शस्त्र से जीविका प्राप्त कर प्रजा की रक्षा करना है। इसके अतिरिक्त अध्ययन, यज्ञ

कराना और दान देना भी इनके कर्तव्य में शामिल है। **वैश्य** : वैश्य का प्रमुख कार्य कृषि, पशुपालन और व्यापार है। इसके अतिरिक्त अध्ययन, यज्ञ कराना और दान देना भी वैश्य के कर्तव्य हैं। **शूद्र** : कौटिल्य के अनुसार शूद्रों का मुख्य कार्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यों की सेवा करना है। इसके अतिरिक्त इसके द्वारा कृषि, पशुपालन तथा शिल्प आदि से संबंधित व्यवसाय भी किये जा सकते हैं।[58]

कौटिल्य ने मनु की भाँति वर्णो पर आधारित भेदभाव को स्वीकार नहीं किया है। विभिन्न राजकीय पदों एवं सामाजिक गतिविधियों में चारों वर्णों को समान रूप से उनकी योग्यता के अनुसार अवसर दिये जाने का कौटिल्य ने समर्थन किया है। यहाँ तक कि कौटिल्य ने शूद्रों को उनके योग्य होने पर मंत्री या न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किये जाने का भी समर्थन किया है।

आश्रम व्यवस्था के माध्यम से मनु ने मनुष्य की सम्पूर्ण आयु को अवस्था के अनुसार चार आश्रमों में विभाजित किया है, जो मनुष्य इन विभिन्न आश्रमों में उचित व्यवहार करते हुए एक आश्रम से दूसरे आश्रम में प्रवेश करते हैं, वे मोक्ष के अधिकारी होते हैं।[59] मनु की भाँति कौटिल्य ने भी मनुष्य के जीवन को चार भागों में विभाजित करके इन्हें आश्रमों की संज्ञा दी है। प्रत्येक वर्ण एवं आश्रम का धर्म है कि वह किसी भी प्रकार की हिंसा न करे, सत्य बोले, पवित्र बना रहे, किसी से ईर्ष्या न करे, दयावान और क्षमाशील बना रहे।[60] दोनों ही विचारक विभिन्न आश्रम एवं उनसे संबंधित व्यक्तियों के कर्तव्यों में समान मत रखते हैं यथा **ब्रह्मचर्य आश्रम** में निवास कर रहे व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह स्वाध्याय, हवन, स्नान, भिक्षावृत्ति तथा गुरु के पास रहते हुए विद्या अर्जन करे। **गृहस्थ आश्रम** का पालन कर रहे व्यक्ति के कर्तव्य में धर्मपूर्वक जीविकापार्जन, विवाह, वैवाहिक दायित्वों का निर्वाह, अतिथियों का स्वागत–सत्कार तथा मृतकों के भरण–पोषण को आवश्यक माना है। गृहस्थ ही धर्म, अर्थ और काम की स्थापना हेतु उचित आश्रम है। अन्य तीनों आश्रमों में रहने वालों का पालन भी गृहस्थ द्वारा ही किया जाता है, इस कारण गृहस्थाश्रम सर्वश्रेष्ठ है। **वानप्रस्थ आश्रम** में रह रहे व्यक्ति का कर्तव्य है – इन्द्रियों का संयम, भूमि पर शयन, सादा वस्त्रों को धारण करना, यज्ञ तथा पूजा पाठ में संलग्न रहना तथा सादा भोजन करना। वन में वेदाभ्यास करते हुए मान–अपमान, शीत–ताप तथा सुख–दुःख आदि द्वन्द्वों का सामना करते हुए सभी के प्रति

मित्रभाव तथा दयाभाव रखना चाहिए। **संन्यास आश्रम** में रह रहे व्यक्ति का कर्तव्य है वासना से मुक्ति, संग्रह की प्रवृति का त्याग, स्त्री संसर्ग का त्याग तथा शरीर और मन की सादगी को आवश्यक मानना। संन्यासी को नगर या किसी एक स्थान पर निवास नहीं करना चाहिए वरन् वन में विचरण करते रहना चाहिए। साथ ही संन्यासी से यह अपेक्षा की गई है कि वह हिंसा, ईर्ष्या और द्वेष आदि को स्थायी रूप से त्याग दे तथा सत्य, पवित्रता, क्षमा और त्याग आदि को स्थायी रूप से अपना ले।

इस प्रकार मनु एवं कौटिल्य दोनों ही आश्रम व्यवस्था के माध्यम से मनुष्य के जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में उसके समाज के प्रति कर्तव्यों का निर्धारण करते हैं और इस प्रकार मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को अनुशासित करने का प्रयत्न करते हैं।

सामाजिक व्यवस्था में शूद्रों एवं स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण में मनु और कौटिल्य के विचारों में कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। कौटिल्य इन दोनों शूद्र एवं स्त्रियों को अधिकार देने में मनु की तुलना में अधिक उदार प्रतीत होते हैं। कौटिल्य मनु की तरह इन दोनों को हीन दृष्टि से नहीं देखते और समाज में भी सम्मानपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। मनुस्मृति समाज में स्त्रियों को स्वतंत्र स्थान देने का विरोध करती है, उसमें कहा गया है कि स्त्री को बाल्यावस्था में पिता के, युवावस्था में पति के तथा वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रहना चाहिए। स्त्रियाँ कभी स्वतंत्र न रहें।[61] सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों की स्वतंत्रता का निषेध करते हुए भी मनु ने पारिवारिक जीवन में स्त्रियों की श्रेष्ठता एवं गरिमा को स्वीकार किया है। मनु ने शूद्रों को स्वतंत्र नागरिक नहीं माना है, उनकी स्थिति एक दास के तुल्य मानी है।

कौटिल्य ने सामाजिक सम्बन्धों में भेदभाव स्वीकार नहीं किया है। कौटिल्य ने शूद्रों और स्त्रियों की रक्षा किये जाने का समर्थन किया है और इन दोनों को ही सम्पत्ति का अधिकार प्रदान करते हुए समाज का एक सामान्य सदस्य माना है। कौटिल्य वर्ण व्यवस्था को विभिन्न वर्णों के मध्य हीनता या श्रेष्ठता के रूप में नहीं

बल्कि समाज में श्रम विभाजन के महत्वपूर्ण व्यावहारिक सिद्धान्त के रूप में ही मान्यता देते हैं।[62]

राज्य में सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में मनु और कौटिल्य वैदिक परम्परा के अनुसार **वर्णाश्रम धर्म** को मानते हैं। दोनों ही समाज में ब्राह्मणें के महत्वपूर्ण स्थान को स्वीकार करते हैं और शूद्रों को समान रूप से हीन स्थान देते हैं। कौटिल्य ने सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में कोई विचार व्यक्त नहीं किया है, जबकि मनु ने कहा है कि ब्राह्मणों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रियों की बाहुओं से और वैश्य की उदर से हुई। मनुष्य जीवन के उद्देश्य कौटिल्य की तरह मनु ने भी धर्म, अर्थ, काम तथा परलोक में मोक्ष माने हैं। जबकि कौटिल्य ने चार मुख्य विद्याएँ – आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता (पशुपालन, कृषि और व्यापार) तथा दण्डनीति मानी हैं; मनु ने प्रथम को छोड़कर अन्य तीन को ही स्वीकार किया है। दण्ड के महत्व को दोनों ही स्वीकार करते हैं। कौटिल्य के अनुसार, दण्डनीति ही अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त कराने वाली, प्राप्त हुए धन (व भूमि) की रक्षा कराने में तत्पर और संवर्द्धित वस्तुओं को समुचित कार्यों में लगाने का निर्देश करती है। इसी पर संसार की सारी लोक यात्रा निर्भर है, अतः लोक को समुचित मार्ग पर चलाने के लिए राजा को सदा ही दण्ड देने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए, परन्तु कठोर दण्ड देने वाले राजा से सभी प्राणी उद्विग्न हो जाते हैं और नरम दण्ड देने से प्रजा तिरस्कार करने लग जाती हैं। दण्ड द्वारा सुरक्षित हुए चारों वर्णों और आश्रमों के सदस्य अपने–अपने धर्म और कर्म में लगे रहते हैं।

मनु के मतानुसार दण्ड ही राजा है; दण्ड शासन करने वाला है और दण्ड चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू है। दण्ड ही सब प्रजा पर शासन करता है और दण्ड ही सबकी रक्षा करता है। वस्तुतः दण्ड के विषय में मनु के विचार कौटिल्य से समानता रखते हैं।[63]

राज्य की उत्पत्ति और उसके ध्येय के विषय में भी मनु और कौटिल्य के विचार बहुत सीमा तक समान है। मनु ने राज्य की उत्पत्ति दैवीय मानी है, किन्तु कौटिल्य इस विषय में अपना मत न देकर केवल सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। मनु कौटिल्य की भाँति ही राज्य को सप्तांग

मानते हैं। कौटिल्य ने राज्य के सात अंग (प्रकृतियाँ) – स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र बताये हैं। मनु ने जनपद को राष्ट्र कहा है और दुर्ग के स्थान पर पुर रखा है, किन्तु उनका आशय एक ही है। मनु ने प्रकृति शब्द का प्रयोग राजमण्डल के सम्बन्ध में किया है, न कि राज्य के अंग के अर्थ में, जैसा कि कौटिल्य ने किया है। मनु ने केवल **राजतन्त्र** के विषय में ही लिखा है, कौटिल्य ने भी **राजतन्त्र** को ही श्रेष्ठ शासन माना है, किन्तु साथ ही गणों (संघों) का भी उल्लेख किया है। दोनों के अनुसार **राज्य के उद्देश्य** प्रायः समान हैं और उसका **कार्यक्षेत्र** विस्तृत है। राजा को प्रजा की सुरक्षा, शान्ति और व्यवस्था के अतिरिक्त आर्थिक विकास और समृद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए। जहाँ तक **प्रशासन** व्यवस्था का सम्बन्ध है, दोनों ने ही राजा को परामर्श देने के लिए मन्त्रियों की आवश्यकता पर बल दिया है। साथ ही पुरोहित और विभिन्न प्रकार के अधिकारियों की नियुक्ति आवश्यक बताई है। यद्यपि कौटिल्य ने मंत्रियों की संख्या समय और आवश्यकता के अनुसार नियत करने की बात कही है, किन्तु मनु ने उनकी संख्या 7 या 8 बतायी है। मनु व कौटिल्य ने **प्रधानमंत्री** के पद की ओर भी संकेत किया है और मंत्रियों की योग्यता के विषय में प्रायः समान विचार व्यक्त किये हैं, किन्तु कौटिल्य ने राज्य के 18 तीर्थों और विभिन्न विभागों के उच्च अधिकारियों के नामों व कर्तव्यों का भी विशद् विवेचन किया है। वास्तव में कौटिल्य का अर्थशास्त्र प्राचीन भारत की प्रशासन व्यवस्था के सम्बन्ध में विस्तृत ज्ञान प्रदान करता है, जबकि मनु ने प्रशासनिक अधिकारियों और संगठन का सविस्तार वर्णन नहीं किया है।

राजा के गुणों, उसके प्रशिक्षण और कर्तव्यों पर दोनों ने ही बल दिया है। कौटिल्य के अनुसार राजा महाकुलीन वृद्धों की बात मानने वाला, धार्मिक, सत्यवादी, धैर्य सम्पन्न, दूरदर्शी, उच्चाभिलाषी, उत्साही, समर्थ सामन्तों से युक्त, शास्त्रों का ज्ञाता, जितेन्द्रिय और विनययुक्त होना चाहिए। मनु के अनुसार राजा विनययुक्त, वृद्ध और वेदज्ञाता ब्राह्मणों की सेवा करने वाला, त्रयी, दण्डनीति और वार्ता आदि विद्याओं में प्रवीण, जितेन्द्रिय, काम और क्रोध से उत्पन्न होने वाले व्यसनों से रहित और धर्मपालक होना चाहिए।

मनु और कौटिल्य दोनों ने ही राजा की दिनचर्या का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। कौटिल्य ने राजा के मुख्य कर्तव्य – उद्योग ओर यज्ञ करना, दान देना, प्रजा का पालन करना, विधिवत दीक्षित व्यक्तियों को विभिन्न पदों पर नियुक्त करना, प्रजा को सुशिक्षित व समृद्ध बनाने के लिए प्रत्येक सम्भव प्रयास और न्याय प्रशासन करना आदि बताये हैं। मनु के अनुसार राजा के प्रमुख कर्तव्य हैं–विभिन्न कार्यों को करने के लिए अध्यक्षों की नियुक्ति, युद्ध से विमुख न होना, प्राप्त की रक्षा करना और अप्राप्त को पाने का प्रयत्न करना, दान देना, दण्ड का उचित प्रयोग करना, प्रजा की रक्षा करना, धर्म पालन करना और कराना इत्यादि।

न्याय व्यवस्था के विषय में भी मनु और कौटिल्य के विचारों में बड़ी समानता है। दोनों ही यह मानते हैं कि राजा को न्यायी होना चाहिए। कौटिल्य ने न्याय–प्रशासन को व्यवहार और दण्ड दो भागों में विभाजित किया है और क्रमशः **धर्मस्थीय** तथा **कण्टकशोधन** न्यायालयों के संगठन व क्षेत्राधिकार का विस्तृत वर्णन किया है। दण्ड व्यवस्था में ब्राह्मणों और अन्य उच्च वर्णों के सदस्यों के लिए निर्धारित दण्डों में कुछ अन्तर रखा है। ब्राह्मण को किसी भी अपराध के लिए मृत्युदण्ड अथवा ताड़न दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए, अपितु वह जैसे–जैसे अपराध करे वैसे–वैसे ही उसके माथे पर दाग दे दिये जायें।

मनु ने न्याय प्रशासन का भार राजा पर छोड़ा है। व्यवहार अथवा मुकदमों को देखने का इच्छुक राजा स्वयं राजसभा (न्यायालय) में जाये अथवा उस कार्य के लिए किसी ब्राह्मण को नियुक्त करे। सभा में तीन अन्य सदस्य होने चाहिए, राजा देश, कुल तथा जाति अनुसार व्यवहार का निर्णय करे। मनु ने व्यवहार तथा दण्ड (अथवा कण्टक शोधन) न्यायालयों की पृथक व्यवस्था नहीं दी है। मनु ने कानून में ब्राह्मणों को विशेष स्थान दिया है।

कर व्यवस्था के विषय में भी मनु और कौटिल्य के विचारों में बड़ी समानता है। मनु के अनुसार कर लेने का उद्देश्य प्रजा रक्षण है। राजा को प्रजा से थोड़ा –थोडा वार्षिक कर ग्रहण करना चाहिए; करों की दर विभिन्न समूहों के लिए अलग–अलग होनी चाहिए। खेती आदि की पैदावार का छठा या आठवाँ भाग, पशु तथा स्वर्ण कर मूलधन से अधिक का पचासवाँ भाग और कारीगरों से महीने में

एक दिन कार्य आदि। मनु ने विभिन्न प्रकार के आय साधनों में इन्हें सम्मिलित किया है – बलि, शुल्क, दण्ड कर, पशु कर, आकर कर आदि।

कौटिल्य राज्य की आय के मुख्य स्रोतों में दुर्ग (राजधानी) से होने वाली आय और राष्ट्र आय (राज्य के अन्य भागों से होने वाली आय) को स्वीकार करते हैं। इसके साथ ही विभिन्न प्रकार के करों में वणिक कर, नदी कर आदि सम्मिलित किये हैं। करों के अतिरिक्त कौटिल्य ने बलि, शुल्क और भाग आदि की व्यवस्था की है।[64]

अन्तरराज्य सम्बन्धों के क्षेत्र में कौटिल्य ने मुख्य रूप से मण्डल सिद्धान्त और षाड्गुण्य नीति का प्रतिपादन किया है। इन दोनों ही सिद्धान्तों को मनु ने अपनाया है किन्तु मनु ने मण्डल सिद्धान्त में कुछ जोड़ दिया है, जबकि कौटिल्य ने राजमण्डल में बारह राज्य सम्मिलित किये हैं। मनु ने उन बारह राज्यों को मण्डल की मूल प्रकृतियाँ कहा है और उनके अतिरिक्त प्रत्येक की 5–5 द्रव्य प्रकृतियाँ भी बतायी हैं। इस प्रकार मनु के अनुसार राजमण्डल की 72 प्रकृतियाँ हैं, जबकि कौटिल्य ने अनेक प्रकार की सन्धियाँ बतायी हैं; मनु ने षाड्गुण्य में से प्रत्येक अंग के दो प्रकार बताये हैं।

शान्तिकाल व युद्धकाल में परराष्ट्र सम्बन्धों, सेना, राजदूत, गुप्तचर व्यवस्था आदि के विषय में कौटिल्य और मनु के विचार अधिकांशतः मिलते हैं। किन्तु मनु और कौटिल्य के वैदेशिक नीति का ध्येय राज्य की सुरक्षा को बनाये रखना है। मनु के इस स्थिर ध्येय के विपरीत कौटिल्य की वैदेशिक नीति में पतन की दशा से राज्य को संतुलन और उन्नति की दशा तक प्रगतिशील विकास द्वारा ले जाना अन्तर्ग्रस्त है।[65]

मनु और कौटिल्य दो प्रकार के प्रचलित राजनीतिक विचारों के श्रेष्ठ प्रतिनिधि हैं। मनु धर्मशास्त्र के और कौटिल्य अर्थशास्त्र के। वास्तव में दोनों में बहुत बड़ा अंश सामान्य था और सिद्धान्त रूप में वे एक–दूसरे के पूरक थे तथा कामशास्त्र व मोक्ष शास्त्र के साथ सारिणी को पूर्ण बनाते थे। धर्म और अर्थ बहुधा साथ–साथ आते हैं और महाभारत में तो दोनों मिल जाते हैं।[66]

मनु और कौटिल्य दोनों ही भारतीय राजनीतिक चिन्तन के प्रमुख विचारक हैं। दोनों चिन्तकों के विचारों पर भारतीय समाज और संस्कृति का पूरा प्रभाव पड़ा है। दोनों ने ही समकालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का पूर्ण अवलोकन करने के पश्चात ही अपने विचार व्यक्त किए हैं। दोनों ने ही वेदों के अध्ययन पर काफी बल दिया है। कौटिल्य ने आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति चार विद्याओं की चर्चा की है और उनकी यथार्थता धर्म तथा अधर्म के ज्ञान में बताया है। वस्तुतः कौटिल्य ने आन्वीक्षकी के अध्ययन पर अधिक बल दिया है। दण्डनीति के सम्बन्ध में भी मनु और कौटिल्य के बीच अन्तर पाया जाता है। कौटिल्य ने वार्ता और दण्डनीति को परस्पर सम्बन्धी माना है, जबकि मनु ने अलग–अलग रूप में देखा है।

मनु ने वैदिक धर्म की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है, जबकि कौटिल्य धर्मशास्त्र और राजाज्ञा के बीच किसी भी प्रकार के मतभेद होने की स्थिति में राजाज्ञा को ही प्राथमिकता प्रदान करते हैं। इस प्रकार कह सकते हैं कि मनु की अपेक्षा कौटिल्य ज्यादा यर्थाथवादी हैं। कौटिल्य ने कानून के धार्मिक पक्ष की अपेक्षा उसके लौकिक या धर्मनिरपेक्ष पक्ष पर अधिक बल दिया है।

मनु और कौटिल्य के बीच शासनतंत्र के सम्बन्ध में भी विचारों में अन्तर पाया जाता है। अमात्यों की नियुक्ति और मंत्रिपरिषद की संख्या के सम्बन्ध में अन्तर स्पष्ट दिखता है। मनु के अनुसार मंत्रिपरिषद में 12 अमात्यों की नियुक्ति की जानी चाहिए, परन्तु कौटिल्य के मतानुसार मंत्रिपरिषद के सदस्यों की संख्या पूर्णतया निश्चित नहीं की जा सकती है। उनकी संख्या कार्य करने वाले पुरुषों की सामर्थ्य के अनुसार नियत होनी चाहिए। यथासामर्थ्यमिति कौटिल्यः।[67]

मनुस्मृति में शासन तंत्र का विवेचन, राजा की भूमिका, उसके कार्यों और दायित्वों का इतना विस्तृत विवेचन प्राप्त नहीं होता, जितना कौटिल्य ने शासनतंत्र तथा उसके अंगों का विस्तृत विवेचन किया है, साथ ही राजा की भूमिका, कार्य व दायित्वों का भी। **संप्रभुता** की अवधारणा के सम्बन्ध में भी अन्तर दृष्टिगोचर होता है। जहाँ मनु संप्रभुता की व्याख्या नैतिकता के संदर्भ में करते हैं, कौटिल्य संप्रभुता के व्यावहारिक पक्ष के बारे में चर्चा करते हैं।

मनुस्मृति मूलतः एक धर्मशास्त्र है जो वैदिक उद्धरणों और सिद्धान्तों पर आधारित है। कौटिल्य ने वैदिक उद्धरणों और सूक्तियों को अपने पर्यवेक्षण द्वारा प्राप्त अनुभव की कसौटी पर कसकर उद्धृत किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र को शासनतंत्र, कूटनीति पर लिखित एक श्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। कौटिल्य ने राजनीति और नैतिकता को पृथक करने का भी प्रयास किया है। वस्तुतः कौटिल्य नैतिकता को वैयक्तिक धरातल पर लाकर आँकने का प्रयास करते हैं। उनका मूल उद्देश्य है एक सशक्त राजनीतिक समुदाय की स्थापना करना। वह नैतिकता को उसके साथ मिलाना नहीं चाहते। इसके विपरीत मनु ने राजनीति को नैतिकता से बिल्कुल विमुख नहीं किया है। निष्कर्षतः कह सकते हैं कि मनु नैतिक आदर्शवाद के समर्थक हैं, जबकि कौटिल्य एक यथार्थवादी चिंतक हैं।[68]

मनु एवं कौटिल्य के आधारभूत दृष्टिकोण में अन्तर होते हुए भी शासक के प्रजा के प्रति कर्तव्य, प्रत्येक क्षेत्र में प्रजा के हितों का ध्यान रखना एवं सुव्यवस्थित सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने सम्बन्धी दृष्टिकोण में हमें समानताऐं भी दृष्टिगोचर होती हैं।

संदर्भ सूची :–

1. चतुर्वेदी, मधुमुकुल — प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2011, पृ. 33
2. काणे, पी.वी. — धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1992, पृ. 30–32
3. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — गैरोला वाचस्पति, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 2003 (च.सं.) अध्याय 6, प्रकरण 96, पृ. 441
4. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — चाणक्य प्रणीत सूत्र, 1–3, पृ. 775 ''सुखस्य मूलं धर्मः। धर्मस्य मूलमर्थः। अर्थस्य मूलं राज्यम्।''
5. मनुस्मृति — चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, जवाहर नगर दिल्ली, 1985, अध्याय 4, श्लोक सं0 241–242, पृ. 114
6. मनुस्मृति — अध्याय 7, श्लोक संख्या 1–3, 13, पृ. 152–54
7. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — पन्द्रहवाँ अधिकरण, तंत्रयुक्ति, अध्याय1, प्रकरण 180, पृ. 765
8. मनुस्मृति — अध्याय 1, श्लोक संख्या 84–86, पृ. 12
9. मनुस्मृति — अध्याय 6, श्लोक संख्या 75, 13, पृ. 149
10. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — चाणक्य प्रणीत सूत्र, 416, स्वर्गं नयति सुनृतम्, पृ. 793
11. सालेटोरे, बी.ए. — एनशियेन्ट इण्डियन पॉलिटिकल थॉट एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1963, पृ. 319
12. मनुस्मृति — अध्याय 7, श्लोक संख्या 10, 27–30, पृ. 153–156
13. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — तीसरा अधिकरण, धर्मस्थीय, अध्याय 1, प्रकरण 56–57, पृ. 259
14. मनुस्मृति — अध्याय 8, श्लोक संख्या 126–30, पृ. 202
15. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — प्रथम अधिकरण, विनयाधिकारिक, अध्याय 1, प्रकरण 1, पृ. 8–9
16. मनुस्मृति — अध्याय 7, श्लोक संख्या 14–22, पृ. 154–55
17. मनुस्मृति — अध्याय 8, श्लोक संख्या 334, पृ. 229–30
18. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — तृतीय अधिकरण, धर्मस्थीय, अध्याय 1, प्रकरण 56–57, पृ. 259–60
19. मनुस्मृति — अध्याय 7–8, श्लोक संख्या 16, 334–338, पृ. 154, 290–300

20. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् तृतीय अधिकरण, धर्मस्थीय, अध्याय 8, प्रकरण 83, पृ. 376–79
21. मनुस्मृति अध्याय 8, श्लोक संख्या 1–26, पृ. 185–88
22. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् तृतीय अधिकरण, धर्मस्थीय, अध्याय 1, प्रकरण 56–57, पृ. 255–56
23. शरण, परमात्मा प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाऐं, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1970, पृ. 353
24. मिश्र, कौशल किशोर मनुस्मृति में राजसत्ता के प्रमुख आधार, राहुल पब्लिशिंग, हाउस, मेरठ, 2012, पृ. 86
25. मनुस्मृति अध्याय 8, 9, श्लोक संख्या 27–29, 269–72, पृ. 188, 277–78
26. सालेटोरे, बी.ए. पूर्वोक्त, पृ. 310
27. मनुस्मृति अध्याय 7, श्लोक संख्या 30, पृ. 156
28. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् प्रथम अधिकरण, विनयाधिकारिक, अध्याय 6, प्रकरण 3, पृ. 19
29. सालेटोरे, बी.ए. पूर्वोक्त, पृ. 184–90
30. मनुस्मृति अध्याय 7, श्लोक संख्या 63–67, 81, पृ. 160–163
31. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् प्रथम अधिकरण, विनयाधिकारिक, अध्याय 11, प्रकरण 7, अष्टादशतीर्थः, मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौवारिक, अन्तर्वेशिक, समाहर्ता, प्रशास्ता, सन्निधाता, प्रदेष्टा, व्यावहारिक, नायक, पौर, कार्मान्तिक, प्रधानमंत्री, दण्डपालक, दुर्गपाल, अन्तपाल, अटवीपाल पृ. 33
32. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् द्वितीय अधिकरण, अध्यक्ष प्रचार, अध्याय 5–34, प्रकरण 21–52, हस्ति अध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, रथाध्यक्ष, पत्याध्यक्ष, नौका अध्यक्ष, देवाध्यक्ष, अक्षपटलादाक्ष्य, पण्याध्यक्ष, कुप्याध्यक्ष, पौतवाध्यक्ष, मानाध्यक्ष, शुल्काध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, सीताध्यक्ष, सुराध्यक्ष, सूनाध्यक्ष, गणिकाध्यक्ष, गौअध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, विवीताध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, आयुधगाराध्यक्ष, कोष्ठगाराध्यक्ष, सुवर्णाध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष, आकाशाध्यक्ष,पृ. 95–240
33. मनुस्मृति अध्याय 8, श्लोक संख्या 335, पृ. 230
34. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् नवम अधिकरण, अभियास्यत्कर्म, अध्याय 3, प्रकरण 140–41, पृ. 603
35. मनुस्मृति अध्याय 7, श्लोक संख्या 59–63, पृ. 160–61

36. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् द्वितीय अधिकरण, अध्यक्ष प्रचार, अध्याय 1, 35, प्रकरण 17, 53–54, पृ. 77, 241–50
37. मनुस्मृति अध्याय 7, श्लोक संख्या 115–24, पृ. 167–69
38. मनुस्मृति अध्याय 7, श्लोक संख्या 65, पृ. 161
39. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् पंचम अधिकरण, दण्ड कार्मिक, अध्याय 2, प्रकरण 90, पृ. 412
40. मनुस्मृति अध्याय 7, श्लोक संख्या 80, पृ. 163
41. मनुस्मृति अध्याय 8, श्लोक संख्या 126–406, पृ. 202–239
42. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् पंचम अधिकरण, दण्ड कार्मिक, अध्याय 2, प्रकरण 90, पृ. 414–15
43. प्रसाद, मणिशंकर कौटिल्य के राजनीतिक एवं सामाजिक विचार, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1998, पृ. 64
44. सहाय, शिवस्वरूप प्राचीन भारतीय शासन और विधि, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 2005, पृ. 233–34
45. मनुस्मृति अध्याय 7, श्लोक संख्या 156–58, पृ. 174
46. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् षष्टम् अधिकरण, मण्डलयोनि, अध्याय 2, प्रकरण 97, पृ. 446–47
47. मनुस्मृति अध्याय 7, श्लोक संख्या 161, पृ. 175
48. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् सप्तम अधिकरण, षाडगुण्य, अध्याय 1, प्रकरण 98–99, पृ. 453–54
49. मनुस्मृति अध्याय 7, श्लोक संख्या 106–09, पृ. 166–67
50. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् नवम अधिकरण, अभियास्यत्कर्म, अध्याय 5, 6, 7, प्रकरण 143–146, पृ. 613–633
51. मनुस्मृति अध्याय 7, श्लोक संख्या 63–68, पृ. 160–61
52. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् प्रथम अधिकरण, विनयाधिकारिक, अध्याय 15, प्रकरण 11, पृ. 49–52
53. मनुस्मृति अध्याय 7, श्लोक संख्या 154, पृ. 173
54. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् प्रथम अधिकरण, विनयाधिकारिक, अध्याय 10, 11, 12, प्रकरण 6, 7, 8, पृ. 29–39
55. मनुस्मृति अध्याय 7, श्लोक संख्या 176, 191–202, पृ. 179–81
56. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् दसवाँ अधिकरण, सांड्ग्रामिक, अध्याय 3, प्रकरण 150–52, पृ. 644
57. मनुस्मृति अध्याय 1, श्लोक संख्या 87–89, पृ. 12
58. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् प्रथम अधिकरण, विनयाधिकारिक, अध्याय 2, प्रकरण 1, पृ. 10
59. मनुस्मृति अध्याय 6, श्लोक संख्या 88, पृ. 151

60. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् प्रथम अधिकरण, विनयाधिकारिक, अध्याय 2, प्रकरण 1, पृ. 10–11
61. मनुस्मृति अध्याय 9, श्लोक संख्या 3, पृ. 242
62. चतुर्वेदी, मधुमुकुल पूर्वोक्त, पृ. 118
63. घोषाल, यू.एन. ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल आइडियाज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बॉम्बे, 1959, पृ. 167, 178
64. शरण, परमात्मा पूर्वोक्त, पृ. 230–31
65. घोषाल, यू.एन. पूर्वोक्त, पृ. 184
66. प्रसाद, बेनी थ्योरी ऑफ गवर्न्मेन्ट इन एनशियेन्ट इण्डिया, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहबाद, 1968, पृ. 157
67. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् प्रथम अधिकरण, विनयाधिकारिक, अध्याय 14, प्रकरण 10, पृ. 47
68. प्रसाद, मणिशंकर पूर्वोक्त, पृ. 188–89

अध्याय – पंचम
धर्म और राजव्यवस्था तथा धर्मनिरपेक्षता

प्राचीन भारत में राजनीति का सर्वप्रमुख आधार धर्म ही था। धर्म और राजनीति एक–दूसरे से किसी भी क्षेत्र में पृथक न थे। भारत में राज्य और शासन की अनेक संस्थाओं का विकास हुआ और साथ ही राज्य व शासन के विषय में प्राचीन आचार्यों ने अनेक मूल्यवान विचार दिये। उन सभी संस्थाओं और विचारों का आधार धर्म था। हमारे पूर्वजों ने धर्म को ही सर्वोपरि सत्ता माना और जीवन के प्रत्येक कार्य को धर्म से सुशासित रखा। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय राजनीति आधुनिक राजनीति से पूर्णतया भिन्न थी। प्राचीन भारत में राजा धर्म से बँधा था तथा राजा का व्यक्तिगत जीवन और उसकी दैनिक दिनचर्या धर्म से विनियमित थे। परिजन तथा पुरजन, यहाँ तक कि शत्रु के साथ भी उसका संबंध धर्म के आधार पर था और युद्ध–विषयक नीति भी धर्म–निर्दिष्ट थी। केवल राजा ही नहीं प्रजा भी अपने व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में सदा ही धर्म का पालन करती थी।[1]

धर्म शब्द धृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण करना। अभ्युदय, अपीड़न और धारण अर्थात संरक्षण जिस उपाय से हो, वही धर्म है।[2]

हिन्दुओं के लिए वेद ही सम्पूर्ण ज्ञान और धर्म के स्रोत हैं, इसके पश्चात धर्मशास्त्र आते हैं। ''धर्मस्य शीलमेवादि'' अर्थात् शील ही धर्म का कारण है। शील से ही तीनों लोक जय किये जा सकते हैं; इस लोक में शीलवान मनुष्यों के लिए कोई भी कार्य असाध्य नहीं है। 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'' अर्थात् जिससे अभ्युदय (लौकिक उन्नति) और निःश्रेयस (पारलौकिक उन्नति) हो वही धर्म है। यज्ञ, दान एवं तप रूप कर्म ही धर्म है। संक्षेप में, जिससे समस्त प्राणियों का संरक्षण तथा उन्नति होती है, वही धर्म है या जिससे सम्पूर्ण समाज का पूर्ण व सर्वांगीण विकास हो वही धर्म है।

भारतीय मनीषियों ने व्यक्ति और समाज दोनों की पूर्णता एवं अभ्युदय हेतु स्वधर्म–पालन अर्थात् वर्णाश्रम धर्म पर विशेष बल दिया। चारों वर्णों के धर्म की रक्षा करने को राजा का प्रमुख कर्तव्य माना, क्योंकि धर्म–संकर होने (अन्य धर्म का

अनुसरण करने से) प्रजा को बचाना राजा का धर्म है। यह भी माना गया कि कोई व्यक्ति धर्म मार्ग से विचलित हो तो उसे दण्ड देना भी राजा का कर्तव्य है। स्वधर्म पालन से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है, स्वधर्म के उल्लघंन से सर्वथा अव्यवस्था उत्पन्न हो जावेगी, अतः राजा को चाहिए कि वह प्रजा को स्वधर्म का अतिक्रमण न करने दे।[3]

राजदण्ड के भय से समस्त जन अपने–अपने धर्म में तत्पर रहते हैं। राजा के लिए आवश्यक है कि वह प्रजा को स्वधर्म में निरत रखे। इसी कारण राजा को धृतब्रत कहा गया है। यद्यपि प्राचीन भारत में राजा को शासन की सर्वोच्च सत्ता प्राप्त थी, फिर भी स्वयं धर्म के अधीन था। हिन्दू विचारों के अनुसार विधि के शासन के रूप में धर्म राज्य का सच्चा प्रभु है। राजा कार्यपालिका है, जो दण्ड कहलाता है और जो आध्यात्मिक प्रभु (धर्म) के आदेशों को स्थिर रखता है एवं लागू करता है। इस प्रकार हिन्दू राज्य में विधि (कानून) का स्रोत लौकिक प्रभु नहीं है। विधि के स्रोत उससे ऊपर और आगे हैं। वे उसकी रचना नहीं हैं, वह तो उसके पालन को देखता है।[4]

प्राचीन भारतीय चिन्तन की एक आधारभूत धारणा स्मृतियों में प्रतिपादित सामाजिक व्यवस्था में धर्म की सर्वोच्चता का सिद्धान्त था। स्मृतियों में कहा गया है कि स्थूल रूप में धर्म सामाजिक पद्धतियों की इकाईयों के लिए विहित कर्तव्यों की सम्पूर्ण योजना है; जिसे वेदों, पवित्र परम्पराओं और अच्छी प्रथाओं से लिया गया है। स्मृतियों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का प्रभाव समानान्तर विचार–पद्धतियों में देखा जा सकता है। उनके लेखकों–कौटिल्य और कामन्दक आदि ने स्मृतियों के सिद्धान्त को ही अपनाया है और धार्मिक नियमों एवं प्रथाओं को कानून का स्रोत माना है।[5]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में राज्य के हित में ऐसी कूटनीति का प्रतिपादन करते हैं, जिससे स्पष्टतः प्रतीत होता है कि राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कभी–कभी नैतिकता को त्यागना पड़ सकता है, फिर भी उसकी मान्यता है कि दण्डनीति वह विज्ञान है, जिससे मनुष्य के सांसारिक ध्येयों की पूर्ति अथवा प्राप्ति होती है तथा राज्य का अन्तिम ध्येय मनुष्य के पूर्ण जीवन को प्राप्त कराना है,

अर्थात् उसे इस जीवन में धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति में पूर्ण सहायता देना है। प्राचीन भारत में राजनीतिक विचारों की आधारशिला वेद संहिताएँ और ब्राह्मण ग्रन्थ ही रहे। चूँकि प्राचीन भारतीयों का झुकाव धर्म की ओर था, अतः यह स्वाभाविक ही है कि उनका राजनीतिक जीवन धर्म से मिश्रित था अर्थात् उसके राजनीतिक जीवन के मुख्य पहलू धार्मिक थे। राज्य का मुख्य ध्येय धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करने में सहायक होना था। साथ ही राजा के पद को दैवी समझा जाता था, परन्तु राजा का पद दैवी होते हुए भी सीमाओं के अधीन था। राजा को इन्द्र की भाँति अपने राज्य पर हितकारी कार्यों की वर्षा करनी चाहिए, यम की भाँति उसे अपनी प्रजा पर नियंत्रण रखना चाहिए, वरूण की भाँति अपराधी को दण्ड देना चाहिए इत्यादि। इस प्रकार राजा में प्रायः सभी प्रमुख देवताओं के गुण होने चाहिए। ऐसा ही राजा देवांश होता था, जिसे धार्मिक राजा भी कहते थे।[6]

वर्ण व्यवस्था वैदिक धर्म की देन और प्राचीन भारतीय समाज की प्रमुख विशेषता थी। राज्य के प्रायः सभी कार्यों–विभिन्न पदों पर नियुक्ति, न्याय–प्रशासन और कर–प्रशासन में वर्ण व्यवस्था का अति महत्वपूर्ण भाग था। प्राचीन भारत की राजशास्त्र के विकास में सबसे महत्वपूर्ण देन धर्ममय अथवा धर्म पर आधारित राजनीति कही जा सकती है। राज सम्बन्धी सिद्धान्तों में केन्द्रीय स्थान धर्म के लिए आरक्षित था। राज्य को उसी मात्रा तक अच्छा या बुरा माना जाता था जहाँ तक कि वह धर्म के पालन और अभिवृद्धि में सहायक होता था।

वैदिक राजनीतिक दर्शन की मूल स्थापनाऐं धार्मिक आख्यानों, याज्ञिक विधियों और कविताओं में प्रकट हुई है। सत्ता को समझाने वाली और धर्म तथा राजनीति में पारस्परिक संबंधों को बताने वाली सर्व प्राचीन सामग्री वैदिक संहिताओं में मिलती है। वैदिक देवतावाद को एक प्रकार से सत्ता के दिव्यीकरण का प्रयास कह सकते हैं। सत्तावाद, दण्डवाद, बलवाद, युद्धविजयवाद आदि विराट रूप में वेदों में उद्घोषित हुए हैं। दूसरी ओर धर्मशास्त्रों और संस्कृत अर्थशास्त्रों में यह मंतव्य परिपुष्ट किया गया है कि राजसत्ता का औचित्य इसी में है कि प्रजा का सम्यक पालन हो। व्यक्तिवादी संरक्षणमूलक राजनीतिक दर्शन का मूल भी हमें

वैदिक संहिताओं में मिलता है, जहाँ कि इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं से त्राण की कामना की गयी है।

धर्म का उदय मानव–हृदय में व्याप्त भय की भावना में होता है। जीवन का सबसे बडा भय मृत्यु का है। जब मानव किसी प्रिय व्यक्ति का चिर वियोग अनुभव करता है, वह मृत्यु से त्राण पाना चाहता है। या तो वह योग या तप से अमरता की कामना करता है अथवा किसी प्रेत या अन्य जंतु की तुष्टि कर दुखनिवृति चाहता है। भय ही धर्म का जनक है। यह ठीक है कि सांसारिक वस्तुओं की अभिलाषा मनुष्य को अनेक देवी–देवताओं की अभ्यर्थना करने को बाध्य करती है और संभव है कि वैज्ञानिक और तकनीकी सभ्यता के उदय से मनुष्य में भौतिकवाद और जड़वादाश्रित धर्मनिरपेक्षतावाद की वृत्ति मजबूत हो, किन्तु मृत्यु का भय सार्वत्रिक, सार्वकालिक और सार्वजनीन रहेगा और धर्म की ओर मनुष्य सर्वदा प्रेरित होगा। धर्म का मानव सभ्यता में जब प्रथम उदय हुआ था, उस पुरातन काल का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने पर भय की भावना ही मुख्य दीख पड़ती है और भय के कारणों में मृत्यु का भय प्रबलतम है।[7]

पश्चिम के लोगों में प्रायः यह गलत धारणा व्याप्त है कि हिन्दू धर्म निष्क्रिय अथवा संसार को नकारने वाला धर्म है। लेकिन वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। वास्तव में हिन्दू धर्म एक जीवन्त धर्म है जिसका दृष्टिकोण जीवन के प्रति स्वीकारात्मक है। इसमें जीवन को उस चरम संतुलन का रूप माना गया है जो जीवन और मृत्यु की द्वैधता से परे है। हिन्दू धर्म के अनुसार एक ऐसी चरम स्थिति आती है जिसमें प्रवेश पाकर मानव चेतना जन्म–मरण के अनन्त चक्र से ऊपर उठ जाती है और सारा विश्व उसी चक्र में बंधा हुआ है। हिन्दू धर्म में आत्म त्याग को बहुत महत्व दिया गया है। यह कोई नकारात्मक धर्म नहीं है और न वह आत्मविनाश की शिक्षा ही देता है। हिन्दुत्व एक भौगोलिक शब्द है जो भारत की उत्तरी सीमाओं के पार बहने वाली महान नदी सिन्धु से निकलता है। इस नदी के दूसरी ओर रहने वाले लोगों के लिए सिन्धु के दक्षिण–पूर्व का सारा क्षेत्र, जिसे यूनानी 'इण्डस' कहकर पुकारते थे, हिन्दुओं का देश माना जाने लगा और इस भूमि में जो धर्म और मत–मतान्तर फैले उन सभी को हिन्दुत्व की संज्ञा दी जाने लगी। वास्तव में हिन्दुत्व अथवा हिन्दू धर्म को सनातन धर्म कहा जाता है क्योंकि

यह किसी एक गुरू की शिक्षा पर नहीं बल्कि भारत की सभ्यता के ऊषा काल से ही आरम्भ, महर्षियों और तत्व–दर्शियों की सामूहिक प्रज्ञा और अन्तः प्रेरणा पर आधारित है।

हिन्दू धर्म की मान्यता के अनुसार जीवन के चार लक्ष्यों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से धर्म सबसे पहला, सबसे अधिक व्यापक और मानव जीवन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण लक्ष्य है। धर्म शब्द का प्रयोग सामान्यतया मत या मजहब अर्थ में किया जाता है परन्तु वास्तव में इसका अर्थ व्यापक है। इसका अभिप्राय केवल मत–पालन या दर्शन में विश्वास नहीं है बल्कि यह एक व्यापक दृष्टिकोण है जिसमें विभिन्न परिस्थितियों में शुद्ध आचरण की कल्पना भी सम्मिलित है। धर्म, 'धृ' धातु से निकला शब्द है जिसका अर्थ है धारण करना और व्यापक अर्थ में इसका अभिप्राय प्रकृति के सार्वभौम नियम हैं जिन पर ब्रह्माण्ड टिका है। धर्म में न्याय, सत्, नैतिकता, शुद्ध आचरण, नियम और कर्तव्य की संकल्पनाऐं भी आ जाती हैं।[8]

मनुष्य का एक ही धर्म हो सकता है–मनुष्यता या मानवता। यही सब मनुष्यों का धर्म है। आग, पानी, सूर्य का प्रकाश, पृथ्वी, वनस्पति, आकाश सबका है। इसी तरह मानवता भी सबकी है, सबके लिए है। संसार भर के लिए है। मानवता का देशकाल में बंटवारा नहीं होता। संसार भर में ऋषियों, संतों, सूफियों और विचारकों ने इसी मानवता धर्म को अपनाया और इसी की सीख दी। इसी मानवता धर्म के अन्तर्गत विश्वबन्धुत्व आ जाता है। धर्म में न राष्ट्रभेद व न रंगभेद। वेदों में भारत वंदना नहीं है पृथ्वी सूक्त है। जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, नदी सब निर्भय, अविचलित रहकर अपने धर्म का पालन करते हैं, उसी प्रकार हमारे प्राण निर्भय हों और मनुष्य धर्म का पालन करते रहें। इस मानवता धर्म को मंदिर, मस्जिद, गिरिजाघर, गुरूद्वारे की जरूरत नहीं। मानवता धर्म से तो कोई निरपेक्ष नहीं हो सकता। होगा तो वह मनुष्य नहीं रह पायेगा। मानवता धर्म की प्रतिष्ठा के लिए पाखण्डी धर्म; सत्तालोलुप राजनीति, कपटी सम्पदा और स्वार्थी विद्या के गढ़ों और उनके गठबन्धन के विरूद्ध तीव्र संघर्ष करने वालों को धर्मनिरपेक्ष माना जा सकता है। धर्मनिरपेक्ष राजनीति का अर्थ होगा समाज की लौकिक समस्याओं का समाधान करने वाली राजनीति। नगरपालिका हो या केन्द्रीय सकरार उसका संबंध जनता की लौकिक सुविधाओं से है। परलोक साधना, उपासना या तीर्थाटन से

उसका कोई वास्ता नहीं है। सेक्यूलर शब्द का विश्वभर में अर्थ है–लौकिक। यही अर्थ भारत में चलेगा। यह आस्था, आस्तिकता और उपासना से निरपेक्ष है। भ्रमजाल से मनुष्य को मुक्त करने के लिए और मानवता धर्म की रक्षा के लिए सेक्यूलर जन अभियान ही एकमात्र और अनिवार्य विकल्प है।[9]

'धर्म' शब्द का अर्थ हम सम्प्रदाय भी लेते हैं। वस्तुतः पुरूषार्थ–चतुष्टय का समुचित रूप से सेवन तथा वर्णाश्रम धर्म का पालन ही धर्म है। कहा जा सकता है कि अपने लिए निर्धारित कर्तव्यों का पालन ही धर्म है और यही मानव धर्म है। परमात्मा के अस्तित्व को मानना ही धर्म है और संसार से मुक्त होकर परमात्मा में विलीन हो जाना धर्म का लक्ष्य है। इस लक्ष्य को पाने के लिए समय–समय पर हमारे धार्मिक चिन्तकों ने जो मार्ग बताए, वे ही सम्प्रदाय हैं। ईश्वर एक है, किन्तु वैदिक काल से उसके उपासकों ने अपनी रूचि के अनुरूप उसके विभिन्न रूप मानकर उसकी उपासना की। धर्म के लक्ष्य मोक्ष एवं परमात्मस्वरूप का दर्शन पाने के लिए ''भिन्नरूचिर्हि लोकः'' सिद्धान्त के अनुसार चुने हुए मार्गों में भिन्नता आ गई। यही कारण है कि धर्म का समावेश होने के कारण ये सम्प्रदाय आभ्यान्तर रूप से अभिन्न हैं, इसलिए सम्प्रदाय को धर्म न कहकर धार्मिक मार्ग, धार्मिक सम्प्रदाय तथा धार्मिक अवधारणा कहना चाहिए। धार्मिक समुदायवाद या धर्म की विभिन्न धाराओं का स्रोत हमारा वैदिक वांग्मय है। जिसमें ऋषि द्वारा जिस देवता की भी स्तुति की गई, उसे ही सर्वशक्तिमान ईश्वर माना गया; मानवों को जीवन यापन की सुविधाऐं प्रदान कराना, उनकी रक्षा–सुरक्षा करने तथा असुरों का विनाश करने के कारण उनको देवता माना गया, क्योंकि ये मानव जीवन को दुःख के अन्धकार से दूर करके सुख सुविधा के प्रकाश से युक्त कर देते हैं। वेदों में इन्द्र, वरूण, यम, विष्णु, वाक्, हिरण्यगर्भ, अग्नि, मरूत, सविता, पूषा, सूर्य, ऊषा आदि सूक्त परमात्मा के विभिन्न रूपों का ही गान करते हैं। ऋग्वेद में यही बात मानी गई है – ''एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति''। धर्म आत्मा है और विविध सम्प्रदाय उसके शरीर हैं। सब शरीरों में आत्मा एक ही है तथापि उन शरीरों के साथ व्यवहार उस शरीर विशेष की आकृति और स्वभाव के अनुसार करना आवश्यक है। इसी अनिवार्य विभिन्नता के फलस्वरूप अनेक धार्मिक सम्प्रदायों का प्रचलन भारत में हुआ। वैष्णव धर्म, शैव धर्म, शाक्त धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म,

सिक्ख धर्म, आर्य समाज–ये सभी धार्मिक सम्प्रदाय मानव धर्म रूपी गंगा की ही विभिन्न धाराऐं हैं। इनको एक–दूसरे का विरोध छोड़ देना चाहिए; साम्प्रदायिक झगड़ों से बचना चाहिए; धर्म के दुश्मनों और मानवता के विरोधियों द्वारा फैलाये गये आतंकवाद और सम्प्रदायवाद के झन्झावात से देश ही नहीं सम्पूर्ण विश्व को बचाना चाहिए।[10]

भारतीय संविधान में धर्म अथवा जाति का भेदभाव किये बिना प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार प्रदान किये गये हैं। भारत में राज्य का कोई धर्म नहीं इसलिए वह धर्मतन्त्रात्मक राज्य से भिन्न एक धर्मनिरपेक्ष या पंथनिरपेक्षक राज्य है। पाश्चात्य जगत के अनेक देशों ने सेक्यूलेरिज्म को अपना आदर्श बनाया है और भारत में भी पंथ निरपेक्ष राज्य की स्थापना की गई है, लेकिन पाश्चात्य जगत की सेक्यूलेरिज्म और भारत की धर्म निरपेक्षता पूर्णतया एक समान स्थितियाँ नहीं है। भारतीय जीवन का धर्म शब्द पाश्चात्य जगत के शब्द मजहब या रिलीजन की तुलना में बहुत व्यापक है।[11]

मजहब या रिलीजन का अर्थ एक विशेष धार्मिक पंथ से होता है, लेकिन भारतीय सांस्कृतिक परम्परा और वांग्मय में धर्म शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थों (सदाचार के नियमों, कर्तव्य और जीवन में धारण करने योग्य स्थिति) में किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक देश का अपना एक इतिहास, अपने ऐतिहासिक अनुभव तथा अपनी एक संस्कृति होती है तथा उसके राष्ट्रीय आदर्शों की प्रकृति उसकी इस ऐतिहासिक विरासत के लिए अनुरूप होती है। इतिहास, परम्परा और संस्कृति की दृष्टि से भारत की अपनी एक विशिष्ट स्थिति रही है तथा इस विशिष्ट स्थिति ने भारत की पंथ निरपेक्षता को पाश्चात्य जगत के सेक्यूलेरिज्म से भिन्न कर दिया है।

भारतीय धर्म निरपेक्षता विदेश से आयातित विचारधारा नही, वरन् एक भू–सांस्कृतिक अवधारणा है, इसके नियामक तत्व एवं प्रेरणा स्रोत विशुद्ध भारतीय हैं। सिद्धान्ततः धर्मनिरपेक्षता, धर्मेत्तर, धर्मविरोधी व संशयवादी हो सकती है, लेकिन भारतीय धर्मनिरपेक्षता ऐसी नकरात्मक दृष्टि को स्वीकार नहीं करती। वह धर्म की आवश्यकता और उसके अस्तित्व को मान्यता देती है। यद्यपि धर्म को राज्य व

उसकी सामाजिक आर्थिक गतिविधियों से पृथक करने का उसका एक सुविचारित प्रयास भी होता है। यह भारतीय धर्म निरपेक्षता का एक सकारात्मक पक्ष है।[12]

भारतीय धर्मनिरपेक्षता इस देश के दर्शन और नीतिशास्त्र के अनुकूल है। यूरोप में सेक्यूलेरिज्म का उदय धर्म सत्ता और राज सत्ता के बीच संघर्ष की स्थिति में और इस संघर्ष के मूल कारण को दूर करने के लिए हुआ। वहाँ सेक्यूलेरिज्म विशेष परिस्थितियों में प्रयत्नपूर्वक अपनाई गई एक स्थिति है। यूरोपियन इतिहास के मध्य युग में चर्च ने गहरी धार्मिक कट्टरता के भाव को अपना लिया था। चर्च ने लौकिक जीवन पर भी अपनी सत्ता का प्रतिपादन किया और चर्च तथा चर्च से जुड़ा अधिकारी वर्ग उन व्यक्तियों को उत्पीड़ित करने लगा, जो उनसे असहमति रखते थे। चर्च के इन अत्याचारों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए विवेकशीलता के आधार पर यह विचार प्रतिपादित किया गया कि चर्च को धार्मिक जीवन पर नियंत्रण का अधिकार नहीं होना चाहिए।

पश्चिम में सेक्यूलेरिज्म को एक नकारात्मक धारणा के रूप में अपनाया गया है। पश्चिम में प्रचलित सेक्यूलेरिज्म का आशय है, धर्म और राज्य का एक दूसरे से अलगाव, एक ऐसी स्थिति जिसमें धर्म और राज्य दोनों का क्षेत्र एक–दूसरे से पूर्णतया पृथक हो, जिसमें दोनों के बीच संघर्ष की स्थितियाँ और आशंका समाप्त हो जाए। यह विचार ईसा के इस उपदेश पर आधारित थाः जो वस्तु सीजर की है उसे सीजर को तथा जो ईश्वर की है उन्हें ईश्वर को अर्पित करो। लेकिन भारत में धर्म के प्रति सकारात्मक धारणा को अपनाया गया है। यह न तो धर्म और विविध धार्मिक पंथों के प्रति विरोध भाव है और न ही धर्म के प्रति उदासीनता या अलगाव का भाव। यह तो सभी धार्मिक पंथों के प्रति सम्मान का भाव रखते हुए धार्मिक कट्टरता का त्याग करने और उदारता तथा धार्मिक सहिष्णुता को अपनाने की प्रेरणा देता है तथा सभी धर्मों के सार मानव धर्म को शिरोधार्य करने का संदेश देता है। हमारे संविधान में जिस धर्म निरपेक्षता को अपनाया है, उसका आशय है–धर्म के प्रति **सकारात्मक भाव और सर्वधर्म समभाव।**

भारत के नए संविधान की एक मुख्य विशेषता देश में धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना करना है। कुछ लोगों की धारणा है कि धर्म निरपेक्ष राज्य धर्म विरोधी

होता है, लेकिन यह धारणा बिल्कुल निराधार है, क्योंकि धर्म निरपेक्ष राज्य न धार्मिक होता है न अधार्मिक अथवा धर्म विरोधी। वस्तुतः वह धार्मिक रूढ़ियों से सर्वथा विमुक्त रहता है और इस प्रकार धार्मिक मामलों में उसके क्रियाकलाप पूर्णतः तटस्थ होते हैं। धर्म–निरपेक्ष राज्य में धर्म एक वैयक्तिक मामला माना जाता है और व्यक्ति के क्या धार्मिक या विश्वास हैं, इस बारे में राज्य कोई हस्तक्षेप नहीं करता। धर्म–निरपेक्ष राज्य का उल्टा थियोक्रेटिक या साम्प्रदायिक राज्य होता है। यह राज्य एक धर्म विशेष से सम्बद्ध होता है और इसके कायदे कानून धर्म पुस्तकों के आधार पर निर्मित होते हैं।

भारतीय संविधान ने देश में धर्मनिरपेक्ष राज्य का श्रीगणेश किया है। भारत का कल्याण धर्म निरपेक्ष राज्य में ही निहित है। स्वतंत्रता युद्ध के दौरान में भारत में जिस **साम्प्रदायिक त्रिभुज** का विकास हुआ है जिसके कारण अपार जन हानि हुई तथा देश का विभाजन हुआ, उसकी सबसे बडी सीख यही है कि धर्म और राजनीति को एक दूसरे से पृथक रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त भारत में कई धर्मों के अनुयायी निवास करते हैं, ऐसी स्थिति में यदि राज्य स्वयं को किसी एक धर्म विशेष से सम्बद्ध कर लेता है तो अन्य धर्मों के प्रति अन्याय होगा। अतः राज्य के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह धर्मों के प्रति समदृष्टि रखे अर्थात् धर्म निरपेक्षता के आदर्श को अपनाए।[13]

भारतीय परम्परा में भौतिकवादी चिन्तन और चिन्तक जिन्होंने बुद्धिजीवियों की विचार प्रक्रिया को पारलौकिक से लौकिक जगत और जीवन के प्रश्नों पर केन्द्रित किया, आधुनिक ऐहिकीकरण के अग्रदूत थे। आधुनिक युग में धर्म निरपेक्षता की अवधारणा को एक स्वायत्त अवधारणा के रूप में उभारने में पश्चिम का भारत पर प्रभाव ही मुख्य प्रेरक शक्ति बना। भारत इस दृष्टि से पश्चिम का ऋणी है, क्योंकि उसने धर्मनिरपेक्षता का परिपक्व सिद्धान्त आधुनिक रूप में पश्चिम से ही प्राप्त किया। परन्तु भारत को धर्मनिरपेक्षता का विचार ब्रिटिश उपनिवेशवाद से नहीं मिला। उपनिवेदवादी सरकार का धर्मनिरपेक्षता से कोई वास्ता नहीं था। वह तो 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाकर एक धर्म को दूसरे धर्म से लड़ाने की कला में सिद्धहस्त थी। इसके अलावा उसने भारतीय शिक्षा और संस्कृति को भी धर्मनिरपेक्षता की राह पर चलने के लिए प्रोत्साहित

नहीं किया। भारत के प्रतिगामी वर्गों का साथ देकर उपनिवेशवादी शासन ने भारतीय समाज को धर्म निरपेक्ष चरित्र प्राप्त करने में सदा बाधा डाली। जिन औपनिवेशिक नीतियों ने भारत का उद्योगीकरण नहीं होने दिया, यही नहीं भारत के परम्परागत उद्योगों को नष्ट किया, शिक्षा के क्षेत्र में साक्षरता के प्रसार को रोका और शिक्षा को आधुनिक विज्ञान से नहीं जुड़ने दिया, उन्हीं ने धर्मनिरपेक्षता की गति को भी मंद रखा और अज्ञान अंधविश्वास और धर्मान्धता की जड़ों को और अधिक मजबूत किया।

भारत में धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा का सूत्रपात करने का श्रेय पश्चिमी रिनेसाँ (नवोदय) के विचारों में पले उन भारतीयों को जाता है कि जिन्होंने इंग्लैण्ड की औद्योगिक तथा फ्रांस की राजनीतिक क्रान्तियों से धर्म निरपेक्ष राज्य की प्रेरणा प्राप्त की। धर्म निरपेक्षता का विचार भारत में उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष और देश में जातियों, धर्मों और भाषाओं की विविधता को देखते हुए एक राष्ट्र की पहचान विकसित करने के प्रयासों के फलस्वरूप विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों में उभरा। ये परिस्थितियाँ उन परिस्थितियों से भिन्न थी, जिनमें धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा और व्यवहार का पश्चिम में विकास हुआ।

भारत में धर्मनिरपेक्षता की विशेषताऐं एक ओर अपने भूगोल और एक विशाल उपमहाद्वीप होने की स्थिति से और उसके एक प्राचीनकाल से चली आ रही महान और लघु स्थानीय सभ्यताओं के सम्मिश्रित इतिहास से संबंध रखती थीं। दूसरी ओर भारत में मजबूत जड़ें जमाये औपनिवेशिक राज्य के विरुद्ध समस्त भारतीयों का जो कई धर्मो, समुदायों, भाषाओं और प्रादेशिक भिन्नताओं के आधार पर विभाजित थे, एक संयुक्त मुक्ति आंदोलन संगठित करने की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि ने भारत में धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा के विकास को एक दिशा प्रदान की। ऐसे संयुक्त अभियान में समस्त भारतीयों की एकता के लिए जरूरी था कि भारतीय राष्ट्रीयता का सिद्धान्त सभी धर्मों का समान रूप से आदर करने के विचार और भावना पर आधारित हो। इस सिद्धान्त को सर्व धर्म समभाव की संज्ञा दी गई। भारत राष्ट्रीय राज्य धर्म निरपेक्ष होगा, धर्म निरपेक्ष इस माने में नहीं कि राष्ट्रीय राज्य उन नैतिक मूल्यों और मान्यताओं से मुक्त होगा जो सभी धर्मों के मूल में हैं,

बल्कि इस अर्थ में कि वह किसी धार्मिक सम्प्रदाय के दबाव या प्रभाव में नहीं होगा और अल्पसंख्यकों को विशेष संरक्षण देगा।

पाश्चात्य में धर्मनिरपेक्षता एक ओर आधुनिक राष्ट्र निर्माण और आर्थिक विकास की प्रक्रिया की प्रेरक शक्ति बनकर उभरी थी तो दूसरी ओर धर्मनिरपेक्षता का व्यापक प्रसार तेजी से हो रहे राष्ट्र निर्माण और आर्थिक विकास की देन भी बन गया। धर्म और विज्ञान के बीच तनाव यानी धर्माधिकारियों और वैज्ञानिकों के बीच भयानक द्वंद्व जिसका ज्वलंत एवं विकट रूप गैलीलियो को चर्च द्वारा दिये गये महादण्ड में लक्षित होता है, विशेष यूरोपीय परिस्थितियों की ही देन था। भारत में विज्ञान और धर्म के प्रतिनिधियों के बीच उस तरह का टकराव जिससे यूरोप का इतिहास भरा पड़ा है, कभी नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण है कि भारतीय धार्मिक परम्परा के अन्तर्गत ज्ञानमार्ग की स्वीकृति तथा प्रधानता जिनके कारण भारत के इतिहास में धर्म के आंतरिक तनावों और ज्ञानमार्ग तथा धर्मान्धता के बीच का द्वंद्व हिंसात्मक और कटु विवादपूर्ण रूप कभी न ले पाया।

भारत के स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उभरने के बाद ही विकास की प्रेरक शक्ति के रूप में धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा को प्राथमिकता मिली। धर्मनिरपेक्षता का राष्ट्रीय जागरण और एकता का आधार बनाने में यदि राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की भूमिका मुख्य थी तो राष्ट्रीय राज्य की स्थापना के बाद आर्थिक विकास, नागरिक समाज और आधुनिक राष्ट्र के निर्माण के अनुरूप धर्मनिरपेक्षता की व्याख्या करने और उसे भारतीय परस्थितियों के अनुरूप ढालने में नेहरूजी की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण रही।[14]

गाँधीजी प्रत्येक मनुष्य के भीतर धर्म की भावना जगाकर उसकी पीड़ाएँ दूर करना चाहते थे। उन्होंने बार–बार इसी बात पर बल दिया कि मनुष्य का जन्म धर्म की साधना के लिए होता है और स्वयं अपने जीवन का उद्देश्य भी वे धर्म की ही उपासना मानते थे। ''मेरा उद्देश्य धार्मिक है, किन्तु मानवता से एकाकार हुए बिना मैं धर्म पालन का मार्ग नहीं देखता। इसी कार्य के लिए मैंने राजनीति का क्षेत्र चुना है, क्योंकि इस क्षेत्र में मनुष्यों से एकाकार होने की संम्भावना है। मनुष्य की सारी चेष्टाऐं, उसकी सारी प्रवृत्तियाँ एक हैं। समाज और राजनीति से धर्म

अलग रखा जावे, यह संभव नहीं है। मनुष्य में जो क्रियाशीलता है, वही उसका धर्म भी है। जो धर्म मनुष्य के दैनिक कार्यों से अलग होता है, उससे मेरा परिचय नहीं है।'' जीवन और समाज के धार्मिक तथा धर्मनिरपेक्ष तत्वों के बीच बहुत दिनों से विभाजक रेखा चली आ रही थी। गाँधीजी ने इस रेखा को मिटा दिया। उन्होंने अपने आचरण से सिद्ध कर दिया कि धर्म किसी खास दिन, किसी लग्न विशेष का कृत्य नहीं है, प्रत्युत वह मनुष्य के प्रत्येक कार्य में विद्यमान रह सकता है। यहाँ तक कि राजनीति भी धर्म की अभिव्यक्ति का उपयुक्त माध्यम हो सकती हैं।[15]

मेरी दृष्टि में राजनीति धर्म से भिन्न नहीं हो सकती, राजनीति को सदैव धर्म की अधीनता में चलना चाहिए। धर्महीन राजनीति मृत्यु पाश के समान है, क्योंकि उससे आत्मा का हनन होता है।[16]

यूरोप में चर्च के रूप में धर्म का जैसा संगठित स्वरूप रहा है वैसा हमारे यहाँ नहीं रहा, लेकिन हमारे देश में किसी मायने में धर्म की जड़ें अधिक गहरी हैं क्योंकि वे गाँव–गाँव, घर–घर में फैली हुई हैं। पाश्चात्य देशों में धर्म के संगठित स्वरूप के विरुद्ध लड़ना आसान था, क्योंकि वहाँ आप जानते थे कि आपको किससे लड़ना है। यहाँ आप किससे और कैसे लड़ेंगे? उस गरीब असहाय आदमी से जो हर तरफ से निराश होकर धर्म और ईश्वर की शरण में जाता है? हम लोग मार्क्स के इस कथन को तो बहुत उद्धृत करते हैं कि धर्म जनता के लिए अफीम है, लेकिन इस वाक्य से ठीक पहले मार्क्स ने जो कहा था उसे भूल जाते हैं। उन्होंने कहा था कि धर्म अत्यन्त कठिन जीवन जीने वालों के लिए सुकून की साँस है, ह्रदयहीन संसार में अत्यन्त कठिन जीवन जीने वाले लोगों को जब तक कोई दूसरा सहारा नहीं मिलता वे धर्म में ही अपना सहारा खोजेंगे। भारत के जो धर्मग्रंथ हैं–रामायण, महाभारत, गीता, कुरान, गुरूग्रंथ साहिब, बाइबिल आदि वे ही यहाँ जनता के सांस्कृतिक ग्रन्थ भी हैं। आज धार्मिक कट्टरता बढने के कारण इन्हें हिन्दू, मुसलमान, सिख, इसाईयों के धर्मग्रन्थ माना जाता है मगर वास्तव में ये ग्रन्थ भारत की जनता की साझी सांस्कृतिक विरासत हैं। गाँधीजी तो सांप्रदायिक व्यक्ति नहीं थे, लेकिन वे जो सांस्कृतिक प्रतीक काम में लाये, वे इन्हीं ग्रन्थों से लिए गए थे। उन्हें तो इस देश की जनता ने कभी भी गलत नहीं समझा। विवेकानन्द ने कहा था कि धर्म को समझे बिना भारत में कुछ नहीं किया जा

सकता। समझने से तात्पर्य यह नहीं था कि धर्म में या धर्म के नाम पर जो कुछ है, उसे आँखें मूंदकर मान लो। उन्होंने धर्म के प्रतिगामी तत्वों की हमेशा तीखी आलोचना की और उसके प्रगतिशील तत्वों को उभारकर जनता के सामने रखा।[17]

भारतीय दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्षता को धर्म या चर्च से पृथक या विलोम नहीं मानता।[18]

धर्मनिरपेक्षता का अर्थ अधर्म अथवा नास्तिकता अथवा भौतिक सुविधाओं पर जोर देना नहीं है। भारतीय विचाराधारा आध्यात्मिक मूल्यों की शाश्वतता पर बल देती है, जिन्हें विभिन्न मार्गों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। मोटे तौर पर धर्मनिरपेक्ष समाज वह है जिसमें धर्म विशेषतः संगठित धर्म को सामाजिक कार्यों के सार्वजनिक क्षेत्रों से पूरी तरह विमुक्त कर दिया गया है तथा उसे व्यक्तिगत विश्वास और निजी निष्ठा के क्षेत्र में भेज दिया गया है।[19]

सेक्यूलर शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के सेकुलम शब्द से हुई है, जिसका मौलिक अर्थ 'युग' अथवा 'पीढ़ी' है, किन्तु लैटिन भाषा में इसका अर्थ 'लौकिक जगत' हो गया। सामान्यतया 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द का अर्थ इस संसार से अथवा वर्तमान जीवन के संदर्भ में अथवा धर्म तथा धार्मिक शिक्षाओं से विलग होना लिया जाता है। 'धर्मनिरपेक्षता' के समकक्ष अनेक शब्द असम्प्रदायवाद, धर्मनिरपेक्षता, सवधर्मसमभाव, पंथ निरपेक्षता, इहलौकिकवाद, लौकिकतावाद या लोकवाद आदि हैं। असम्प्रदायवाद सम्प्रदायों से दूर रहने वाली पंथ निरपेक्षता विभिन्न धार्मिक पंथों या मार्गों से अपने को पृथक मानकर चलने वाली तथा धर्मनिरपेक्षता किसी भी धर्म के साथ पक्षपात नहीं करने वाली विचारधारा है, किन्तु यह तीनों व्यापक सर्वोच्च, उच्च या शुद्ध धर्म को अपनाने का मार्ग खुला छोड़ देते हैं। सर्व–धर्म–समभाव में सभी धर्मों के प्रति चाहे वे व्यापक, संकुचित, छोटे–बड़े, अल्पसंख्य–बहुसंख्य, सहिष्णु अथवा असहिष्णु हों, समान भाव देखते हैं। सांसारिक या मानवीय दृष्टि से इसी लोक के संदर्भ में कार्य करने वाली विचारधारा को 'लौकिकतावाद', 'लोकवाद' आदि कहा गया है। 'इहलौकिकतावाद' इसी संसार और जीवन तक अपने को सीमित रखता है।[20]

राज्य के संदर्भ में भी धर्मनिरपेक्षता के अनेक रंग, रूप और प्रकार हैं, किन्तु इनको एक दूसरे के पर्याय नहीं मान सकते। धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ यह है कि इस संसद को भारत के लोगों पर किसी विशिष्ट धर्म को आरोपित करने का अधिकार नहीं होगा, केवल इसी सीमा को संविधान स्वीकार करता है।[21]

धर्मनिरपेक्षता के दृष्टिकोण की सकारात्मक एवं निषेधात्मक दृष्टिकोण से व्याख्या की गई है। नेहरू ने धर्मनिरपेक्ष राज्य उसे कहा है जिसमें प्रत्येक समूह तथा प्रत्येक व्यक्ति सांस्कृतिक दृष्टि से अथवा धर्म के मामलों में अपने ढंग से कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता रखता है। धर्मनिरपेक्ष राज्य न तो ईश्वरविहीन राज्य है, न ही अधार्मिक और न ही धर्म विरोधी राज्य हैं। संविधान ने धर्मनिरपेक्षता की विषय सामग्री तथा क्षेत्र का वर्णन नहीं किया है।[22]

धर्मनिरपेक्षता संबंधी विचारधारा तथा उस पर आधारित राज्य का विकास पश्चिम एवं भारतवर्ष में अलग–अलग प्रकार से हुआ है।

पश्चिमी धर्मनिरपेक्षता, धर्मनिरपेक्ष तथा इहलौकिक थी। किन्तु ईसाईयत का उदय होने के तीन सौ वर्षों के भीतर यूरोप के सारे राज्य धीरे–धीरे पवित्र रोम साम्राज्य के अंग बन गये और धर्म के प्रत्यक्ष प्रभाव के अन्तर्गत आ आये। स्वयं चर्च एक विशाल सार्वभौमिक राज्य में रूपान्तरित हो गयी। ईसाईयत भी कई रूपों, सम्प्रदायों तथा दार्शनिक विचारधाराओं में विभाजित हो गयी। इन विभिन्नताओं के कारण ही बाद में रक्त रंजित संघर्षों को रोकने के लिए सहिष्णुता की नीति अपनायी गयी और उसके पश्चात् धर्मनिरपेक्ष राज्य का शनैः–शनैः विकास हुआ।[23]

एक विचारधारात्मक आन्दोलन के रूप में पाश्चात्य धर्मनिरपेक्षतावाद, उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में इग्लैण्ड में प्रारम्भ हुआ। उस समय वह धर्मविरोधी न होकर एक प्रतिरोध आन्दोलन था। मानव विवेक में विश्वास, नैतिकता की स्वशासी आचार संहिता तथा राज्य के मामलों में धर्म की पृथकता ये तीन पश्चिमी धर्मनिरपेक्षतावादी विचारधारा की विशेषताऐं धर्मनिरपेक्षता जीवन के एक विकल्पात्मक सिद्धान्त के रूप में भौतिकवादी तथा बुद्धिवादी आचार व्यवस्था को प्रस्तुत करती हैं। यह उन लोगों की विचारधारा है जो जिन्दगी और जीने के आधार के रूप में धर्म को अस्वीकार करते हैं, लेकिन यह दूसरा धर्म नहीं है।

धर्मनिरपेक्षवाद किसी देवता या पारलौकिक जगत का संदर्भ दिये बिना जीवन और आचरण का सिद्धान्त प्रस्तावित करता है। जी.एच.होलियोक (धर्मनिरपेक्षतावाद का जनक) की मान्यता है कि जो कुछ मानवता के लिए सर्वोत्तम है, उसे मानवता के निर्माता की स्वीकृति भी अवश्य मिलेगी। मानवता के लिए सर्वोत्तम का निर्धारण मानवीय विवेक से किया जायेगा तथा उसकी इस जीवन में तथा इस जीवन के अनुभव द्वारा जाँच की जायेगी। सत्य तक पहुँचने का सर्वोत्तम मार्ग मानव विवेक में पूर्ण आस्था रखने पर ही संभव है। केवल वही नैतिक सिद्धान्त प्रामाणिक माने जा सकते हैं जो मानव विवेक तथा प्रबुद्ध व्यक्ति की अन्तरात्मा को प्रभावित करते हों। धर्मनिरपेक्षता धर्म तथा नास्तिकता का कोई विकल्प नहीं बनना चाहती। उसका लक्ष्य किसी भी धर्म से प्रत्यक्ष संघर्ष करना नहीं है। उसकी प्रवृत्ति संशयवादी है, न तो धर्म के सत्य को अथवा ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना और न ही उसका निषेध करना।[24]

भारत में धर्मनिरपेक्षतावाद की पृष्ठभूमि का निर्माण अपने ढंग से हुआ है। धर्म की व्यापक धारणा से विरोध करने के बजाय इस धारणा ने स्वयं को व्यक्ति और संस्थाओं को शाश्वत एवं सार्वभौमिक आध्यात्मिक तत्वों से जोड़ा, सभी व्यक्तियों के अन्तःकरण, विश्वास और आस्था की स्वाधीनता को स्वीकार किया तथा धर्मों को समान आदर प्रदान करते हुए उसने किसी धर्म विशेष को थोपने का प्रयास नहीं किया। इससे भारत में धार्मिक सहिष्णुता की यह परम्परा स्थायी बनकर जीवित रही। भारत में धार्मिक सहिष्णुता की भावना का प्रमाण यह तथ्य भी है कि भारत में बहुत पहले से अल्पसंख्यक यहूदी, सीरियाई, मुसलमान और पारसी रहते आये हैं। हिन्दू धर्म ने इसी प्राचीन परम्परा को ही अपनाया है।

धर्मनिरपेक्षता धर्म, नास्तिकता आदि का विकल्प बनने का दावा नहीं है, न ही अपने को स्वयं एक नया धर्म बनाने का। इसके अनुसार मानवीय विवेक, अन्तःकरण तथा उपयोगिता नैतिकता का आधार है। धर्मनिरपेक्षता की भावना राज्य और राजनीति को धर्म से पृथक् रखना है। ऐसा धर्म चाहे व्यापक हो या सीमित या संकुचित, चर्च राज्य पृथकता अनिवार्य है। सामूहिक और सार्वजनिक कार्यों का आधार विवेक, विचार विनिमय, सहयोग, लोक कल्याण पर आधारित होता है। धर्मनिरपेक्षता के लिए लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था, जिसमें स्वतंत्र एवं निष्पक्ष निर्वाचन

के द्वारा शासकों को सावधि नियुक्त किया जाये, उपयोगी होती है। सभी नागरिकों को भेदभाव के बिना मूलभूत अधिकार प्रदान किये जाने चाहिए, जिसमें विशेषतः अन्तःकरण, विश्वास, पूजा और उपासना की स्वतंत्रता की गारन्टी दी गई हो। विशेषतौर पर धार्मिक अल्पसंख्यकों को धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की जाये।

विशुद्ध धर्मनिपेक्षता धर्म का न तो समर्थन करती है और न ही विरोध। धर्म के प्रति उसकी दृष्टि निष्पक्ष, निरपेक्षता, समभाव और अभेदपूर्ण ही रहती है। किन्तु वह सभी धर्मों को राज्य, संविधान, नैतिकता तथा विधि की सीमाओं के भीतर कार्य करने की अनुमति देती है। धर्मनिरपेक्षता ही मानव की आर्थिक एवं भौतिक प्रगति का द्वार प्रशस्त करती है। उसका लोक कल्याण, समाजवाद, मार्क्सीय नियोजन, उदारवाद आदि विचारधाराओं से निकट सम्बन्ध है। वह आार्थिक समानता, उत्पादन में वृद्धि, शिक्षा एवं विज्ञान के प्रसार, नागरिक भाव, राष्ट्रीयता आदि कार्यों में अधिक रूचि लेते हुई दिखायी पड़ती है। धर्मनिपेक्षता का मानवतावाद से घनिष्ठ सम्बन्ध देखने को मिलता है। उसकी विभिन्न प्रकार के समुदायों समूहों, राष्ट्रीयताओं को स्वायत्तता प्रदान कराने में अभिरूचि है तथा पराधीन देशों के लिए राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का समर्थन करती है। उग्र राष्ट्रवाद, युद्ध, हिंसा, विनाशकारी शस्त्रों के निर्माण आदि की विरोधी है।

धर्मनिरपेक्षता का लक्ष्य विश्वबन्धुत्व एवं मानवता की संस्थापना है, जिसे विश्व संघ और विश्व सरकार के गठन द्वारा किया जाना संभव है। नेहरू जैसे नेता इसी कारण विश्वशान्ति, गुटनिरपेक्षता, निःशस्त्रीकरण तथा पंचशील के समर्थक रहे हैं। भारतीय धर्मनिरपेक्षता धर्मों के प्रति समभाव और तटस्थता की पक्षपाती है, साथ ही वह व्यापक या शाश्वत धर्म के साथ अविरोध देखती है। उसका अपना एक लम्बा इतिहास एवं परम्परा है, जिसका मूलाधार सहिष्णु राज्य है जो राजकीय मामलों में धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं करता।

धर्म और धर्मनिरपेक्षता अपने आप में अमूर्त क्षेत्र होते हैं। धर्म के पास अध्यात्म, बह्म अथवा सत्य की सर्वोपरिता व्यापकता अथवा नियंत्रण की स्थापना के साथ–साथ न्यून या अधिक मात्रा में लौकिकता का क्षेत्र भी होता है। जब तक मानव ब्रह्म अथवा आत्म साक्षात्कार करके मुक्त नहीं हो जाता, वह उसे इस संसार

में धार्मिक तथा नैतिक जीवन जीने का संदेश देता है तथा उसे उसी भाव से राज्य, समाज, परिवार तथा अर्थव्यवस्थाओं को अपनाने की व्यवस्था कराता है। ये सभी व्यवस्थाऐं धर्म के अन्तर्गत होते हुए भी लौकिक होती हैं।

लोकतंत्र, समाजवाद अथवा मार्क्सवादी व्यवस्था में धर्मनिरपेक्षता की लौकिकता स्वतः सिद्ध है। वह इसी संसार की व्यवस्थाओं को मानवीय विवेक तथा मार्क्सवाद जैसी विचारधारा अर्थात् आर्थिक शक्तियों को ही सर्वोपरिता देना चाहती है। दोनों लौकिकताओं की मूल इकाई व्यक्ति है। धर्म के क्षेत्र में वह स्वतंत्र सर्वोपरि तथा स्वयं साध्य न होकर किसी अधिक उच्चतर सत्ता, शक्ति या तत्व का अंश है या उसके अधीन है। उसी को प्राप्त करने में उसी की पूर्णता, साधना या मुक्ति है। धर्मनिरपेक्षवादी विचारधारा समाज को नैतिकता, मानवीय मनोविज्ञान तथा आवश्यताओं के प्रकाश में वैयक्तिक तथा सामूहिक प्रयत्नों द्वारा परिवर्तित करना चाहती है। उसका लक्ष्य आवश्यक अधिकारों से व्यक्ति को सम्पन्न करके उसे अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान करना है ताकि वह शिक्षित–दीक्षित होकर तथा सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक अवरोधों से ऊपर उठकर एक श्रेष्ठ जीवन बिता सके तथा अपने स्वयं के सर्वोत्तम को प्राप्त कर सके।

धर्मनिरपेक्षता धर्म या आध्यात्मिकता को अपनाने का निषेध नहीं करती और धर्म की तरह लौकिकता के क्षेत्र में धर्म के सिद्धान्तों को सत्य या असत्य माने बिना, अपने ढंग से कार्य करती है। धर्म भी धर्मनिरपेक्षता के क्षेत्र में कार्य कर सकता है।[25]

भारत में प्रत्येक युग में धर्मनिरपेक्षता अपने विभिन्न स्वरूपों में दृष्टिगोचर होती है। कभी धर्म आधारित कभी धर्म सापेक्ष तो कभी धर्म निरपेक्ष। अपने शुद्धरूप में हिन्दू धर्म संकुचित न होकर चिन्तन के एक प्रकार के बजाय जीवन का मार्ग अधिक है। वह सदैव आध्यात्मिक बना रहा तथा कतिपय धार्मिक विचारों में विश्वास करता रहा। हिन्दू राज्य कभी भी धर्मतंत्र नहीं बने। प्राचीन हिन्दू राज्य धर्मनिरपेक्ष थे तथा वे कभी भी धर्म तन्त्र नहीं बने थे। धर्म तंत्र का उदय उस समय होता है जबकि राजा अनाधिकारपूर्वक चर्च के कार्य को करने लग जाता है

अथवा चर्च के एजेन्ट की भूमिका करने लग जाता है अथवा स्वयं चर्च का मुखिया व राजा बन जाता है।[26] भारत में कभी धर्म ने राजनीति को नियंत्रित नहीं किया।

मध्यकाल में भारत के काफी बड़े भाग में तथा काफी लम्बे समय तक मुसलमानों का राज्य रहा, जिनका उद्देश्य इस्लाम की स्थापना थी। इस दृष्टि से मध्यकाल प्राचीन भारतीय अर्थों में अथवा आधुनिक पश्चिमी अर्थों में धर्मनिरपेक्ष नहीं कहा जा सकता।[27]

आधुनिक समय में धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण के विकास में दो धाराओं का प्रमुख योगदान है : ब्रिटिश राज एवं स्वतंत्रता आन्दोलन।[28]

भारत में ब्रिटिश सरकार ने विशेषतः 1857 की सैन्य क्रान्ति के बाद अपनी प्रजा के धार्मिक विश्वासों तथा पूजा आदि में हस्तक्षेप करने से अपने आपको दूर रखा तथा उसने धार्मिक विश्वासों से संबंधित विभिन्न भारतीय समुदायों के रीति रिवाजों में भी हस्तक्षेप नहीं किया। महारानी विक्टोरिया ने अपने अध्यादेश में कहा कि – और हमारी इच्छा है कि जहाँ तक हो सके हमारी प्रजा चाहे वह किसी भी जाति या धर्म की हो, हमारी सेवाओं में पदों पर बिना पक्षपात के मुक्त रूप से नियुक्त किये जायें। प्रारम्भ में ब्रिटिश शासकों ने धार्मिक मामलों में तटस्थता अथवा अहस्तक्षेप की नीति को अपनाया किन्तु इसका धर्म यह नहीं है कि उन्होंने भारतीय समाज में विद्यमान धार्मिक मतभेदों तथा प्रतिरोधों का उपयोग नहीं किया। उन्होंने हिन्दू–मुसलमानों को अपने साम्राज्यवादी हितों के लिए लड़ाया तथा उनमें पृथकतावाद को पृथक निर्वाचन प्रणाली, भारित मतदान प्रणाली आदि के माध्यम से गहराया जिसका परिणाम अन्ततोगत्वा विभाजन के रूप में हुआ।[29]

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान धर्मनिरपेक्षतावाद के उत्थान एवं विकास में अनेक उतार–चढ़ाव देखने को मिले। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का **उदारवादी काल (1885–1905)** में आंदोलन पूरी तरह धर्मनिरपेक्ष था। इस युग के नेता पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित थे तथा विचारों से उदारवादी थे। ये धर्म को राजनीति से पूर्णतः पृथक मानते थे। किन्तु **उग्रवादी युग (1906–1920)** में राष्ट्रीय आंदोलन धर्म आधारित था। इस युग के नेता भारतीय धर्म, आध्यात्मिकता, सभ्यता और संस्कृति के गौरव से अभिभूत थे, इन्होंने विदेशी शासन को समाप्त करने के लक्ष्य में

हिन्दुत्व को साधन बनाया। दयानन्द ने आर्यत्व, विवेकानन्द ने हिन्दूधर्म, अरविन्द ने सनातन धर्म को राष्ट्रवाद का आधार बनाया।

ब्रिटिश शासक पहले से ही हिन्दुओं और मुसलमानों के मतभेदों को उकसा रहे थे, जिसके फलस्वरुप सर सैयद अहमद खाँ जैसे व्यक्तियों ने अलीगढ़ को पृथकतावाद का केन्द्र बना दिया। सन् 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई, जिसका लक्ष्य मुस्लिम हितों की रक्षा तथा ब्रिटिश साम्राज्य के साथ सहयोग करना था। 1907 में हिन्दू महासभा की स्थापना प्रतिक्रिया स्वरूप हुई। 1916 का लखनऊ समझौता धर्माधारित राष्ट्रीयता तथा प्रतिगामी धार्मिक कट्टरता के मध्य अनमेल विवाह था। मोहम्मद अली जिन्ना ने जो प्रारम्भ में धार्मिक राजनीति से दूर रहे, अन्त में शुद्ध धर्मनिरपेक्ष राजनीति के स्थान पर कट्टरतापूर्ण साम्प्रदायिक राजनीतिको अपना लिया और अन्त में धर्म (साम्प्रदायिकता) के आधार पर भारत का बंटवारा करके पाकिस्तान की स्थापना करने में सफल हो गये। **गाँधी युग (1920–1947)** में गाँधीजी ने धर्म की व्यापक धारणा को केन्द्र बनाकर देश का नेतृत्व किया और वे उसे स्वाधीन कराने में सफल हुए। किन्तु उनके धर्म को शाश्वत या मानव धर्म मानने के बजाय उसे संकुचित एवं साम्प्रदायिक बताकर मुस्लिम धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के बहाने देश का विभाजन करा दिया गया। गाँधीजी ने सर्वधर्म समभाव (महदधर्म निरपेक्षता) को अपनाया और वे एक सीमा तक सफल भी हुए।[30]

भारत को धर्मनिरपेक्षता से जोडना लगभग विरोधाभास सा प्रतीत होता है क्योंकि लोकप्रिय धारणाओं व विद्वतापूर्ण अनुसंधानों द्वारा भारतीय ऐतिहासिक सभ्यता के धार्मिक अभिमुखीकरण पर बल दिया गया है। इस सभ्यता की प्रत्यक्षतः एक ऐसे दृष्टिकोण की ओर प्रवृत्ति है जो प्रबल रूप में धार्मिक है। अतः भारत सरकार की एक धर्मनिरपेक्ष राज्य के निर्माण से प्रतिबद्धता को अनिवार्यतः उसकी सम्पूर्ण आधुनिकीकरणसे प्रतिबद्धता के महत्वपूर्ण संदर्भ में देखा जाना चाहिए। भारतीय नेताओं की विचारधाराओं में धर्म निरपेक्ष राज्य का अभिप्राय धर्म विरोधी राज्य से नहीं है। उसकी सीधा सा अर्थ धार्मिक कार्यों को राज्य के कार्य क्षेत्र से अलग करना है।

भारतीय दृष्टि में सिद्धान्ततः धर्मनिरपेक्षता राज्य व चर्च के पृथक्करण की पश्चिमी धारणा की समानुपाती है और वह भी फ्रांसीसी परम्पराओं से अधिक अमेरिकी परम्पराओं के अनुकूल है। राज्य कानूनी या संवैधानिक दृष्टि से किसी विशिष्ट धर्म के साथ जुड़ा हुआ नहीं है। नागरिकता के अधिकार व कर्तव्य भी किसी तरह से व्यक्तिगत धर्म पर आधारित नहीं हैं और व्यक्ति को राज्य द्वारा किसी प्रकार के हस्तक्षेप के बिना अपने धर्म का पालन व प्रयोग करने की पूर्ण स्वतंत्रता है।[31]

इस पश्चिमी विचार को हिन्दू प्रधान एशियाई समाज में व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने में कठिनाईयाँ उत्पन्न हुई हैं। जिस प्रकार के धार्मिक विचारों व मान्यताओं का भारत में इस समय प्रचलन है, उस स्थिति में उसे आधुनिकीकरण के अपने प्रयासों की दिशा में किसी सीमा तक जाति की सामाजिक व्यवस्था पर प्रहार करना चाहिए? किस तरह सरकार समान सामाजिक कानून का निर्माण कर धर्मनिरपेक्षता की अपनी आकांक्षा को पूरा कर सकती है, जबकि हिन्दू और मुसलमानों के अपने–अपने धर्म–ग्रन्थों पर आधारित पृथक विवाह नियम हैं और दोनों में किसी प्रकार का सामंजस्य नहीं है? एक प्रजातान्त्रिक स्वतंत्र व्यवस्था में राजनीतिक व्यवहार के अन्तर्गत धार्मिक व साम्प्रदायिक निष्ठा को सरकार किस तरह कम कर सकती है, विशेषतः तब जबकि ये निष्ठाऐं परम्परागत समाज के यथार्थ का प्रतिनिधित्व करती हों? ये सभी समस्याऐं व अनेक समस्याऐं एक धर्म प्रधान समाज में प्रजातांत्रिक विधि से धर्मनिरपेक्षता के क्रियान्वयन में बाधाऐं उत्पन्न करती हैं।

नेहरू धर्म निरपेक्षता के महान समर्थक व हिन्दू साम्प्रदायिकता के घोर विरोधी थे। नेहरू के प्रयासों का परिणाम रहा कि भारत में ऐसे समय में धर्मनिरपेक्षता को स्थापित किया गया जब कि अन्य पड़ौसी राज्यों में विभिन्न धार्मिक मूल्यों का व्यापक आधार पर प्रयोग हो रहा था। उन्होंने भारत की धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता की उस परम्परा का निर्वाह किया जो 1885 में आरम्भ हुई थी। हिन्दू उग्रवादियों के अल्प समय को छोड़कर राष्ट्रीय कांग्रेस सदा ही धर्म निरपेक्ष तथा असम्प्रदायिक सिद्धान्तों में विश्वास करने वाली संस्था थी। 1937 में ही कांग्रेस ने मूल अधिकारों से संबंधित एक ऐसा प्रस्ताव स्वीकार किया था,

जिसको भारत के भावी संविधान में स्थान दिया जाना था। इन अंगीकृत सिद्धान्तों में से एक सिद्धान्त यह था कि राज्य सभी धर्मों के संबंध में तटस्थता का व्यवहार करेगा। यह वास्तव में ईसाई शासन व हिन्दू मुस्लिम प्रजा के बीच संघर्ष को रोकने की ब्रिटिश सरकार की लम्बी स्थापित नीति थी। 1940 में जबकि मुस्लिम लीग ने अलग मुस्लिम राज्य व भारत के विभाजन की मांग की थी, कांग्रेस के अध्यक्ष इस्लाम के एक प्रमुख विद्वान मौलाना अबुल कलाम आजाद थे। धर्मनिरपेक्षता का विचार उस समय स्वतंत्रता के साथ ही यकायक नहीं उत्पन्न हो गया था।

धर्मनिरपेक्षता के आदर्श को अंगीकृत करने में हिन्दू धर्म की प्रवृत्ति भी सहायक रही है। हिन्दूवाद में उस धार्मिक संगठन व केन्द्रीय सत्ता का अभाव है जो एक धर्मनिरपेक्ष राज्य को व्यवस्थित धर्म सापेक्ष सत्ता द्वारा चुनौती देने के लिए आवश्यक होता है। किसी भी विशेष हिन्दू समूह का स्वतंत्रता के बाद की राजनीति पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं रहा है। अल्पसंख्यक धर्मनिरपेक्ष राज्य के स्वाभाविक अभिरक्षक हैं। भारत का मूल संविधान एक ऐसा आधारभूत कानून है, जिसमें इस शब्द का बिना प्रयोग किए ही धर्मनिरपेक्ष राज्य के ढाँचे को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है।

भारत में कार्यशील आधुनिकीकरण से सम्बन्धित समस्त शक्ति का अन्तिम गंतव्य एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है। औद्योगीकरण, शहरीकरण, संयुक्त परिवार का विघटन, शिक्षा का प्रसार, उच्च शिक्षा के अवसर आदि सभी शक्तियों ने व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन में सामान्य धर्मनिरपेक्षीकरण को बढाया है। धर्म के प्रति उदासीन रहने के समकालीन पश्चिमी दृष्टिकोण का भारतीय समाज के कुछ भागों पर बहुत प्रभाव पड़ चुका है और यह एक अनवरत प्रक्रिया है। व्यक्ति की दृष्टि से यह अच्छी हो या बुरी पर यह प्रक्रिया धर्मनिरपेक्ष राज्य को शक्ति प्रदान करने वाली प्रवृत्ति अवश्य है।[32]

सिद्धान्ततः धर्म निरपेक्षता धर्मेत्तर, धर्म विरोधी व संशयवादी हो सकती है, लेकिन भारतीय धर्मनिरपेक्षता ऐसी नकारात्मक दृष्टि को स्वीकार नहीं करती। वह धर्म की आवश्यकता और उसके अस्तित्व को मान्यता देती है यद्यपि धर्म को राज्य

व उसकी सामाजिक आर्थिक गतिविधियों से पृथक करने का उसका एक सुविचारित प्रयास भी होता है। यह भारतीय धर्मनिरपेक्षता का एक सुविचारित प्रयास भी होता है। यह भारतीय धर्मनिरपेक्षता का एक सकारात्मक पक्ष है। भारत में धर्मनिरपेक्षता धर्म की समस्या के प्रति नकारात्मक, यहाँ तक कि निष्क्रिय दृष्टि भी नहीं अपनाती। निःसंदेह यह धर्म को श्रद्धा की दृष्टि से देखती है लेकिन साथ ही यह धर्म को उचित सीमा में कार्यशील रखने के लिए भी कृतसंकल्प है। इसका यह आग्रह है कि धर्म इन सामाजिक आर्थिक समस्याओं की सीमा तक न पहुँचे जिनका आधुनिक समाज को सामना कम करना होता है और वह अनिवार्यतः नागारिकों के सामाजिक आर्थिक व्यवहारों के निर्धारण का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रयास न करे। जब तक धर्मनिरपेक्षता धार्मिक रूप से इसके प्रति तटस्थ रहती है।

धर्मनिरपेक्षता किसी नागरिक के धर्म और प्रार्थना में उसके विश्वास को उसके अपने धार्मिक मत के अनुसार नागरिक ईश्वर के बीच का विषय मानती है, क्योंकि व्यक्ति के धर्म से राज्य सम्बन्धित नहीं है, इसीलिए वह सभी पूजास्थलों के प्रति समान सहिष्णुता से व्यवहार करता है चाहे वे चर्च, मंदिर, गुरूद्वारा व मस्जिद कुछ भी हों लेकिन उनके प्रति उसकी कोई सक्रिय रूचि नहीं होती। यह भारतीय धर्मनिरपेक्षता का एक अन्य पक्ष है।[33]

भारतीय संविधान के अन्तर्गत धर्मनिरपेक्षता एक तर्कबुद्धिपरक वैज्ञानिक दृष्टि पर आधारित है। यह विवेक की पूजा में विश्वास करती है, उस पर आधारित निष्कर्षों को अनुभव की कसौटी पर कसती है और आवश्यतानुसार इनमें परिवर्तन करती है। इसको अपने निष्कर्षों को संशोधित करने में कोई भय प्रतीत नहीं होता क्योंकि अनुभव पर आधारित संशोधनवाद जीवन का परिचायक है और इसमें जीवन के प्रगतिशील दृष्टि का पता चलता है। धर्मनिरपेक्षता पूर्ण निरपेक्ष सिद्धान्तों में विश्वास नहीं करती, इसकी दृष्टि मतान्ध नहीं है और यह कथित धर्म सिद्धान्तों अथवा अंधविश्वासों को मान्यता नहीं देती। वास्तव में इसकी दृष्टि आनुभाविक व परिणामवादी है और इसका लक्ष्य भारत में एक ऐसे एकरूप समुदाय का निर्माण करना है जो इस देश के प्रति निष्ठावान हो जिसके नागरिक भारत की एकता व अखण्डता के आदर्श के प्रति समर्पित हो और जो सामाजिक आर्थिक न्याय उपलब्ध कराने के राष्ट्रीय लक्ष्य की दिशा में अपना योगदान दें। इस प्रकार

धर्मनिरपेक्षता एक समग्र व्यापक एवं गतिशील विचार है। इसका मात्र राजनीतिक स्वरूप ही नहीं है। अपने सार रूप में यह नैतिक है और इसके नैतिक तत्वों से अनिवार्यतः समस्त नागरिकों को प्रेरित होना चाहिए।

धर्मनिरपेक्षता को नैतिक अर्थ में समझने पर अंततः सामाजिक न्याय की प्राप्ति होगी। जब धर्मनिरपेक्षता भूख, गरीबी, अज्ञानता, बीमारी अथवा गंदगी की समस्या का सामना करती है और उनको सक्रिय जन अन्तरात्मा की सहायता से वैधानिक साधनों से जीतना चाहती है तब उस स्थिति में इसका धर्म अथवा भाषा सम्बन्धी प्रश्नों से कोई सरोकार नहीं होता ओर यह उनकी चुनौती को अपने सार्वभौमिक धरातल पर झेलती है। धर्मनिरपेक्षता को अनिवार्यतः देश के समस्त भागों के सामान्य नागरिकों तक पहुँचना चाहिए ताकि उसके सम्पूर्ण महत्व सम्बन्धी ज्ञान पर आधारित भ्रातृत्व भावना का जन्म हो सके। देश के विश्वविद्यालय भारतीय नागरिकों के लिए ऐसी भ्रातृत्व भावना विकसित करने में योगदान दें और धर्मनिरपेक्षता के प्रेरणास्पद निर्देशन में लोकतांत्रिक विधि से सामाजिक न्याय के पावन उद्देश्य को उपलब्ध कराने में सहायता दें।[34]

भारतीय नागरिक चाहे वे किसी भी धर्म, भाषा, रक्तवंश, संस्कृति या व्यवसाय या प्रदेश से सम्बन्ध रखते हों, धर्मनिरपेक्षता को व्यापक धर्म की धारणा के साथ सम्प्रदायवाद या सर्वधर्म समभाव के रूप में ग्रहण करना चाहते हैं। गाँधीजी ने भी अपने विचारों में व्यापक धर्म, सत्य, ईश्वर या नैतिकता को सर्वोपरि स्थान दिया है। गाँधीजी की विचारधारा धर्म, धर्मचारिता और धर्मनिरपेक्षता की त्रिवेणी है। धर्मनिरपेक्षतावाद के विचारों का आधुनिक स्रोत जवाहरलाल नेहरू तथा मानवेन्द्र राय को माना जाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व तथा पश्चात धर्मनिरपेक्ष विचारधारा के महानतम प्रतिपादक नेहरू ही रहे हैं। उन्होंने धर्मनिरपेक्ष राज्य के निर्माण को अपने जीवन की महत्वपूर्ण उपलब्धि माना।

नेहरू अज्ञेयवादी, बुद्धिवादी एवं यथार्थता में विश्वास करते थे, उनका किसी पारलौकिक सत्ता में विश्वास नहीं था। मानव के मूर्त ऐन्द्रिक अनुभव से परे वे किसी ईश्वर जैसी सत्ता को मानने के लिए तैयार नहीं थे। वे सृष्टि के रहस्यों के प्रति जिज्ञासु अवश्य थे, किन्तु उनके अनुसार ''मैं उसे ईश्वर नहीं कहता क्योंकि

ईश्वर का अर्थ वह है जिसे मैं नहीं मानता। किसी भी वैयक्तिक ईश्वर को मानना मुझे बेतुका लगता है।'' नेहरू आधुनिक विज्ञान से प्रभावित थे। गाँधी के अतिरिक्त वे अशोक, नेपोलियन, मार्क्स और लेनिन आदि से भी प्रभवित थे।[35]

नेहरू ऐसे ईश्वर की तलाश में थे, जो मानवतावादी लक्ष्य के अनुकूल हो, इसलिए उनका कहना था कि ईश्वर नहीं है तो भी हमें उसका आविष्कार करना पड़ेगा। लेकिन उस पर इतना निर्भर नहीं हो जाना चाहिए कि मनुष्य का आत्मविश्वास ही समाप्त हो जाये।[36]

नेहरू ईश्वर को सृजनात्मक जीवन देने वाली शक्ति भी कहते थे। इस तरह नेहरू की धर्म और ईश्वर के व्यापक स्वरूपों में आस्था थी। धर्म उनके लिए पूर्ण निष्ठा के साथ सत्य की खोज करना तथा मानव की सेवा करना था। अतएव उनकी धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्महीनता नहीं था। वे सभी धर्मों के प्रति समान आदरभाव और समान अवसरों की बात कहते थे। यही कारण है कि उन्होंने धर्मनिरपेक्षता को देश की एकता का आधार बनाया। वे एक महान मानवतावादी थे और उन्होंने समाज की मुख्य इकाई व्यक्ति को माना। अपनी इस धर्मनिरपेक्षतावादी विचारधारा के आधार पर ही उन्होंने भारतीय संविधान का निर्माण करवाया। अपने धर्मनिरपेक्षवाद के आधार पर वे भारत के लोगों को मौलिक अधिकार, लोकतांत्रिक व्यवस्था, सामाजिक व आर्थिक नियोजन, औद्योगीकरण, आधुनिक शिक्षा आदि दे सके। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नेहरू ने भारत के लिए धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद, पंचशील, शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व तथा सक्रिय गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की संस्थापना की।

गाँधी की चिता की राख को गंगा में प्रवाहित करने के बाद इलाहबाद में नेहरू ने कहा कि हमने बहुत मंहगे मूल्य पर अपना सबक सीखा है। क्या हमारे बीच कोई ऐसा है जो गाँधी की मृत्यु के बाद उनके मिशन को पूरा करने से इंकार करेगा? नेहरू ने कहा कि हिन्दुस्तानियों को एक होकर उस साम्प्रदायिकता के भयानक जहर के खिलाफ लड़ाई लड़नी है, जिसने हमारे युग के सबसे महान इंसान को हमसे छीन लिया है।[37]

7 दिसम्बर, 1947 के दिन रविवार को आर.एस.एस. ने दिल्ली के केन्द्र में स्थित रामलीला मैदान में एक विशाल जनसभा का आयोजन किया। इस जनसभा

में एम.एस.गोवलकर मुख्य वक्ता थे। हिन्दुस्तान टाइम्स के मुताबिक गोवलकर ने इस बात का खण्डन किया है कि आर.एस.एस. एक हिन्दू राष्ट्र की स्थापना करना चाहता है लेकिन जोर देकर कहा कि हम हिन्दू समाज को मजबूत बनाना चाहते हैं। इस आदर्श को आगे रखकर संघ अपनी राह पर आगे चलेगा और किसी भी सत्ता या व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अपनी राह नहीं बदलेगा।[38]

गोवलकर एक धर्मनिरपेक्ष राज्य के सख्त खिलाफ थे, जो धर्म के आधार पर सबसे बराबरी की नीति अपनाता। अपने सपनों के भारत के बारे में उन्होंने लिखा कि हिन्दुस्तान के गैर हिन्दू लोगों को हिन्दू संस्कृति और हिन्दू भाषा को अंगीकार कर लेना चाहिए। उन्हें हिन्दू धर्म की मान्यताओं और परम्पराओं को सीखना चाहिए और उसका आदर करना चाहिए, उन्हें हिन्दू जाति और हिन्दू संस्कृति के सिवा किसी भी विचार की तारीफ नहीं करनी चाहिए। एक शब्द में कहा जाये तो उन्हें अपना विदेशीपन छोड देना चाहिए या नहीं तो उन्हें हिन्दू राष्ट्र में एक दोयम दर्जे के नागरिक के रूप में रहने पर मजबूर होना पड़ेगा। उन्हें किसी भी तरह के दावे, किसी भी सुविधा या राज्य द्वारा विशेष दर्जा और यहाँ तक कि नागरिक अधिकारों से भी वंचित होना पडेगा।[39]

गाँधी जी के राजनीतिक दर्शन और राजनीतिक तकनीकें उनके धार्मिक नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं, लेकिन धर्म से उनका तात्पर्य हिन्दू धर्म नहीं है। धर्म से गाँधी का अर्थ सार्वभौमिक नैतिकता से है। वे ईश्वर में पूर्णतया विश्वास करते थे लेकिन उनका ईश्वर मानव रूपी व्यक्ति नहीं था। वे मानते थे कि ईश्वर एक जीवित शक्ति है और वही जीवित शक्ति उनको निर्देशित करती है कि उनको क्या करना चाहिए। गाँधी ने एक बार पोलाक को कहा था कि अधिकतर धार्मिक व्यक्ति जिनमें मैं मिला हूँ वे छद्मवेश में राजनीतिज्ञ हैं और मैं जो एक राजनीतिक व्यक्ति हूँ, वह वास्तव में एक धार्मिक व्यक्ति हूँ।

गाँधी के धर्म की परिभाषा और उसका आचरण उनके स्वयं के द्वारा निर्मित थे। उन्होंने धर्म को सम्प्रदाय या कर्मकाण्ड के रूप में परिभाषित नहीं किया। वे हिन्दू धर्म के सर्वाधिक प्रशंसक थे। उन्होंने कहा कि मैं जिस धर्म में पैदा हुआ हूँ, मेरी सभी इच्छाऐं और आंकाक्षाऐं उस धर्म के अन्तर्गत पूरी होती हैं। मुझे किसी

दूसरे धर्म की आवश्यकता नहीं है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि किसी दूसरे धर्म को सम्मान न दूँ। उनकी दृष्टि में सभी धर्म समान थे। वे सर्वधर्म समभाव के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे और मानते थे कि जो व्यक्ति जिस धर्म या सम्प्रदाय में विश्वास रखता है, उसके सिद्धान्तों का पालन करे और ऐसा करते हुए भी वह दूसरे धर्मों और सम्प्रदायों के प्रति सम्मान की भावना रख सकता है। एक सत्याग्रही राजनीतिज्ञ की तरह गाँधी ने धर्मों के नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को विवेक एवं सत्य के मापदण्ड पर कसने का प्रयास किया।

गाँधी ने सत्य और अहिंसा को अपने जीवन में सर्वाधिक महत्व दिया है और दोनों की व्याख्याऐं धार्मिक एवं दार्शनिक तरीके से की हैं। वे धर्म एवं दर्शन संबंधी बहुत सी अवधारणाओं पर अपने विचार व्यक्त करते हैं, जैसे ईश्वर, प्रार्थना, श्रद्धा, विश्व जीवन, जीवन का उद्देश्य, दया, दूसरे प्राणियों से संबंध, प्रकृति और मनुष्य के संबंध, समाज, आत्मा आदि। गाँधी मानते थे कि धर्म केवल जीवन के कुछ पहलुओं को ही प्रभावित नहीं करता अपितु वह जीवन जीने का एक तरीका है। इस जीवन से परे जो जीवन है, धर्म सिर्फ वहीं तक सीमित नहीं है, उसका कार्यक्षेत्र यथार्थ के जीवन में सामाजिक, राजनीतिक व अन्य सभी गतिविधियों की हिस्सेदारी में निहित है। वे मानते थे कि एक हिन्दू के रूप में वे अपनी समृद्ध परम्परा के हिस्सेदार हैं और सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखते हैं। गाँधी मनुष्य को मूलतया एक धार्मिक मनुष्य के रूप में परिभाषित करते हैं।[40]

गाँधी का दर्शन भारतय दार्शनिक परम्परा की निरन्तरता का दर्शन है जो हमें वेदों, उपनिषदों, गीता, जैन और बौद्ध धर्म में मिलता है। गाँधी के अनुसार धर्म वह है जो हमारे कर्तव्यों को परिभाषित करता है। अलग–अलग व्यक्तियों के अलग–अलग संदर्भों में अलग–अलग प्रकार के धर्म हो सकते हैं लेकिन सभी मनुष्यों का सबसे बडा धर्म अपने नैतिक धर्म का पालन करना है। गाँधी ने हिन्दू शास्त्रों में लिखी उन्हीं बातो को जो मानवता के मापदण्ड पर सही उतरती हैं, हिन्दू धर्म का प्रमुख तत्व माना है। ऐसा अध्यात्मवाद जो कर्म से परे हो उसे भी गाँधी ने स्वीकार नहीं किया। गाँधी नैतिकता और धर्म में किसी प्रकार का मूलभूत अन्तर नहीं मानते थे और सत्य को वे धर्म और नैतिकता का सबसे महत्वपूर्ण प्रतीक मानते थे। गाँधी विभिन्न धर्मों के मध्य निरन्तर वार्तालाप को एक अच्छे

समाज निर्माण के लिए आवश्यक मानते थे। प्रत्येक धर्म जीवन की गुणवत्ता को बनाये रखते के लिए नैतिक एवं सामाजिक सिद्धान्तों का प्रतिपादक होना चाहिए। धर्म के लिए आवश्यक है कि वह जीवन को बेहतर बनाने के लिए नियमों का भी कड़ाई से पालन करवाए। गाँधी के अनुसार धर्म वह है जो मानवों में मानव व प्रकृति के मध्य में एक भाईचारे की भावना बनाये रखने में सहायक हो।[41]

दिनांक 03.01.1977 से प्रभावी संविधान (42वें संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 2 द्वारा संविधान की प्रस्तावना में प्रतिस्थापित पंथ निरपेक्ष शब्द अंग्रेजी के सैकूलर शब्द के हिन्दी पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है। दिनांक 17 अक्टूबर, 1949 को संविधान सभा ने जब प्रस्तावना का पारायण प्रारम्भ किया तब भी इस सैकुलर शब्द को प्रस्तावना में अन्तर्विष्ट करने का प्रश्न उपस्थित हुआ था। बृजेश्वर प्रसाद ने संशोधन संख्या 313 के द्वारा अन्य शब्दों के साथ–साथ सैकुलर शब्द को भी प्रस्तावना में स्थान दिये जाने की मांग की थी। उनका तर्क यह था कि इस शब्द को प्रस्तावना में स्थान दिये जाने से अल्पसंख्यकों के मनोबल में वृद्धि होगी और राष्ट्रीय नेताओं द्वारा भी इस शब्द पर सैदव बल दिया जाता रहा है। मतदान में परास्त होकर यह संशोधन निरस्त हो गया।[42]

45वें संविधान संशोधन विधेयक जो कि अन्ततः 44वें संविधान संशोधन 1978 के रूप में पारित हुआ, के खण्ड 44 द्वारा, इस शब्द की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा गया था कि सैकुलर का अर्थ ऐसे गणतंत्र से है, जिसमें सभी धर्मों के लिए समान आदर हो। उक्त संशोधन विधेयक के इस अंश को राज्यसभा ने स्वीकार नहीं किया और फलतः यह शब्द अद्यावधि अपरिभाषित है। इस शब्द के द्वारा संविधान के मूल अधिकारों में सन्निविष्ट धर्म स्वातन्त्रय के अधिकार को मान्यता प्रदान की गई है।[43]

पंथ निरपेक्ष राज्य के जिस सर्वसम्मत अर्थ को विश्व में मान्य किया गया है, उसके अनुसार पंथ निरपेक्ष राज्य वह है जिसका अपना कोई धर्म न हो अर्थात राज्य की ओर से किसी धर्म के प्रति आबद्धता न हो। संविधान में जहाँ सैकुलर शब्द के पर्याय के रूप में पंथ निरपेक्ष शब्द का प्रयोग किया गया है, वहीं अनेक स्थलों पर संविधान में धर्म शब्द का भी प्रयोग किया गया है। प्रस्तावना के ही

तृतीय चरण की प्रतिज्ञा 'विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता' में धर्म शब्द विराजमान है। इस प्रतिज्ञा में धर्म शब्द अंग्रेजी के फेथ शब्द का पर्याय बनकर प्रयुक्त हुआ है। संविधान के अनुच्छेद 25 से 28 तक में 'धर्म' और 'धार्मिक' शब्द अंग्रेजी के 'रिलीजन' और 'रिलीजस' शब्दों के पर्याय बने हैं। 'पंथ' और 'धर्म' इन दो पृथक शब्दों के प्रयोग से संविधान में 'पंथ' और 'धर्म' शब्द के भेद को लक्ष्य किया गया है तथापि न कहीं इस भेद को स्पष्ट किया गया है और न कहीं इस भेद का कोई संकेत दिया गया है, और न हीं इन दोनों में से, किसी शब्द की कोई परिभाषा प्रदान की गई है।[44]

धर्म और पंथ में जो भेद है उसकी दार्शनिक प्रतीति यह है कि धर्म अनादि, अनश्वर और सनातन है। यह एक स्वयंभू तत्व और स्वचालित तन्त्र है। यह अपौरूषेय पदार्थ है, कोई पुरूष विशेष इसका प्रवर्तक नहीं है। गीता में धर्म के ह्रास को तो स्वीकारा गया है, किन्तु इसके नाश को स्वीकार नहीं किया गया। युगावतारों के द्वारा, अधर्म से ग्लानि, धर्म का पुनरूद्धार होता है, किन्तु निर्माण नहीं, युगावतार धर्म का संस्थापन करते हैं, उसकी स्थापना नहीं।[45]

पंथ प्रचलित होते हैं, पंथों का निर्माण किया जाता है और पुरूष विशेष इनके प्रवर्तक होते हैं। इस तरह बाइबिल के प्राचीन ग्रन्थ में यहूदियों के दस आदेश और भारत में 'सत्यं वद, धर्मं चर' का वैदिक वचन किसी पुरूष विशेष की कृति नहीं है। युगावतारों, सन्तों, मसीहाओं और ऋषियों ने धर्म का बखान किया है, इसका निर्माण नहीं। मनुस्मृति के अनुसार महात्माओं का एक समुदाय महर्षि मनु के समीप प्रणिपात हुआ और उनसे विविध जातियों के यथोचित धर्मों को क्रमशः बखान करने की याचना की। इस प्रकार मनुस्मृति में, जिस धर्म का बखान हुआ है, वह मनुक्त है, किन्तु मनुकृत नहीं। मनु ने स्वयं को धर्म का कर्ता नहीं माना है। उन्होंने वेद, स्मृति, शील, साधुओं के आचरण और आत्मतुष्टि, इन पाँच को धर्म का मूल माना है। तत्पश्चात वेद, स्मृति सदाचार और आत्मप्रियता, इन चार को धर्म के साक्षात् लक्षण कहकर विख्यात किया है।[46]

धर्म के आधार पर मत विशेष को ही पंथ कहा जा सकता है। इस प्रकार यदि 'पंथ निरपेक्ष' शब्द का पर्याय खोजा जाए तो 'मत निरपेक्ष' शब्द उसका उचित पर्याय होगा।

भारतीय वाग्मय में, 'धर्म' एक अति समृद्ध शब्द है। इसके भाव विस्तार और इसकी धर्म व्यापकता के कारण ही जैन, बौद्ध, सिख, ईसाई, इस्लाम आदि पंथ होते हुए भी, कालान्तर में धर्म बनकर ही प्रतिष्ठित हो गए और धर्म की ही संज्ञा में इनका भी बोध होने लगा। राज्य धर्म संविधान में निवास करता है। राज्य धर्म का स्रोत संविधान है। संविधान की प्रस्तावना में इसी राज्य धर्म के सूत्र विद्यमान हैं।

भारत में पंथ निरपेक्ष गणराज्य का भी एक धर्म है। सामाजिक व राजनीतिक न्याय; विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता; प्रतिष्ठा और अवसर की समता; व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता; सांविधानिक धर्म के मूलभूत सूत्र हैं। ये धर्म सूत्र किसी पंथ की अपेक्षा नहीं करते। सर्वोच्च और शीर्षस्थ होने के कारण ये सूत्र पंथ निरपेक्ष हैं। संविधान के इस धर्म के अनुरूप रहकर, व्यक्ति किसी भी पंथ का अनुयायी होने के लिए स्वतंत्र है। पंथ निरपेक्षता, धर्म के प्रति तटस्थता है; इसका अर्थ, धर्म हीनता अथवा धर्म विरूद्धता कदापि नहीं है। इसी तरह तटस्थता का अर्थ यह भी नहीं है कि किसी पंथ द्वारा राज्य धर्म का ह्रास किये जाने पर राज्य मौन साधे रहे। व्यक्ति की गरिमा और सामाजिक न्याय के विपरीत, किसी भी पंथ की कोई मान्यता या राज्य धर्म के इन सूत्रों की अवज्ञा में किया गया किसी भी पंथ का कोई भी संस्कार अथवा आचरण निषिद्ध माना जायेगा। अतः राज्य की धर्मनिरपेक्षता धर्म के प्रति नितान्त उदासीनता अथवा धर्म के समक्ष नितान्त असहायता नहीं है। धर्मों और पंथों की आचार संहिता, संविधान के प्रतिकूल नहीं हो सकती। 'पंथ' और 'धर्म' का पृथक–पृथक शब्दों से बोध कराने का ध्येय पंथों और उनकी आचार संहिताओं में भेद करना है। राज्य यद्यपि पंथ निरपेक्ष है तथापि पंथों के आचार और संस्कारों पर अंकुश लगाने में सक्षम है। पंथों के इस आचार और संस्कार को ही संविधान मे धर्म शब्द से आख्यात किया गया है।

प्रस्तावना में 'पंथ' और 'धर्म' दोनों शब्दों के प्रयोग से संविधान ने 'पंथ' और 'धर्म' शब्द के सूक्ष्म भेद को आत्मसात किया है। 'धर्म' शब्द के अर्थ के विपुल भार के विचार से ही प्रस्तावना में 'धर्म' शब्द को 'विश्वास' और 'उपासना' के मध्य में स्थान दिया गया है। 'उपासना' और 'विश्वास' धर्म के अनुचर शब्द हैं।

अनुच्छेद 25 में कतिपय प्रतिबन्धों के साथ, अन्तःकरण की स्वतंत्रता का तथा धर्म के अबाध रूप में मानने, आचरण करने और प्रचार करने के समान अधिकार को प्रत्याभूत किया गया है। विश्वास, उपासना, आचरण और प्रचार जैसे अवान्तर शब्दों का प्रयोग, धर्म शब्द के अर्थ की विविधता से विवश होकर किया गया है। भारत में विशेषतः हिन्दुत्व के संदर्भ में इस धर्म शब्द के अर्थ में सदैव ही अतिव्याप्ति रही है।

पंथ, मूलतः आस्था का ही वाची है। किन्तु धर्म शब्द में इसका आस्था तथा उसकी अभिव्यक्ति ये दोनों ही पक्ष समाविष्ट हो जायेंगे। धर्म के आस्था पक्ष को इसके अभिव्यक्ति पक्ष से पृथक करने के दृष्टिकोण से ही संविधान में 'पंथ' और 'धर्म' शब्दों को पृथक्–पृथक् प्रयुक्त किया गया है। अतः 'धर्म' शब्द के व्यापक अर्थ में पंथ शब्द का अर्थ स्वयमेव निहित है। 42वें संविधान संशोधन से पूर्व जब प्रस्तावना में 'पंथ निरपेक्ष' शब्द विद्यमान नहीं था, तब भारत के गणतंत्र का धर्मनिरपेक्ष राज्य के रूप में ही बोध होता था। प्रस्तावना की यह प्रतिज्ञा कि संविधान धर्म, उपासना और विश्वास की स्वतंत्रता को प्रत्याभूत करता है, राज्य के धर्म निरपेक्ष माने जाने का आधार थी। अनुच्छेद 25 में, जहाँ अन्तःकरण की ओर धर्म के अबाध रूप से मानने और आचरण व प्रचार करने की स्वतंत्रता का मूल अधिकार सन्निविष्ट है, वहाँ यह अन्तःकरण भी धर्म के आस्था पक्ष का ही द्योतक है। इस आधार पर कह सकते हैं कि विश्वास, अन्तःकरण, पंथ और धर्म का सामान्य अर्थ, व्यक्ति के आस्था पक्ष से सम्बन्धित है, जबकि उपासना, आचरण और प्रचार शब्दों का अर्थ, धर्म के अभियव्यक्त, व्यवहार अथवा कर्मकाण्ड पक्ष से संबंधित है। इस प्रकार इन अधिकाधिक शब्दों के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि जहाँ धर्म के आस्था पक्ष पर संविधान का वरदहस्त है, वहीं धर्म का कर्मकाण्ड और उसका प्रचार पक्ष राज्य की विधि के अधीन है।

धर्म के व्यवहार पक्ष को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम के अन्तर्गत उपासना, आचरण और प्रचार को रखा जा सकता है तो द्वितीय के अन्तर्गत धार्मिक स्थानों, संस्थाओं और उनके प्रबन्ध को रखा जा सकता है। धर्म के इस प्रबन्ध पक्ष में इसका आर्थिक अथवा वित्तीय पक्ष भी सम्मिलित हो जाता है। इस प्रकार धर्म के केवल आस्था पक्ष के प्रति ही राज्य तटस्थ है, धर्म के

व्यवहार पक्ष जिसमें कि आचरण उपासना पद्धति, प्रचार, प्रबन्ध ओर वित्त सम्मिलित है, के प्रति राज्य तटस्थ नहीं है। राज्य न धर्मविरूद्ध है और धर्मद्रोही और न ही अधर्मी तथापि धर्म के प्रति न यह उदासीन हैं, और न इसके अधीन और न ही इसके समक्ष विवश अथवा असहाय।[47]

प्रस्तावना में राज्य को 'पंथ निरपेक्ष' बनाकर संविधान द्वारा, 'धर्म, विश्वास और उपासना की स्वतंत्रता' को अक्षुण्ण रखा गया है, किन्तु इसके अपवाद स्वरूप अनुच्छेद 25 से 28 में, धर्म के प्रचार, व्यवहार ओर प्रबन्ध पक्ष को नितान्त स्वच्छन्दता नहीं प्रदान की गई है। अनुच्छेद 25 में कहा गया है कि लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा संविधान के भाग तीन के अन्य उपबन्धों के अधीन रहते हुए सभी व्यक्तियों को अन्तःकरण की स्वतंत्रता का और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान अधिकार होगा; साथ ही इस अनुच्छेद की कोई बात किसी ऐसी विद्यमान विधि के प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या राज्य को किसी ऐसी विधि बनाने से निवारित नहीं करेगी जो धार्मिक आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय राजनीतिक या अन्य लौकिक क्रियाकलापों का विनियमन करती है अथवा सामाजिक कल्याण और सुधार का उपबन्ध करती है या सार्वजनिक प्रकार की हिन्दुओं की धार्मिक संस्थाओं को हिन्दुओं के सभी वर्गों और विभागों के लिए खोलती है।

अनुच्छेद 26 में यह स्पष्टतः कथन किया गया है कि लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय या उसके किसी विभाग को धार्मिक और पूर्व प्रयोजनों के लिए संस्थाओं की स्थापना और पोषण का, अपने धर्म विषयक कार्यों का प्रबन्ध कराने का; जंगम ओर स्थावर सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्व का और ऐसी सम्पत्ति का विधि के अनुसार प्रशासन करने का अधिकार होगा। धर्म विषयक कार्यों के प्रबन्ध को संविधान ने प्रबन्ध को विनियमित करने के राज्याधिकार को सुरक्षित रखा है। धार्मिक कार्यो के प्रबन्ध को स्वतंत्रता के संदर्भ में, अनुच्छेद 26 के खण्ड (घ) में, धार्मिक सम्प्रदायों को अपनी सम्पत्ति का केवल 'विधि के अनुसार' प्रबन्ध करने का अधिकार है।

अनुच्छेद 25–26 द्वारा प्रत्याभूत धार्मिक स्वतंत्रता की प्रत्याभूति को न्यायिक निर्वचन द्वारा और विस्तृत कर दिया गया है। न्यायालय ने कहा है कि अनुच्छेद 25–26 में व्यक्ति को श्रद्धा और विश्वास को मानने और प्रचार करने का अधिकार तो है ही साथ ही वह सब कर्मकाण्ड या प्रथाऐं मानने का अधिकार भी है जो उस सम्प्रदाय के अनुयायियों द्वारा धर्म का अंग समझी जाती है। धर्म तो विश्वास का विषय है। यह आवश्यक नहीं कि वह ईश्वरवादी हो। भारत में सुप्रसिद्ध बौद्ध और जैन धर्म निरीश्वरवादी हैं। प्रत्येक धर्म की कुछ आस्थाऐं और सिद्धान्त होते हैं, जिन्हें उस धर्म के अनुयायी आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए सहायक मानते हैं। किन्तु यह कहना उचित नहीं है कि विश्वास मात्र ही धर्म है। इसी प्रकार प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय या संगठन को यह विनिश्चित करने की पूरी छूट है कि कौन से कर्मकाण्ड और उनके धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार आवश्यक हैं। राज्य के विनियम उन विषयों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते जो सारवान रूप से धार्मिक हैं। न्यायालय को यह निर्णय करने का अधिकार है कि कोई विशिष्ट कर्मकाण्ड या पूजा पद्धति उस धर्म की मान्यताओं के अनुसार आवश्यक है या नहीं और या कोई विशिष्ट पद्धति लोक स्वास्थ्य या सदाचार के विरुद्ध है या धार्मिक पद्धति का सारवान अंग नहीं है और किसी सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक विनियमन करने वाली विधि का उल्लघंन करती है तो न्यायालय हस्तक्षेप कर सकेगा।[48]

अनुच्छेद 27 में यह व्यक्त किया गया है कि किसी भी व्यक्ति को ऐसे करों का भुगतान करने के लिए बाध्य नहीं किया जायेगा जिनके आगम किसी विशिष्ट धर्म या धार्मिक सम्प्रदाय की अभिवृद्धि या पोषण में व्यय करने के लिए विनिर्दिष्ट रूप से विनियोजित किये जाते हैं। अनुच्छेद 28 के खण्ड (1) में यह घोषणा की गई है कि पूर्णतः राज्य निधि से पोषित किसी शिक्षण संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायेगी। खण्ड (2) में कहा गया है कि खण्ड (1) की कोई बात ऐसी शिक्षण संस्था पर लागू नहीं होगी जिसका प्रशासन राज्य करता है, किन्तु जो किसी ऐसे विन्यास या न्यास के अधीन स्थापित हुई है जिसके अनुसार उस संस्था में धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक है। खण्ड (3) में कहा गया है कि राज्य से मान्यता प्राप्त या राज्य निधि से सहायता पाने वाली शिक्षण संस्था में उपस्थित होने वाले किसी व्यक्ति को ऐसी संस्था में दी जाने वाली धार्मिक उपासना में

उपस्थित होने के लिए तब तक बाध्य नहीं किया जायेगा जब तक कि उस व्यक्ति ने यदि वह अवयस्क है तो उसके संरक्षक ने इसके लिए अपनी सहमति नहीं दे दी है।

अनुच्छेद 28 धर्म शब्द का प्रयोग संविधान के अनुच्छेद 15 में भी किया गया है, जहाँ भेदभाव के अन्य निषिद्ध आधारों की गणना के साथ–साथ यह कहा गया है कि केवल धर्म के आधार पर राज्य के किसी नागरिक के विरुद्ध कोई विभेद नहीं करेगा तथा केवल धर्म के आधार पर राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध कोई नागरिक दुकानों, सार्वजनिक कुओं, तालाबों, स्नान घाटों, सडकों और सार्वजनिक समागम के स्थानों के उपयोग के विषय में किसी की निर्योग्यता, दायित्व निर्बन्धन या शर्त के अधीन नहीं होगा। अनुच्छेद 16 के खण्ड (2) में कहा गया है कि कोई भी नागरिक केवल धर्म के आधार पर राज्य के अधीन किसी नियोजन या पद के सम्बन्ध में अपात्र नहीं होगा और न इस आधार पर उससे विभेद किया जायेगा। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के अनुच्छेद 11 (3) में इस प्रकार स्वीकार किया गया है कि संयुक्त राज्य के अधीन किसी पद अथवा सार्वजनिक न्यास के विषय में अर्हता के लिए कोई धार्मिक योग्यता आवश्यक नहीं होगी।

संविधान ने राज्य की पंथ निरपेक्षता तथा व्यक्ति के धर्म स्वातन्त्रय को एक साथ आत्मसात किया है, पंथ निरपेक्षता राज्य का संकल्प है किन्तु धर्म, विश्वास और उपासना व्यक्ति की स्वतंत्रता है। पंथ निरपेक्षता का दायित्व राज्य से संयुक्त है, किन्तु किसी भी धर्म की अनुयायिता व्यक्ति का अन्तनिर्हित अधिकार है। राज्य को पंथ निरपेक्ष रखते हुए, व्यक्ति के धर्म स्वातन्त्रय की प्रत्याभूति राज्य कौशल का विलक्षण चमत्कार है। राज्य के अवयवी नागरिकों के धर्मानुयायी होने पर भी राज्यष्टि को धर्म निरपेक्ष बनाये रखना, सांविधानिक विधि के द्वारा ही संभव हुआ है। सांविधानिक विधि से धर्म सापेक्ष नागरिकता, धर्म निरपेक्ष राष्ट्रीयता में परिणत हो गई है। 'हम भारत के लोग' सम्प्रभु हैं तथा इस सम्प्रभुता में; हम भारत के लोगों में से प्रत्येक को किसी भी धर्म को मानने और उसके प्रचार करने की स्वतंत्रता है तथापि हम भारत के लोग तत्क्षण धर्म निरपेक्ष हो जाते हैं। व्यष्टि और समष्टि का यह द्वैत असाध्य को साध्य में परिणत कर रहा है। कोई भी व्यक्ति

व्यक्तितः धर्म सापेक्ष रह कर भी अन्य सभी व्यक्तियों के प्रति धर्म निरपेक्ष सिद्ध होगा। अन्ततः धर्म निरपेक्षता, धर्म सहिष्णुता का आदर्श है। धर्म इस प्रकार निजत्व भी है और परत्व भी।

राज्य ने धर्म निरपेक्ष होकर सभी धर्मों का आदर किया है। राज्य की यह धर्म निरपेक्षता, धर्म का अभाव नहीं धर्म का आदर है; धर्म के प्रति उदासीनता नहीं, धर्म के प्रति उत्साह है। क्योंकि यह व्यक्ति का निजी विषय है। अतः सार्वजनिक मान्यता यह होगी कि सभी व्यक्ति अन्य सभी व्यक्तियों के धर्म का आदर करें। भारत का पंथ निरपेक्ष राज्य धर्म का आलोप नहीं धर्म का आलय है। किसी भी धर्म का लोप न होकर यहाँ सभी धर्मों की संतुलित लय है। धर्म का अपमान संविधान को सहन नहीं होगा। धर्म से राज्य, केवल इस अर्थ में निरपेक्ष है कि किसी व्यक्ति को किसी भी धर्म का अनुयायी होने के लिए किसी व्यक्ति, संस्था तथा राज्य की विधि द्वारा विवश अथवा बाध्य नहीं किया जायेगा। किन्तु धर्म क्या है और अधर्म क्या, इस विषय में राज्य का स्वविवेक निर्णायक होगा।

धार्मिक आचार, व्यवहार, प्रसार, प्रचार और कर्मकाण्ड को संविधान ने विधि के अधीन रखा है, संविधान के अनुसार ये सब लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य की विधियों के अधीन हैं। आवश्यक नहीं कि ये विधियाँ अधिनियमित ही हों। धर्म मूल अधिकार है तथा मूल अधिकारों के निर्वचन के निमित्त अनुच्छेद 13 में दी गई विधि की परिभाषा के आधार पर शील, सदाचार और स्वास्थ्य संबंधी विधि प्रथा अथवा रूढ़ि के रूप में भी विद्यमान हो सकती है, किन्तु रूढ़ि अथवा प्रथा क्या है तथा क्या नहीं है तथा कौनसी रूढ़ि और प्रथा थी और अब नहीं रहेंगी, यह निर्णय करने का अधिकार राज्य को ही रहेगा। अतः क्या धर्म और अधर्म है, इसका निर्णय न्यायालयों द्वारा किया और कराया जा सकेगा।[49]

'धर्मनिरपेक्ष' तथा 'धर्मनिरपेक्षता' शब्दों का भारतीय संविधान में कहीं प्रयोग नहीं हुआ फिर भी धर्म निरपेक्षता का विचार संविधान की लगभग प्रत्येक महत्वपूर्ण व अर्थवान धारा में परिलक्षित होता है। संविधान ने भारतीय नागरिकों से लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना तथा सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय की

उपलब्धि का वायदा किया है। यह आदर्श स्वयं सम्पूर्ण संविधान पर धर्मनिरपेक्षता की प्रेरणास्पद दीप्ति की छाप छोड़ता है।

भारतीय नागरिकता पूर्ण रूप से एक विशुद्ध धर्मनिरपेक्ष पद है। नागरिकों को जिन मूल अधिकारों की गारन्टी दी गई है और इन अधिकारों में जो मूल कर्तव्य निहित हैं, वे नागरिकता से प्रवाहित होते हैं और उनके संबंध में समुदाय, जाति धर्म अथवा भाषा सम्बन्धी कोई भी प्रश्न अप्रासंगिक है। कानूनों के सम्मुख समानता तथा सभी नागरिकों के लिए कानूनों द्वारा समान संरक्षण – ये मूल अधिकारों से सम्बन्धित ऐसे बुनियादी विचार हैं, जिन पर भारतय संविधान को न्यायोचित रूप से गर्व हो सकता है। संविधान के अनुच्छेद 14 में ये गारन्टी निहित है। एक अर्थ में यह समानता अथवा संरक्षण भारतीय संविधान का मूल आधार है। समानता के इसी मूल अधिकार से ही अन्य मूल अधिकार प्रवाहित होते हैं, इन मूल अधिकारों का तेजस्वी प्रवाह स्पष्टतः भारतीय संविधान का धर्मनिरपेक्ष स्वरूप प्रकट करता है।

धर्मनिरपेक्ष स्वरूप का प्रवाह सर्वविद्यमान है और इसके द्वारा न केवल हिन्दुओं व मुसलमानों बल्कि सभी समुदायों व धर्मों को भी परोपकारी संरक्षण प्राप्त है। हमारा देश एक बहुधार्मिक, बहुभाषीय तथा बहु साम्प्रदायिक क्षेत्र है, जिसमें संविधान ने अपने समस्त नागरिकों को समान मूल अधिकार प्रदान किये हैं। एक अवश्यम्भावी परिणाम के रूप में संविधान अपने समस्त नागरिकों से भारत की एकता के प्रति समान निष्ठा तथा देश के सामाजिक आर्थिक लक्ष्यों की दिशा में उसके अभियान के प्रति समान मूलभूत कर्तव्यों की अपेक्षा करता है।

धार्मिक स्वतंत्रता की पूर्णता प्रभावशीलता के उद्देश्य से संविधान के अनुच्छेद 30 में कुछ निश्चित प्रावधान ऐसे हैं, जिनके अन्तर्गत अल्पसंख्यकों को उनकी पसंद की शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना व उनकी व्यवस्था करने का अधिकार दिया गया है। व्यापक रूप से यह कहा जा सकता है कि यह व्यवस्था भारतीय संविधान द्वारा सभी धर्मों को दी गई स्वतंत्रता की गारन्टी की प्रतीक है।

सम्पूर्ण विश्व के संदर्भ में धर्मों का इतिहास यह स्पष्ट करता है कि अपने संगठित साम्प्रदायिक स्वरूप में धर्म कभी–कभी समाज की सामाजिक, आर्थिक

गतिविधियों को नियमित करता है। उदाहरणस्वरूप–अस्पृश्यता। परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार अस्पृश्यता कुछ प्राचीन धर्मग्रन्थों पर आधारित है। यद्यपि इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। संविधान ने हिन्दू संस्कृति के इस कलंक को सामाजिक जीवन से पूर्णरूपेण हटाना उचित समझा। अतः अनुच्छेद 17 में उसके उन्मूलन सम्बन्धी निश्चित व्यवस्था की है। यह निर्देश देता है कि अस्पृश्यता के आधार पर कोई भी अयोग्यता मानना इस कानून के अनुसार दण्डनीय होगा। यदि अस्पृश्यता को किसी धर्मग्रन्थ के आधार पर निर्धारित करने का दावा किया जाता है तो उस स्थिति से निबटने के लिए संविधान यह घोषणा करता है कि ऐसे धर्मग्रन्थ अथवा व्यवहार की कोई वैधता नहीं है क्योंकि उससे समुदाय की सामाजिक आर्थिक गतिविधियों में हस्तक्षेप होता है, इसलिए संविधान में उक्त प्रथा को प्रतिबन्धित किया है। इस तरह अस्पृश्यता जैसी समस्याओं के संदर्भ में संविधान ने सामाजिक आर्थिक क्षेत्रों में धर्म के हस्तक्षेप की चुनौती का सामना किया है।

अनुच्छेद 44 के अनुसार राज्य अपनी सीमा के अन्तर्गत सभी नागरिकों के लिए एक समान नागरिक नियम संहिता प्राप्त करने के प्रयास करेगा। इसी आदर्श की खोज के फलस्वरूप संविधि संग्रह में हिन्दू कोड को स्थान दिया गया। संसद में जब हिन्दू कोड बिल प्रस्तुत किया गया तो उस समय कट्टर व अनुदार हिन्दुओं की ओर से इसका तीव्र विरोध हुआ। इस सम्बन्ध में पारम्परिक हिन्दू दृष्टिकोण यह था कि हिन्दू कानून प्राचीन 'श्रुति' और 'स्मृति' पर आधारित है और उनके सम्बन्ध में संसद को कार्यवाही करने का कोई अधिकार नहीं है। यह विरोध निसंदेह प्रामाणिक था और इस विश्वास पर आधारित था कि व्यक्तिगत कानून सम्बन्धी व्यवस्थाऐं धार्मिक मामलों के अन्तर्गत आती हैं। कट्टर हिन्दू मत से उत्पन्न यह तीव्र विरोध वस्तुतः भारतीय स्वतंत्रता के प्रारम्भिक काल में ही धर्मनिरपेक्षता के लिए एक चुनौती बना रहा। इस चुनौती का साहस से सामना किया गया और अंततः इस पर विजय प्राप्त की गई। हिन्दू कोड आज एक पूर्ण तथ्य बन गया है।

हिन्दू कोड बिल की स्वीकृति से स्पष्ट होता है कि देश के आर्थिक सामाजिक जीवन में धर्मनिरपेक्षता का विचार किस प्रकार सफलता प्राप्त कर रहा है। हिन्दू धर्म, जो कि न्यायोचित रूप से विश्व का सर्वाधिक प्राचीन है, वर्तमान

काल तक तरूण व जीवित इसलिए रह सका है क्योंकि पूर्व ब्रिटिश काल के दौरान उसने समय–समय पर उपयुक्त सामन्जस्य किया, जिससे कि वह अपनी व्यवस्थाओं को समाज की परिवर्तित एवं विकसित प्रथाओं व विश्वासों के अनुकूल कर सका। सदाचार हिन्दू धर्म का सदैव स्रोत माना गया है। इससे ज्ञात होता है कि हिन्दू धर्म के व्याख्याता जो कि कानून के शाब्दिक अर्थ और अस्तित्व प्राप्त प्रथाओं व व्यवहारों के मध्य अन्तर के प्रति सदैव सजग थे, किस प्रकार व्याख्या के माध्यम से कानूनी व्यवस्थाओं को समन्वित करते थे। व्याख्या शास्त्र ने हिन्दू कानून के परिवर्तनशील विकास में सहायता दी है। यद्यपि उसका कानूनी स्वरूप वही रहा लेकिन उसकी भावना व सार समय–समय पर परिवर्तित होते रहे।

ब्रिटिशकाल के दौरान विकास की यह प्रक्रिया अवरूद्ध थी। इस कारण जनमानस का यह विश्वास था कि हिन्दू धर्म स्थिर अथवा गतिहीन है, वस्तुतः श्रुतियों और स्मृतियों पर ही पूर्णतः आधारित होने के कारण परिवर्तित नहीं किया जा सका। इस प्रचलित विश्वास को हिन्दू कोड के माध्यम से सुधारा गया और अब हिन्दू समुदाय ने यह स्वीकार कर लिया है कि व्यक्तिगत कानूनों से सम्बन्धित व्यवस्थाऐं धर्मनिरपेक्ष विषयों के अधीन हैं और उनका संकीर्ण धार्मिक मान्यताओं से कोई सरोकार नहीं है। उनकी वैधता सम्बन्धी कोई भी निर्णय जनता के सामान्य हित एवं सामाजिक–आर्थिक कल्याण ऐसे विवेकी तथा वैज्ञानिक आधारों पर ही लिया जाना चाहिए।

भारत जैसे विकासशील देश में जहाँ अनेक धर्म व समुदाय हैं, वहाँ धर्मनिरपेक्षता की खोज की दिशा में कोई निरपेक्ष सिद्धान्त नहीं है इसलिए भारतीय धर्मनिरपेक्षवादियों को यह आशा है कि कालांतर में जब मुस्लिम समुदाय पर्याप्त रूप से शिक्षित और सामाजिक दृष्टि से प्रगतिशील हो जायेगा तो अगला कदम लिया जा सकेगा और समस्त समुदायों के लिए एक समान कानून संहिता बन जायेगी। भारतीय संसद द्वारा हिन्दू कोड बिल प्रथम बार में पारित हो जाना इस बात का परिचायक है कि भारतीय संसद समुदाय की धर्मनिरपेक्ष कार्यवाही को आत्मसात करने की क्षमता से पूर्णतः परिचित थी और इस कारण वह इस सही दिशा में यह कार्यवाही कर सकी। अतः हिन्दू कोड बिल भारतीय धर्मनिरपेक्षता की दैदीप्यमान विजय का उदाहरण है। भारतीय धर्मनिरपेक्षता एक तार्किक व वैज्ञानिक

दृष्टि पर आधारित है और यह ऐसी समस्याओं की ओर अभिमुख है, जिनका भारत जैसे बहुलवादी समाजों को सामना करना होता है। यह उस अनिवार्य आवश्यकता को मानती है कि नागरिकता का विचार तथा उसके अधिकार एवं कर्तव्य तर्कबुद्धिपरक एवं धर्मनिरपेक्ष आधारों पर स्थित होने चाहिए।[50]

पंथ निरपेक्षता व्यक्ति की उस दुर्बलता पर प्रहार करती है जिससे पराभूत हो, वह अपने व्यक्तित्व में धर्म और राजनीति का सम्मिश्रण कर देता है। यही व्यक्ति समाज का निर्माण करता है, अतः पंथ निपेक्षता सम्बन्धी विवाद, स्वतः समाज की ओर उन्मुख हो जाता है, **संविधान ने राज्य को पंथ निरपेक्ष घोषित किया है, व्यक्ति और समाज को नहीं।** फलतः भारतीय समाज जो मूलतः धर्म प्रधान है, विभिन्न पंथों को प्रश्रय देने लगता है क्योंकि धर्म की ही विशेष विधा का नाम पंथ है। भारत निरीश्वरवादी व्यक्तियों की संख्या अत्यल्प है। धार्मिक संस्कारों का वर्चस्व न केवल आजीवन वरन् जन्म से पूर्व तथा मरणोपरान्त भी विद्यमान रहता है। व्रत, उपवास, वार, त्यौहार और पर्व आदि सभी का आधार यहाँ धर्म है। कुम्भ जैसे विशाल राष्ट्रीय पर्व, धर्म की ही धुरी पर प्रवर्तमान हैं। रामलीला और रासलीला भी यहाँ नाट्य प्रधान न होकर धर्म प्रधान हैं। इसी कारण किसी भी धर्महीन विचार का भारतीय समाज स्वागत नहीं करता। संविधान में प्रारम्भ से ही राज्य को स्पष्टतः पंथ निरपेक्ष न कहे जाने का भी यही कारण है। नवोदित राष्ट्र के प्रति कहीं जनता में राज्य के धर्महीन अथवा धर्म विरोधी होने का भ्रम न हो जाये, इसी कारण 'धर्मनिरपेक्ष' तथा 'पंथनिरपेक्ष' जैसे भ्रमोत्पादक शब्दों का प्रयोग संविधान की प्रस्तावना में नहीं किया गया।[51]

भारतीय धर्म निरपेक्षता एक तार्किक व वैज्ञानिक दृष्टि पर आधारित है। यह ऐसी समस्याओं की ओर अभिमुख है, जिनका भारत जैसे बहुलवादी समाजों को सामना करना होता है। एक अर्थ में धर्मनिरपेक्षता की दृष्टि यद्यपि भौतिकवादी है लेकिन इसकी जड़ें नैतिकतावादी हैं। यह प्रत्येक नागरिक के दूसरे नागरिक के संदर्भ में कर्तव्यों के प्रति सजग हैं और इसलिए यह सामाजिक आर्थिक न्याय के प्रति समर्पण के एक दर्शन को विकसित करती है। जो इसके अनुसार आधुनिक युग की सर्वोच्च नैतिकता है। इसलिए धर्मनिरपेक्षता की अपनी एक अलग नैतिक नियम संहिता होती है और यह उसके लिए जन अन्तरात्मा से अपील भी करती है। यह भारतीय धर्मनिरपेक्षता का व्यापक, समग्र, प्रगतिशील व दूरदर्शी आधार है।

संदर्भ सूची :–

1. शरण, परमात्मा — प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एंव संस्थाऐं, मीनाक्षी प्रकाशन मेरठ, 1977, पृ. 333
2. महाभारतम् — शान्ति पर्व एकत्रिंशोऽध्यायः, श्लोक संख्या 7 ''धारणाद् धर्ममित्याहुधर्मेण.....'' गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 1987 (द्वि.सं) पृ. 1025
3. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — गैरोला वाचस्पति, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 2003 प्रथम अधिकरण, विनयाधिकारिक, अध्याय 2, प्रकरण 1, पृ. 11
4. मुखर्जी, राधाकुमुद — चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1966 पृ. 49
5. घोषाल, यू.एन. — ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पॉलिटिकल आइडियाज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1966, पृ. 529–30
6. शरण, परमात्मा — पूर्वोक्त, पृ. 535
7. वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद — वैदिक राजनीति शास्त्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना–3, 1975, पृ. II, 92–93
8. सिंह, कर्ण — हिन्दू धर्मः नई चुनौतियाँ, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, 1984 पृ. 88–95
9. मिश्र, अखिलेश — धर्म का मर्म, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–2003, पृ. 388–92
10. टण्डन, किरण — भारतीय संस्कृति, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 2006, पृ. 465–486
11. नेहरू, पं.जवाहर लाल — हिन्दुस्तान की कहानी (संक्षिप्त संस्करण), हिन्द पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1962 पृ. 32
12. नारायण, इकबाल — (सं.) भारतीय सरकार एवं राजनीति, लेखः गडकर गजेन्द्र, ''धर्म निरपेक्षता तथा भारतीय संविधान खण्ड – 1,'' राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर (द्वि.सं.) 1974 पृ. 103
13. काश्यप, सुभाष व गुप्त, विश्वप्रकाश — राजनीति कोष, सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान नई दिल्ली की ओर से राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली 1971, पृ. 407–408
14. जोशी, पूरनचन्द्र — अवधारणाओं का संकट, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 1995, पृ. 143–145
15. दिनकर, रामधारी सिंह — संस्कृति के चार अध्याय, लोक भारती प्रकाशन, इलाहबाद, 1956, पृ. 453
16. गाँधी, महात्मा — यंग इण्डिया, 3 अप्रैल, 1924 ई.

17. जोशी, पूरनचन्द्र — पूर्वोक्त, पृ. 63–64
18. दामले, वाई.बी. — कास्ट, रिलीजन एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया, ऑक्सफोर्ड आई.बी.एच. दिल्ली, 1982 पृ. 75
19. कुमार, रविन्द्र — ऐसे इन द सोशल हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इण्डिया ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1983, पृ. 31
20. थारमंगलम, जोसफ — इण्डियन सोशल सांइटिस्टस एण्ड क्रिटिक ऑफ सेक्यूलरिज्म, इकॉनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, वोल्यूम 30, नं0 9, 4 मार्च, 1995, पृ. 457–461
21. अम्बेडकर, बी.आर. — पार्लियामेन्ट्री डिबेट्स, पार्ट II ऑफ VII (मिनिस्ट्री ऑफ होम अफेयर्स, दिल्ली 1951) एब्रिवीयेटेड एज़ C.A.D. VII पृ. 825–826
22. कामथ, एच.वी. — कॉन्स्टीट्यूएन्ट असेम्बली डिबेट्स, 6 दिसम्बर, 1948 (मिनिस्ट्री ऑफ होम अफेयर्स, दिल्ली 1951) एब्रिवीयेटेड एज़ C.A.D. VII पृ. 825–826
23. सेबाइन, जॉर्ज एच. एण्ड थॉरसन, थॉमस — ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी, ड्राइडेन प्रेस, न्यूयॉर्क (च.सं.) 1973
24. वर्मा, एस.एल. व मिश्रा, मधु — महात्मा गाँधी एवं धर्मनिरपेक्षता, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1999, पृ. 29–32
25. पूर्वोक्त — पूर्वोक्त, पृ. 32–41
26. गैटिल, आर.जी. — हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थॉट (2 एडीशन) वाई लॉरेन्स सी. वानलेस, लंदन जी, एलन एण्ड अनविन, 1961 पृ. 1–3
27. स्मिथ, डी.ई. — इण्डिया एज ए सेक्यूलर स्टेट, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1963, पृ. 62–64
28. वर्मा, एस.एल. व मिश्रा मधु — पूर्वोक्त, पृ. 50–52
29. स्मिथ, डी.ई. — पूर्वोक्त, पृ. 66–86
30. वर्मा, एस.एल. — टूवर्ड्स थियरी ऑफ पॉजिटिव सेक्यूलरिज्म, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 1986, पृ. 42–46
31. नारायण, इकबाल — (सं.) भारतीय सरकार एवं राजनीति, एक लेख–संकलन खण्ड–1 (स्मिथ डोनाल्ड : भारत में धर्मनिरपेक्षता, इण्डिया एज ए सेक्यूलर स्टेट पर अंशतः आधारित, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1963, पृ. 494–501) राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1974 पृ. 90
32. नारायण, इकबाल — पूर्वोक्त, पृ. 92–94

33. गजेन्द्र गडकर, पी.बी. धर्मनिरपेक्षता तथा भारतीय संविधान (नारायण इकबाल (सं.) भारतीय सरकार एवं राजनीति एवं लेख–संकलन खण्ड–1, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1974, पृ. 103–104
34. गजेन्द्र गडकर, पी.बी. पूर्वोक्त, पृ. 109–110
35. नेहरू, पं. जवाहरलाल टूवर्ड फ्रीडम (ऑटोबायोग्राफी), ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू देहली, 1936, पृ. 592
36. नेहरू, पं. जवाहरलाल हिन्दुस्तान की कहानी, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, दिल्ली, 1986, पृ. 607
37. गुहा, रामचन्द्र झा सुशांत (अनुवादक) भारत गाँधी के बाद, पेंगुइन ब्रुक्स इण्डिया यात्रा बुक्स, गुडगांव, हरियाणा, 2012 पृ. 28 (महाजन सुचेता, इण्डिपेडेन्स एण्ड पार्टीशनः द इरोजन ऑफ कॉलोनियल पॉवर इन इण्डिया, नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशन्स, 2000 से उद्धृत, पृ. 320–321)
38. हिन्दुस्तान टाइम्स 8 दिसम्बर, 1947
39. गुहा, रामचन्द्र पूर्वोक्त, पृ. 24
40. दाधीच, नरेश महात्मा गाँधी का चिन्तन, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2014, पृ. 103–104
41. दाधीच, नरेश पृ. 107–114
42. जैन, एस.एन. नेहरू का सांविधानिक चिन्तन (भारतीय संविधान के मूल दर्शन के परिप्रेक्ष्य में) अध्याय–2, धर्मनिरपेक्षता व पंथ निरपेक्षता, प्रिन्टवैल पब्लिशर्स, जयपुर 1990, पृ. 24
43. शुक्ल, वी.एन. भारत का संविधान, सप्तम संस्करण, ईस्टर्न बुक कम्पनी, लखनऊ 1982, पृ. 2
44. जैन, एस.एन. पूर्वोक्त, पृ. 25–26
45. श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय 4, श्लोक संख्या 7, गीताप्रेस गोरखपुर, गोविन्द भवन कार्यालय, कोलकाता का संस्थान 1982, पृ. 65
46. मनुस्मृति, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, जवाहर नगर, दिल्ली, 1985 अध्याय 2, श्लोक संख्या 6, 12, पृ. 17
47. जैन, एस.एन. पूर्वोक्त, पृ. 30–32
48. बसु, डी.डी. भारत का संविधान–एक परिचय, 11वाँ संस्करण, लेक्सिस नेक्सिस गुडगांव, हरियाणा, 2015, पृ. 148
49. जैन, एस.एन. पूर्वोक्त, पृ. 33–35
50. गजेन्द्र गडकर, पी.बी. पूर्वोक्त, पृ. 104–108
51. जैन, एस.एन. पूर्वोक्त, पृ. 42–43

अध्याय – षष्ठम्
समग्र मूल्यांकन

भारतीय राजनीतिक चिन्तन का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत की दीर्घकालीन परम्परा में समाज व्यवस्था और राजव्यवस्था के स्वरूप का जो विवेचन पाया जाता है, उसमें धर्म का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इस तरह धर्म कोई नवीन अवधारणा नहीं है, अपितु आदिकाल से ही मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाली एक गतिशील अवधारणा है। भारतीय राजनीतिक चिन्तन में धर्म का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप था क्योंकि वह आधुनिक युग में प्रचलित सम्प्रदाय नहीं था बल्कि उसे व्यापक अवधारणा के रूप में ग्रहण किया जाता था। धर्म को नैतिक कर्तव्य के रूप में स्वीकार कर, उसका अनुसरण किया जाता था, जो कि व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को सक्रिय रूप से मर्यादित रखता था।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन मे धर्म का तात्पर्य किसी वस्तु या व्यक्ति की वह वृत्ति या आचरण था, जो सदा उसमें अन्तर्निहित रहे और समाज की स्थिति को बनाये रखे। आपसी व्यवहार संबंधी नियमों का पालन, सदाचार, सत्कर्म, न्याय व्यवस्था नीति इत्यादि को ही धर्म की संज्ञा दी जाती थी। समाज की रक्षा व सुख शान्ति में वृद्धि करने वाले आचार को ही धर्म माना जाता था। धर्म का क्षेत्र बहुत विशाल माना गया, यथा –

''धारणाद्धर्ममित्याहुधर्मेण विधृताः प्रजाः।
यस्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।।''

अर्थात सबको धारण (अधोगति से बचाने और जीवन की रक्षा) करने के कारण धर्म को धर्म कहते हैं। धर्म ने ही सारी प्रजा को धारण कर रखा है। अतः जिससे धारण तथा पोषण होता है, वही धर्म है।

धर्म ने ही समाज व्यवस्था व राजव्यवस्था को सुव्यवस्थित, सुसंचालित व संयमित किया। प्राचीन समय से ही धर्म मानव जीवन का एक अपरिहार्य तत्व रहा है। मानव की व्यक्तिगत व सामाजिक भूमिकाओं व मर्यादाओं को निर्धारित करने में उसकी महत्ता निर्विवाद है। प्रत्येक मनुष्य जीवन और उसके उत्कर्ष साधन के निमित्त अपने धर्म का पालन करता है। जीवन में आत्मशान्ति का अनुभव करने,

सच्चा संतोष प्राप्त करने, समाज में अपना स्थान बनाने, सुयश प्राप्त करने के लिए धर्म ही आवश्यक तत्व है। व्यक्ति के चरित्र व नैतिक भावनाओं के परिष्करण में, जीवन के व्यावहारिक, आध्यात्मिक पक्षों के विकास में, स्वयं के साथ दूसरों के हित का ध्यान रखने में, जीवन में नियमबद्धता लाने के लिए धर्मानुसार आचरण आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति में जिन चार पुरूषार्थों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कल्पना की गई है, उसमें भी धर्म को ही प्रमुख स्थान दिया गया है। अर्थ और काम की प्राप्ति धर्मपूर्वक जीवन व्यतीत करने से ही संभव मानी है। हमारी समाज व्यवस्था के सुचारू संचालन के लिए चार वर्णों की (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) व्यवस्था करके, उनके धर्मों का भी निर्धारण किया गया है और धर्मशास्त्रों में बार–बार स्वधर्म पालन का ही निर्देश दिया गया है। निर्बल को भी सबल के आतंक से बचाने के लिए धर्म की स्थापना आवश्यक है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जीवन को चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) में विभाजित कर उनके धर्मों का विभाजन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में धर्म के व्यापक स्वरूप को परिलक्षित करता है।

भारतीय चिन्तकों ने व्यक्ति व राज्य की उन्नति के लिए धर्म को आवश्यक माना और वर्णाश्रम के जिन धर्मों का निर्धारण समाज–व्यवस्था के संचालन के लिए आवश्यक समझा, उनका पालन करवाने का दायित्व राज्य को सौंपा। भारत में धर्म राज्य का स्वरूप नैतिक था और धर्म को राजा से भी उच्च स्थिति प्राप्त थी। किसी को भी धर्म का उल्लंघन करने का अधिकार नहीं था। राजा भी अगर धर्म का पालन करना छोड़ दे तो उसे हटाने का प्रजा को अधिकार था। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये सब पूर्ण रीति से राजधर्म में ही निहित माने गये और राजधर्म को ही सम्पूर्ण प्राणियों को यथायोग्य नियमों में स्थित रखने में समर्थ माना गया। राज्य चाहने वाले राजाओं के लिए राज्य में प्रजा की भली–भॉति रक्षा को छोड़कर और कोई सनातन धर्म नहीं है।[2]

धर्म भारतीय राजनीतिक चिन्तन का केन्द्रीय व आधारभूत तत्व है। भारतीय राजनीतिक चिन्तन के प्रतिनिधि स्रोतों में धर्म की प्रभावपूर्ण सत्ता को भली–भॉति

स्पष्ट किया गया है। महाकाव्यों, स्मृतियों एवं नीतिशास्त्रों सभी में धर्म को राज्य के अस्तित्व के आधार के रूप में चित्रित किया है। भारतीय ग्रन्थों के अनुसार राज्य सत्ता पर निर्भर है, वस्तुतः धर्म ही राज्य के अस्तित्व का मूल प्रयोजन है क्योंकि राज्य की रचना ही धर्म की रक्षा के लिए की गई है।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में धर्म के वास्तविक स्वरूप और राज्य सत्ता से उसके संबंध की विवेचना के क्रम में यह सतर्कता आवश्यक है कि भारतीय चिन्तन में प्रयुक्त शब्द अंग्रेजी के रिलीजन शब्द का पर्याय नहीं है। भारतीय ग्रन्थों में धर्म को अराधना की किसी पद्धति अथवा किसी पांथिक मत के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त नहीं किया गया।

ऋग्वेद में धर्म शब्द संज्ञा अथवा विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ प्रायः ऊँचा उठाने वाला (उन्नायक), सम्पोषक (प्राण तत्व का पालन–पोषण करने वाला) है किन्तु ऋग्वेद में अन्य स्थलों पर इस धर्म का अभिप्राय ''सुबुद्ध निश्चित सिद्धान्त'' एवं ''धार्मिक क्रियाओं के नियम'' से है।

ऐतरेय ब्राह्मण में धर्म का अर्थ है – ''धार्मिक कार्यों का सर्वांग स्वरूप''। ये धार्मिक कार्य परलोक सुधारने, संसार सागर में तारने के लिए जप, व्रत, हवन, यज्ञ–यगादि ही थे। **छान्दोग्योपनिषद** में धर्म से तात्पर्य है–आश्रमों के विशिष्ट कर्तव्य और आश्रमों से सर्वांग जीवन का संतुलित, संयमित एवं समन्वित स्वरूप का निर्धारण अर्थात् धर्म सारे जीवन के कर्तव्यों से अपना संबंध रखता है।

तैतिरीयोपनिषद्, गीता, मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियों में धर्म का अभिप्राय प्रायः समान ही है, केवल उक्ति में शब्द पार्थक्य पाया जाता है। मनुस्मृति ''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'' कहकर धर्म के 10 लक्षण निर्धारित करती है। गीता के दैवी सम्पति में 26 लक्षण बतलाए गये हैं। मेधातिथि ने धर्म के 05 स्वरूप स्वीकार किये हैं – वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, वर्णाश्रम धर्म, नैमित्तिक धर्म, गुण धर्म। इन पाँचों स्वरूपों में मानव जीवन धर्म से ओत–प्रोत हो सकता है, क्योंकि ये उक्त स्वरूप जीवन श्रृंखला में परस्पर अनुस्यूत हैं। इनमें विच्छिन्नता नहीं आनी चाहिए। जैमिनी ने ''चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'' (पू.मी.सूत्र 1/1/21)तथा महर्षि कणाद ने अपने वैशेषिक सूत्र में धर्म का लक्षण ''यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'' बताया है।[3]

वास्तव में धर्म एक ऐसा व्यापक शब्द है, जिसके अर्थ को किसी निश्चित परिभाषा के शिकंजे में बाँधा नहीं जा सकता। धर्म की कोई एक परिभाषा संभव भी नहीं है।

आक्सफोर्ड डिक्शनरी में धर्म का अर्थ है कि व्यक्ति का ऐसी उच्चतर अदृश्य शक्ति पर विश्वास जो उसके भविष्य पर नियंत्रण करती है और जो उसकी आज्ञाकारिता, शील, सम्मान तथा अराधना का विषय है।[I] इस अदृश्य शक्ति को जिसे विभिन्न धर्मों में विभिन्न रूपों में स्वीकार किया गया है, धर्म का मूल तत्व कहा जा सकता है। पाश्चात्य विचारक एरिक फ्रोम धर्म का मनोवैज्ञानिक भेद करते हुए उसे निरंकुश धर्म और मानवीय धर्म दो रूपों में विभक्त करते हैं। मानवेतर शक्ति के सम्मुख समर्पण निरंकुश धर्म माना जायेगा इसमें ईश्वर शक्ति तथा सत्ता का प्रतीक है और इसके विपरीत मानवीय धर्म मनुष्य तथा उसकी शक्ति पर आधारित होता है। धार्मिक अनुभूति का अर्थ होता है सबके प्रति एकता का भाव और सबसे बडी सद्वृत्ति है आत्म लाभ न कि आत्म समर्पण। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म, ताओ, धर्म तथा ईसा सोक्रेटीज, स्पिनोजा आदि मत मानवीय धर्म हैं।[II]

टाइलर धर्म का अर्थ आध्यात्मिक प्राणियों में विश्वास मानते हैं। मिल्टन यिंगर धर्म को परिभाषित करने की अपेक्षा उसका वर्गीकरण करता उचित मानते हैं। यिंगर के मतानुसार ये वर्ग तीन तरह के हैं; प्रथम वर्ग की परिभाषा मूल्यात्मक होती है, जो यह स्पष्ट करती है कि धर्म क्या होना चाहिए। द्वितीय वर्ग की परिभाषा वर्णनात्मक होती है, जिसमें धर्म का वर्णन स्पष्ट अर्थों में किया जाता है और तृतीय वर्ग की परिभाषाऐं क्रियात्मक होती है, जिनमें यह स्पष्ट किया जाता है कि धर्म क्या करता है। इस अन्तिम वर्ग में धर्म की परिभाषा विराट हो जाती है। इन विभिन्नताओं के बावजूद जब सभी धर्मों को धर्म के अन्तर्गत मानते हैं तो इसका एकमात्र कारण है कि ये सभी एक जैसी समस्याओं को हल करते हैं।[III]

गेडीज मेक ग्रेगोर धर्म को एक प्रकार के जीवन की स्वीकृति स्वीकार करते हैं जो अपने से परे स्थित स्रोत को (जो सामान्यतः ईश्वर कहलाता है) मान्यता प्रदान करता है, जो मानवीय आचारण (जैसे विधि, नीति), संस्कृति (जैसे कला) तथा चिन्तन (जैसे दर्शन) के रूपों में पल्लवित होता है।[IV] धर्म की यह परिभाषा

व्यापक होकर भी अन्तिम नहीं है। अमेरिकी विश्व कोष में तो यहाँ तक लिखा है कि धर्म की समान रूप से स्वीकृत कोई परिभाषा है ही नहीं। 'रिलीजन (Religion)' लैटिन भाषा के शब्द रेलिगरे (Religare) से निकला है, जिसका अर्थ होता है बाँधना। इस व्युत्पत्ति के आधार पर यदि रिलीजन को समझा जावे तो उसका अर्थ उस वस्तु से होगा जो आराध्य तथा आराधक, उपास्य तथा उपासक को बाँधती है। वास्तव में धर्म का यही सृजनात्मक स्वरूप रहा है।[4]

भारतीय चिन्तन परम्परा में धर्म नैतिक नियमों के संग्रह के रूप में तथा राज्य की पूर्ववर्ती अनुशास्ति के रूप में व्यक्त होता है, अतः धर्म को राज्य सत्ता के संव्यवहार के औचित्य के मापदण्ड के रूप में भी चित्रित किया गया है। धर्म की विराट परिधि में नैतिक नियमों व्यवस्था के मूल आधारों, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के आधारभूत नियमों व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण की नैतिक अपेक्षाओं, परम्पराओं, अभिसमयों तथा राज्य द्वारा निर्मित विधियों तक को सम्मिलित किया गया है।

'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति 'धृ' धातु अर्थात धारण करना है, के आधार पर व्याख्या करने पर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में भी इसका यही अर्थ स्पष्ट होता है। धर्म शब्द के समतुल्य वैदिक साहित्य में एक अन्य शब्द 'ऋत' का उल्लेख मिलता है। 'ऋत' शब्द एक व्यवस्था के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'ऋत' शब्द से प्राकृतिक स्थिर व सुस्थापित तत्वों जैसे–सूर्य, उषा, संध्या, चन्द्र, दिवस, रात्रि आदि का बोध होता है। इस शब्द के साथ वैदिक और वैदिकोत्तर काल में नैतिक तत्व भी जुड़ गया। 'ऋत' शब्द का नैतिक प्रभाव इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद में ऋत का उल्लंघन 'पाप' घोषित किया गया और ऋत से मनुष्यों और देवताओं दोनों को बाध्य माना गया था।

अथर्ववेद में धर्म को धारण करने वाली या संचालित करने वाली मूल सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है और यह व्यक्त किया गया है कि धर्म से ही पृथ्वी दृढ़तापूर्वक स्थित की गई है। इस संदर्भ में धर्म को एक ऐसी सत्ता के रूप में समझा जा सकता है जो भौतिक और नैतिक समस्त दृष्टियों से सारी गतिविधियों व कार्यकलापों के संचालन का मूल आधार है। वेदों में अनेक स्थल

पर धर्म को विधियों की संहिता के रूप में और आचरण के नियमों के रूप में भी व्यक्त किया गया है।

ब्राह्मण साहित्य में धर्म के आध्यात्मिक विचार अथवा उसके पारलौलिक महत्व के साथ सांसारिक तत्वों के संयोग के उदाहरण देखने का मिलते हैं और यह स्पष्ट होता है कि धर्म मनुष्य के लौकिक आचरण के नियमन की व्यवस्था को भी व्यक्त करता है। लौकिक आचरण के नियमन को सुनिश्चित करने के लिए सांसारिक संस्थाओं को उत्तरदायी बनाया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में राजा को धर्म का संरक्षक घोषित किया गया है। यहाँ धर्म को मनुष्यों के समुदाय द्वारा पालन करने योग्य व्यावहारिक तथा नैतिक नियमों की संहिता के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। जब राजा से यह अपेक्षा की जाती है कि वह धर्म का संरक्षण करेगा तो इसका यह अर्थ है कि वह प्रजा के द्वारा उसके कृत्यों के सम्यक निर्वाह को अपनी शक्ति के प्रयोग द्वारा सुनिश्चित करेगा। शतपथ ब्राह्मण में राजा से धर्म का पोषण करने की अपेक्षा की गयी है अर्थात वह निरंकुश आचरण नहीं करेगा वरन् केवल उचित मार्ग का अनुसरण करेगा।

उपनिषदों में धर्म को सर्वोच्च सत्ता के रूप में व्यक्त करते हुए कहा गया है कि वह बलों का बल है अथवा शक्तियों की शक्ति है। इस प्रकार भौतिक दृष्टि से निर्बल व्यक्ति भी धर्म की सहायता से भौतिक दृष्टि से बलवान व्यक्ति पर शासन कर सकता है। व्यक्ति की सहायता के लिए धर्म के पूरक तत्व के रूप में राज्य की सत्ता है। इस प्रकार शारीरिक या भौतिक दृष्टि से कमजोर व्यक्ति भी धर्म व राज्य के संरक्षण में शक्तिशाली व्यक्तियों के विरुद्ध सुरक्षा व सुव्यवस्था के प्रति आश्वस्त हो सकते हैं। तैतिरीय उपनिषद, ब्रह्मोपनिषद तथा ईशावास्योपनिषद में धर्म को सत्य का पर्याय बताया गया है। इससे यह भाव भी व्यक्त होता है कि धर्म की सत्ता ही वास्तविक है।[5]

इस प्रकार वेद, उपनिषद, ब्राह्मणों और स्मृतियों में धर्म के सामाजिक पक्ष पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और धर्म को मानवीय आचरण के मापदण्ड के रूप में स्वीकार करते हुए यह व्यक्त किया गया है कि धर्म, व्यक्ति और समाज दोनों के लिए उपयोगी है व दोनों का कल्याण सुनिश्चित करता है। इस प्रकार

धर्म व्यक्तिगत आचरण और सामाजिक कर्तव्य दोनों का बोध कराता है। धर्म व्यक्ति के व्यक्तित्व, आध्यात्मिक और नैतिक विकास का तथा स्थिर, सुनियमित व सुसंचालित सामाजिक व्यवस्था का आधार बिन्दु है।

जी.एच.मीस द्वारा धर्म के विभिन्न अर्थों व तत्वों को सूचीबद्ध किया गया है। यह सूची पर्याप्त विविधतायुक्त है और इसमें धर्म के अनेक सम्भावित अर्थ सम्मिलित हैं। इस निम्नलिखित सूची से स्पष्ट होता है कि जिससे समस्त प्राणियों का संरक्षण तथा उन्नति हो, जिससे सम्पूर्ण समाज का पूर्ण व सर्वांगीण विकास हो वही धर्म है। धर्मः–

1. प्राचीन शब्द ऋत का समानार्थी शब्द।

2. नैतिक दृष्टि से उचित आध्यात्मिक कर्तव्य सदगुण।

3. अच्छे कृत्य

4. धार्मिक कर्तव्य, धार्मिक सदगुण।

5. आदर्श।

6. अन्तिम सत्य के रूप में ईश्वर का समतुल्य।

7. दिव्य न्याय वास्तविक और आदर्श दशाओं के मध्य समझौता।

8. अभिसमयों, परम्पराओं और रीतियों की संहिता।

9. सामान्य विधि।

10. अन्तर्राष्ट्रीय अथवा अन्तर्जातीय विधि।[6]

इस प्रकार भारतीय राजनीतिक चिन्तन में राज्य को धर्म पर आधारित मानदण्डों को स्थापित करने वाली उद्देश्यपूर्ण संस्था के रूप में चित्रित किया गया है। धर्म की व्यापक परिधि में नैतिक मूल्यों, सदाचार के शाश्वत सिद्धान्तों, सामाजिक व्यवस्था के आधारभूत नियमों, प्रजा के कल्याण के प्रति शासक से अपेक्षित मर्यादाओं आदि को सम्मिलित किया गया है।

इस सम्बन्ध में सभी एक मत हैं कि धर्म भारतीय राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र बिन्दु है। डॉ0 राधाकृष्णन के मतानुसार भी धर्म हिन्दू विचारधारा का एक अभिन्न अंग है। धर्म की कोई सटीक परिभाषा नहीं दी जा सकती किन्तु कह सकते हैं कि यह मनुष्य की नैतिक बाध्यताओं और कर्तव्यों का वर्णन करता है। धर्म का सम्बन्ध काल, स्थान, परिस्थिति, उम्र, लिंग, आचरण, व्यवहार, पेशा आदि से है। प्रत्येक का अपना धर्म होता है। एक व्यक्ति अपने जीवन की किस अवस्था अर्थात् आश्रम में है तथा किस जाति अर्थात् वर्ण का सदस्य है, इससे ही उसके कर्तव्य, विशेषाधिकार, नैतिक बाध्यताऐं निर्धारित होती हैं तथा इसके अनुकूल आचरण व व्यवहार ही उसका धर्म है।[7]

हिन्दू परम्परा में मोक्ष का मार्ग मानव अस्तित्व के तीन प्रयोजनों का संतुलन है, ये हैं – धर्म (समाज व्यवस्था के नियम), अर्थ (समृद्धि) और काम (आनन्द)। इनमें से धर्म सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। संक्षेप में धर्म का अर्थ कह सकते हैं–प्रत्येक मनुष्य द्वारा अपने वर्णाश्रम के अनुसार अपेक्षित आचरण और कर्तव्यों का निर्वाह करना। भारतीय चिन्तन में धर्म के अनुसार आचरण करने का तात्पर्य यह था कि मनुष्य जिस वर्ण में उत्पन्न हुआ है उस वर्ण के आधार पर और उस वर्ण के लिए विधि ग्रन्थों के रचयिताओं ने जो नियम बनाए हैं उनके अनुसार समाज में अपनी स्थिति और भूमिका को स्वीकार करना चाहिए। कर्तव्यों का अर्थ दायित्व था और अधिकारों की अपेक्षा दायित्वों पर बहुत अधिक जोर था। धर्म आवश्यक था क्योंकि उससे व्यक्तिगत सुरक्षा और सुख के साथ ही सामाजिक व्यवस्था की स्थिरता को बढ़ावा मिलता है।

हिन्दू परम्परा में, वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत धर्म के नियम उन विधि निर्माताओं द्वारा बनाये गये जो मुख्य रूप से ब्राह्मण वर्ण के सदस्य थे। इसलिए स्वभावतः उन लोगों ने अपने वर्ण की श्रेष्ठता को कायम रखने का प्रयत्न किया। चूँकि धर्म की परिभाषा करने वाले ब्राह्मण थे इसलिए अनिवार्यतः उसमें उनकी सहज श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया। इसके उपादान के रूप मे एक सामाजिक सोपान व्यवस्था की रचना करना आवश्यक था। सामाजिक सोपान व्यवस्था के प्रत्येक निचले सोपान के साथ सामाजिक, आर्थिक तथा कानूनी अधिकारों का क्षय होता जाता है। अधिकार मुख्य रूप से केवल सुविधा प्राप्त उच्च वर्णों को दिए

गए। निम्न वर्णों के भाग्य में केवल दायित्व ही दायित्व थे। समाज का सारा बोझ, शूद्रों और अस्पृश्यों के सिर आ पड़ा, जो किसी प्रकार की सुविधा या अधिकार का दावा नहीं कर सकते थे।

वर्ण व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि व्यक्ति किसी एक वर्ण/जाति में जन्म लेकर किसी अन्य वर्ण/जाति की स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता था। इससे व्यक्ति की सामाजिक गतिशीलता पर रोक लग गयी। इस व्यवस्था का संबंध हिन्दू धर्म की मूलभूत धार्मिक–दार्शनिक अवधारणा अर्थात कर्म के सिद्धान्त से भी जुड़ गया। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य इस जन्म में जो कर्म करता है उसी से उसके अगले जन्म का सुख–दुख और स्थिति निर्धारित होती है। इसलिए कोई मनुष्य जिस वर्ण/जाति की स्थिति में आज है वह उसके अपने कर्मों का फल है और वह अपनी स्थिति में धर्म का पालन करके सुधार कर सकता है और अगले जन्म में उच्चतर वर्ण जाति में उत्पन्न हो सकता है। यह वर्ण/जाति व्यवस्था की न्यायसंगति पर उंगली उठाने वालों को प्रत्युत्तर था।[8]

भारतीय राजनीति का मुख्य पहलू धार्मिक था जो राजनीतिक जीवन की मुख्य धारा में मिला। प्राचीन भारत के राज्यों पर धर्म गुरूओं अथवा पुरोहितों का प्रभाव रहा। इस कारण यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या प्राचीन भारतीय राज्य धर्म निगडित थे? धर्म निगडित राज्य में धर्मगुरू ही राज्य का स्वामी होता है, जैसा इस्लामी इतिहास में खलीफा। पश्चिम की तरह भारतीय वाग्मय में भी राज्य और सम्प्रदाय के संघर्ष की हल्की सी ध्वनि सुनाई पड़ती है। गौतम धर्म सूत्र (500 ई. पू.) में कहा गया है कि राजा का शासन ब्राह्मण वर्ग पर नहीं चल सकता और ब्राह्मण वर्ग की सहायता के बिना राजा का अभ्युदय नहीं हो सकता। ऋग्वेद में कहा गया है कि जो राजा अपने पुरोहित का यथोचित सम्मान करता है वह अपने शत्रुओं पर जय और प्रजा की राजनिष्ठा प्राप्त करता है। ब्राह्मण काल के अंत तक (1000 ई.पू.) ब्राह्मण पुरोहित राजा पर और उसके द्वारा राज्य पर अपना प्रभाव जमाने की चेष्टा करते रहे। राज्य का लक्ष्य धर्म की रक्षा करना था, वह जो कानून व्यवहार में लाता था वे ईश्वरकृत या ईश्वर प्रेरित माने जाते थे। ब्राह्मण और पुरोहित अपने को सरकार से वरिष्ठ समझते थे। इन कारणों से प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में कुछ हद तक राज्य तंत्र धर्मनिगडित था।

दूसरी ओर ऐसे स्थल भी हैं जिनसे स्थिति बिल्कुल विरूद्ध जान पड़ती है। तैतिरीय ब्राह्मण के अनुसार राजा जो चाहता है ब्राह्मण को वही करना पड़ता है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी कहा गया है कि राजा जब चाहे ब्राह्मण को निकाल सकता है। ब्रहदारण्यक उपनिषद के अनुसार समाज में सबसे ऊँचा पद राजा का है, ब्राह्मण उसके नीचे बैठता है। अतः यह कहना उचित नहीं कि वैदिक काल में राज्य की बागडोर पूर्णतया धर्मतंत्र के हाथ रही। पुरोहित का राज्य में सम्मान था किन्तु राजा उसके हाथ की कठपुलती कदापि नहीं था। शासन संस्था वास्तव में प्रधानतया समाज के मत का प्रतिबिम्ब थी। ई.पू. चौथी शताब्दी से तो राज्य पर धर्मतंत्र का प्रभाव उत्तरोत्तर कम होता गया। वैदिक कर्मों की प्रतिष्ठा कम हो गयी, पुरोहित का महत्व भी। राजनीति ने स्वतंत्र शास्त्र का रूप ग्रहण किया। राज्याज्ञा या विधि नियम धर्म और रूढ़ि–नियमों से स्वतंत्र माने जाने लगे और राज्यशास्त्रज्ञ उसका महत्व सर्वश्रेष्ठ मानने लगे। इस प्रकार हिन्दू राज्यतंत्र ईस्वी सन् के आरम्भ तक धर्मतंत्र के प्रभाव से करीब–करीब मुक्त हो गया। राजा धर्म का प्रतिपालक और संरक्षक अवश्य था परन्तु इससे राज्य धर्मनिगडित नहीं बन गया। उसका काम सब मतों को बराबर समझना और सच्ची धार्मिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना था। वह किसी विशिष्ट मत का प्रचारक नहीं था, न धर्मगुरूओं की कठपुतली बना था।

हर एक मनुष्य परमेश्वर का एक अंश या प्रतिबिम्ब है या उससे अभिन्न है। इस सिद्धान्त का असर राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक जीवन पर विशेष नहीं पड़ा। वर्ण व्यवस्था के तत्वों के सामने यह सिद्धान्त निष्प्रभ या निर्बल सिद्ध हुआ। शूद्र, चाण्डाल इत्यादि को भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्ति का अधिकार ब्राह्मणों के समान था, किन्तु उनको जातिभेद द्वारा निर्दिष्ट नीच किस्म का कर्म करना ही पड़ता था। उनके सम्पति के अधिकार सीमित थे व उनको अदालतों में अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता था। बौद्ध धर्म भी अपर वर्गों के सामाजिक अन्यायों के बारे में कुछ न कर पाया। केवल उसने विहार या संघ के द्वार सब लोगों के लिए खुले रखे थे, जैसे हिन्दुओं ने मोक्ष के द्वार सबके लिए खुले रखे थे। शाक्य, कोलिय, लिच्छवि इत्यादि गणतंत्र बौद्ध धर्म के उपासक थे, किन्तु उनमें जातिजन्य उच्चनीचता कड़े रूप में थी।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन की परम्परा में यह मानना पड़ेगा कि धार्मिक विचारधाराओं से प्राचीन भारतीय शासन पद्धति विशेष प्रभावित नहीं हुई, न मौलिक विचारों में, न राजनीतिक आचारों में।[9]

धर्म एक अनुभव है, आत्मा की वृत्ति है; ये कोई महज विचार नहीं वरन् शक्ति है; बौद्धिक तर्क मात्र नहीं, बल्कि जिन्दगी का दृढ़ निश्चय है। धर्म का तात्पर्य ईश्वरीय सिद्धान्त नहीं, वरन् एक परम सत्य से अवगत होना है। धार्मिक मनुष्य की पहचान कर्मकाण्डी या पण्डित होने से नहीं वरन् उसके आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनाने से होती है। सभी धर्मों का लक्ष्य उस परम सत्य की व्यावहारिक अनुभूति प्राप्त करना है।[10]

मनु ने ''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'' कहकर वेदों में वर्णित कर्मों के अनुसार आचरण करने को ही धर्म माना है।[11]

वेद, धर्मशास्त्र, सदाचार और आत्मसन्तुष्टि को धर्म के लक्षण स्वीकार किया है। धर्म को अर्थ व काम से अधिक श्रेष्ठ माना है व सत्य, अहिंसा की पालना करना, धर्म उपार्जन के लिए आवश्यक बताया है। धर्म में गहरी आस्था प्रकट करते हुए मनु ने माना है कि धर्म के प्रतिकूल आचरण करने वालों को समाजच्युत कर देना चाहिए। धर्म का नाश करने वाले व्यक्ति को धर्म ही मारता है।

मनु ने धर्म की उदार व्याख्या करते हुए इसे पवित्र नियमों व स्वकर्तव्य पालन से संबद्ध माना है व समाज व्यवस्था को सुसंगठित, शान्तियुक्त व समृद्धशाली बनाये रखने के लिए चार वर्णाश्रमों के धर्म का निर्धारण किया है। समाज को शिक्षित बनाने का दायित्व ब्राह्मण वर्ग को, रक्षा करने का दायित्व क्षत्रिय को, समृद्धशाली बनाने का दायित्व वैश्य वर्ग को सौंपा है। तीनों वर्गों की सेवा करना शूद्र का धर्म माना है। भगवद्गीता की ''स्वधर्मे निधनं श्रेयः'' की आदर्श अवधारणा का उल्लेख मनुस्मृति में प्राप्त होता है।

वर्णों की भाँति चारों आश्रमों के धर्मों का भी मनु ने निर्धारण किया है। ब्रह्मचारी का धर्म पढ़ना, ज्ञान प्राप्त करना; गृहस्थी का विवाह करके तीनों पुरूषार्थों धर्म, अर्थ व काम का सेवन करना व अन्य तीनों आश्रमों को पालन

करना; वानप्रस्थी का अपने अनुभव से आगे आने वाली पीढ़ी को ज्ञान देना व संन्यासी का निस्पृह, परोपकारी जीवन बिताना है।

मनु ने चार वर्णों का निर्धारण समाज की चार महत्वपूर्ण आवश्यकताओं के आधार पर किया है। बौद्धिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए ब्राह्मण वर्ग, जिसे वेदों व शास्त्रों का ज्ञान है। सामाजिक सुरक्षा की पूर्ति के लिए क्षत्रिय वर्ग, जिसके पास बाहुबल, साहस और धैर्य है। अर्थव्यवस्था का निर्वहन वैश्य वर्ग, जिसे अर्थशास्त्र का ज्ञान हो, जो पशुपालन और कृषि कार्य में भी दक्ष हो तथा भौतिक श्रम की आवश्यकता की पूर्ति शूद्र वर्ग द्वारा की जावेगी, क्योंकि उसके पास उपयुक्त तीनों ही योग्यताओं का अभाव है। कार्यों के महत्व की दृष्टि से भले ही कोई वर्ण कम या अधिक महत्वपूर्ण हो, किन्तु समाज के एक अंग होने के नाते सभी समान हैं।

मनु ने शूद्रों को स्वतंत्र नागरिक नहीं माना है और उनकी स्थिति एक दास के तुल्य मानी है। मनु ने किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य को दास बनाने का निषेध किया है। इस भेदभाव पूर्ण दृष्टिकोण को अपनाये जाने का मनु द्वारा कोई तर्कसंगत आधार अथवा औचित्य प्रस्तुत नहीं किया गया है। मनु के चिन्तन का केन्द्रीय विषय सामाजिक व्यवस्था को अक्षुण्य रखना रहा है। जहाँ तक मनु द्वारा शूद्रों को वेदों के अध्ययन से वंचित रखने का सवाल है, उनकी गरिमा को बनाये रखने के लिए इनका अध्ययन वहीं व्यक्ति करें जो पर्याप्त बौद्धिक योग्यता रखते हों।

मनु ने पतिव्रता नारी धर्म और नारी के प्रति पुरूष धर्म का भी उल्लेख किया है। ''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।''[12] जैसी महान विचारधारा का प्रतिपादन किया है। पारिवारिक जीवन में स्त्रियों की श्रेष्ठता और गरिमा के प्रतिपादन के बावजूद मनु स्त्रियों को सामाजिक क्षेत्र में स्वतंत्रता का निषेध करते हैं। मनु के चिन्तन का केन्द्रीय विषय सामाजिक व्यवस्था को अक्षुण्ण रखता है, अतः मनु द्वारा कही गई यह बात कि स्त्रियाँ बाल्यावस्था में पिता के, युवावस्था में पति के तथा वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रहे तथा किसी भी अवस्था में स्वतंत्र न रहे[13] से भी स्त्रियों की स्वतंत्रता का हनन नहीं होता। पिता, पति और पुत्र के

रूप में पुरूषों के स्त्रियों के प्रति कर्तव्यों को गिनाया गया है, इसमें स्त्री स्वतंत्रता का कोई निषेध नहीं है। यहाँ स्वतंत्र न रहे का आशय भी सरंक्षण विहीन न रहने से है। संरक्षण की अवस्था में उनके प्रति घटित होने वाले अपराध भी नहीं होंगे या अपराधों की संख्या में कमी आयेगी।

सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत विवाद, कर्मकाण्ड, धार्मिक स्तर, वर्ण व्यवस्था, उत्तराधिकार, विवाह के नियम, स्त्री–पुरूष धर्म, आपात्काल के धर्म एवं वर्णों की प्रायश्चित विधि, देश धर्म, जाति धर्म, कुल धर्म एवं पाखण्डियों के धर्म आते हैं। राजा धर्मशास्त्र में वर्णित इन सामाजिक नियमों से नियंत्रित है। इन्हें कायम रखने के लिए वह बाध्य है। मनु ने जिस सामाजिक व्यवस्था के आधार पर राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण किया है वह वैदिक है। राजा का अस्तित्व वैदिक व्यवस्था के संचालन पर ही निर्भर है। राजा दण्ड के माध्यम से समाज संचालन का माध्यम बना। यदि राजा ईमानदारी से समाज संचालन में दण्ड का प्रयोग नहीं करता तो उसी दण्ड से उसकी हत्या भी संभव है, स्पष्ट है कि राजा सामाजिक व्यवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता, वह संचालन में साध्य नहीं मात्र साधन है।

समस्त धर्मों के पालन के लिए मनु ने राजा को उत्तरदायी मानते हुए राजधर्मों का वर्णन किया है। राजा का परम् धर्म प्रजा का पालन पोषण पिता के समान करना, धर्मों का पालन करवाना व स्वयं भी शास्त्र और प्रचलित प्रथाओं से अनुमोदित धर्म का पालन करना है। बच्चे, वृद्ध, रोगी व स्त्रियों के जान–माल की रक्षा करना, दुष्टों को दण्ड देना भी राजा का धर्म है। राजा को सभी प्राणियों को अभय प्रदान करने वाला, उनकी रक्षा के लिए न्यायोचित दण्ड धारण करने वाला, धर्म का प्रतिरूप माना गया है।[14]

राजनीति प्रणाली के भी धर्मपूर्वक संचालन का उल्लेख मनुस्मृति में मिलता है। राजा का धर्म देश की रक्षा व शासन व्यवस्था को चलाने के लिए सात या आठ शस्त्र विद्या में निपुण मंत्रियों की नियुक्ति, उनसे मंत्रणा करना, योग्यतानुसार विभागों का विभाजन, प्रजा रक्षा के लिए शत्रु की युद्ध की चुनौती को स्वीकार करना, सेना की स्थिति सुदृढ़ बनाना, गुप्तचरों की नियुक्ति करना, मण्डल सिद्धान्त

को बनाये रखना, षाड्गुण्य नीति का पालन करना, सप्तांगों की सुदृढ़ व्यवस्था बनाये रखना, कोष की स्थिति सुदृढ़ रखना इत्यादि हैं।

मनुस्मृति में सबसे अधिक महत्व उसके राजनीतिक सिद्धान्तों के आधार पर है। मनु ने राजशास्त्र को भी धर्मशास्त्र माना है। राजा के कर्तव्य में राजा के सहायक दायित्वों में धर्म का ही समावेश किया है। मनु के अनुसार वह व्यक्ति ही राजा हो सकता है, जो धार्मिक होता है, क्योंकि मनुष्य में धार्मिक प्रवृति होने पर ही वह उचित रूप से न्याय करने एवं दण्ड देने में सक्षम होता है। मनु द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक सिद्धान्त आज भी प्रासंगिक है, वर्तमान काल में भी किसी न किसी रूप में समाज से जुड़े हुए हैं। राजा की दैवी उत्पत्ति, जिसमें ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्रमा और कुबेर आठ देवताओं का समावेश राजा के अन्तर्गत किया है, संसार की रक्षा के लिए ही प्रभु ने राजा की रचना की। वर्तमान में राजा/शासक/सरकार दण्ड को धारण करता है तथा समाज के जो व्यक्ति अपनी शक्ति का अनुचित प्रयोग करते हैं या निर्बलों के साथ अनुचित व्यवहार करते हैं, उन्हें दण्डित करता है, यही उसका धर्म है।

मनु ने राज्य के सात आवश्यक अंग–स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र माने हैं, सातों अंग एक–दूसरे पर निर्भर हैं तथा परस्पर की अपेक्षा पूर्व–पूर्व अंक अधिक महत्वपूर्ण हैं। आज परिवर्तित राजव्यवस्था में राष्ट्र अध्यक्ष विद्यमान हैं और उनके परामर्श के लिए मंत्रिपरिषद और मंत्रिमण्डल अनिवार्य है। राजा के कर्तव्य और दायित्व का निर्वहन करने के लिए जिस प्रकार सप्तांग सिद्धान्त था उसी प्रकार आज भी वह व्यवस्था लागू है। मनु ने राजा का प्रमुख धर्म प्रजा की रक्षा माना है अतः अपनी विजय के लिए राजा को चार उपाय साम, दान, दण्ड और भेद अपनाकर शत्रु को वश में करना चाहिए। साथ ही सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय इन छः गुणों की राजा सदा चिन्ता करे।[15]

धर्म पालन के लिए राजा व राजदण्ड अत्यन्त आवश्यक समझे गये थे। बहुसंख्यक नागरिकों के न्यायानुकूल आचरण करने का वास्तविक कारण यह है कि दण्ड के भय से सदाचारी बनना उसका स्वभाव ही बन जाता है। व्यक्ति का

अन्तिम दायित्व शासन सत्ता की ओर था। मनु कहते हैं, राजा नररूप में देवता है और सबको उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए, किन्तु राजा के देवतांशत्व का यह अर्थ नहीं है कि आँख मूँदकर उसकी आज्ञा का पालन किया जाये। कुशासन तथा कर्तव्य की अवहेलना करने पर राजा को सिंहासन से उतारने और वध करने का अधिकार भी प्रजा को मनु ने दिया था। प्रजा राजा को कर देने और उसकी आज्ञापालन करने को इस शर्त पर तैयार होती थी कि राजा उसकी रक्षा करे। अतः प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राज्य के प्रति कर्तव्य का आधार यह सहमति ही थी। हमारे विधान शास्त्रियों ने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि अपने कर्तव्यों से च्युत होने और प्रजा की सुरक्षा और सुव्यवस्था करने में असमर्थ होने पर राजा को पागल कुत्ते की भाँति मार डालना चाहिए।

सप्तांग का सिद्धान्त भी राजनीतिक कर्तव्यों का आधार है। सरकार और प्रजा दोनों शरीर के अंग है, दोनों परस्पर सहयोग से ही काम कर सकते हैं और संघर्ष होने पर दोनों का नाश अवश्यंभावी है। राज्य अपने कार्यों द्वारा प्रजा की इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति का प्रयत्न करता है, उसे इस कार्य में सफलता तभी मिल सकती है जब प्रजा भी अपने कर्तव्यों का पालन करे। अतः चूंकि राज्य प्रजा की नैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नति की कोशिश करने में यत्नशील रहता है, प्रजा को भी चाहिए कि वह अपने राजनीतिक कर्तव्यों का पालन करके राज्य का मार्ग सुगम बनाए।[16]

अपने राज्य व प्रजा को समृद्धशाली बनाने के लिए राज्य धर्मपूर्वक अपने राज्य की सीमा में वृद्धि करता था। अन्तर्राष्ट्रीय नीति के सम्बन्ध में धर्म का पालन करता था। मण्डल सिद्धान्त शक्ति संतुलन बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता था। युद्ध की बाध्यता होने पर ही राजा धर्मपूर्वक युद्ध करता था।

मनु आदि प्राचीन भारतीय आचार्य जानते थे कि युद्ध का एकदम त्याग कर देना संभव नहीं, अतः युद्ध की संभावना यथा संभव कम करने के लिए उन्होंने विविध राज्यों के मण्डल बनाकर उनमें शक्ति संतुलन कायम रखने की व्यवस्था की थी। मण्डल नीति शक्ति संतुलन के सिद्धान्त पर ही आधारित हैं। मनु ने विभिन्न राज्यों में प्रायः जो संबंध रख सकते हैं, उन्हें समझाते हुए दुर्बल राज्यों को अपने से अधिक शक्तिशाली पड़ोसी राज्यों से सावधान रहने की सलाह दी और इनकी

विस्तार नीति से अपनी रक्षा के हेतु अन्य समान या न्यूनाधिक बलवाले राज्यों से मैत्री स्थापित करके ऐसा मण्डल बनाने ही सलाह दी है जिस पर आक्रमण करने का शत्रु को साहस ही न हो। वर्तमान में संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे संगठन के बावजूद वैश्विक राजनीतिक परिस्थितियाँ वैसी ही हैं।

मनु का राजा सदैव धर्म में तत्पर रहता है। प्रजा व राज्य के योगक्षेम के लिए राजा का धर्म है कि वह अलब्ध को प्राप्त करने, प्राप्त वस्तु की रक्षा करने, रक्षित की वृद्धि करने व वृद्धि हुए धन को सुपात्रों में वितरित करने का सुप्रयास करे।[17] प्रजा के साथ धोखाधड़ी करने वाले, रिश्वत लेने वाले अधिकारियों को दण्ड देना भी राजा का धर्म है। इसके लिए मनु ने राजा को न्यायालय स्थापना करने का सुझाव दिया है। राजकार्य के लिए नियुक्त अधिकारियों को उचित वेतन निर्धारित करना, प्रजा से कर ग्रहण करना, अपने राज्य में चिकित्सा की, खान, कारखानों, भण्डार की व्यवस्था करना भी राजा का धर्म है। मनु के अनुसार वही राजा स्वर्ग का अधिकारी होता है, जो धर्मपूर्वक कार्य करता है, सदाचारी लोगों की रक्षा व दुष्टों को दण्डित करता है।

वर्तमान में भी राजनीति के संदर्भ में मनु के उक्त विचार प्रासंगिक है। यही वो कालजयी राजनीतिक सिद्धान्त हैं, जिन्हें अमल में लाकर आज लोकतांत्रिक शासन में भी शासक सफलता प्राप्त कर सकता है, जनता का विश्वास जीत सकता है।

मनुस्मृति में हमें दो विरोधी मत दृष्टिगोचर होते हैं। एक–असीमित राजतंत्र का जब मनु कहते हैं कि राजा चाहे बालक हो, उसे मनुष्य मानकर अपमानित नहीं करना चाहिए क्योंकि उसमें देवत्व है, यह विचार राजा को स्वेच्छाचारी बनाता है। दूसरा मत–सीमित राजतंत्र का है, जहाँ मनु ने धर्म और दण्ड की कल्पना करके राजा की असीमित शक्ति को धर्म और दण्ड के अधीन कर दिया है।

वास्तव में मनुस्मृति स्वतंत्र राजा की कल्पना नहीं करती। सभी लोकपालों के गुण राजा में होते हैं; लोकपालों के अंशभूत होने के कारण वह साधारण प्राणियों से श्रेष्ठ समझा जाता है। यदि मनु अपने सिद्धान्त को यहीं तक सीमित कर देते तो यह कहा जा सकता था कि मनु ने राजा को देवांश भूत बनाकर

जनसाधारण को मूक होकर उसकी आज्ञाओं का पालन करने का विधान किया। परन्तु मनु ने इससे आगे बढ़कर राजा को अपने गुणों के अनुरूप आचरण करने का जो उपदेश दिया है, वही राजा की स्वेच्छाचारिता की सीमा बन जाता है तथा वही राजा का धर्म बन जाता है। राजा इस धर्म का अतिक्रमण करने का अधिकार नहीं रखता, क्योंकि ऐसा करने से वो देवत्व से गिरता है। मनुस्मृति यह भी कहती है कि राजा के प्रजारक्षण के प्रयोजन की सिद्धि के लिए दण्ड की सृष्टि की गई। यह दण्ड ब्रह्मतेज से युक्त था अर्थात् इसकी भी ईश्वरीय सृष्टि थी, तथा यह धर्म का रूप था। इसी दण्ड के भय से सभी प्राणी अपने स्वाधिकार के भोग में समर्थ होते थे और अपने धर्म से विचलित नहीं होते थे। मनु ने राजा के देवत्व के साथ–साथ कर्मों को उसका धर्म बना दिया। राजा भी एक प्राणी है इसीलिए उसके धर्म को भी अक्षुण्ण बनाये रखना दण्ड की सृष्टि का एक प्रयोजन कहा जा सकता है।[18]

मनु का राजा निरंकुश नहीं है, न ही असीमित प्रभुसत्ता का उपभोग करता है। वह प्रत्येक कार्य में धर्म से बँधा हुआ है। मनु के दर्शन में जनसम्प्रभुता के लक्षण भी दिखाई देते हैं। मोटवानी ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि राजा को सदा ही यह समझना चाहिए कि वह धर्म के नियमों के अधीन है। कोई भी राजा धर्म के विरुद्ध व्यवहार नहीं कर सकता; धर्म राजाओं और मनुष्यों पर एक समान ही शासन करता है। इसके अतिरिक्त राजा राजनीतिक प्रभु जनता के भी अधीन है। वह अपनी शक्तियों के प्रयोग में जनता की आज्ञा पालन के लिए क्षमता से सीमित है। जो राजा जनता को सताता है, उसका जीवन और राज्य जनता छीन सकती है। मनु ने कुछ सीमा तक जनता की राजनीतिक प्रभुता को माना है। जनता को सभी प्रकार के कष्टों से रक्षा पाने का अधिकार है और राजा को कभी भी अपनी सत्ता की सीमाओं का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।[19]

मनु के राजा की स्थिति, वर्तमान जनतांत्रिक शासकों के समान प्रतीत होती है। मनु का राजा प्रजा के प्रति उत्तरदायी है, संविधान रूपी शास्त्रों का अनुसरण करता है, धर्म का पालन न करने पर सत्ता से वंचित किया जा सकता है। जायसवाल ने भी स्वीकार किया है कि मानव धर्म ने पुरानी स्थिति को अपनाया है : ''केवल ऐसा ही राजा जो अभिषेक के समय ली गई शपथ के प्रति ईमानदार

और सच्चा है, शास्त्रों का अनुसरण करता है; और मंत्रियों के साथ शासन करता है, दण्ड को धारण करता है; ऐसा राजा नहीं जो स्वेच्छाचारी हो, लालची और मूर्ख हो।''[20]

मनु ने निःसंदेह यह कहा है कि जनता राजा को गद्दी से उतार सकती है और मार सकती है। जो राजा अपनी मूर्खता से प्रजा को बिना सोचे–समझे सताता है, उसे शीघ्र ही जनता उसके संबंधियों सहित राज्य और जीवन से वंचित कर देगी। अति प्राचीन काल से ही राजा को जनता का सेवक समझा गया है। मेधातिथि मानव धर्मशास्त्र के श्लोकों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि राजा के देवत्व संबंधी श्लोक केवल शब्द ही हैं, उनमें कानूनी शक्ति नहीं है। मनु के श्लोकों में उल्लिखित राजा के आदेश और कानून महत्वहीन मामलों से संबंध रखते हैं।

मनुस्मृति में वर्णित राजधर्म अत्यन्त विशाल एवं व्यापक विषय है। मनु ने राजा के विस्तृत अधिकारों एवं कर्तव्यों के विवेचन के अतिरिक्त राजा के सहायक मंत्रियों के दायित्व एवं राजनीतिक सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया है। मनुस्मृति के कतिपय विधान यथा वेद के प्रति अत्यधिक आस्था, नारी की स्वतंत्रता का निषेध, शूद्र की सामाजिक स्थिति, ब्राह्मण वर्ण को अतिशय महत्व देना आदि अप्रासंगिक लगते हैं तथा इन विषयों को लेकर उनकी निन्दा भर्त्सना भी बहुत होती है लेकिन मानव संबंधित शाश्वत मूल्यों के प्रतिष्ठाता व प्रतिपादक होने के कारण मनुस्मृति प्रत्येक काल खण्ड में प्रासंगिक रहेगी।

मनुस्मृति के समान ही कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी धर्म का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य का मानना है कि धर्म एवं अर्थ के अविरोध में ही काम की तृप्ति करनी चाहिए। बिना आनन्द के जीवन नहीं बिताना चाहिए। यद्यपि अपनी मान्यता के अनुसार कौटिल्य ने अर्थ को ही प्रधानता दी है क्योंकि अर्थ से ही धर्म और काम की उत्पत्ति होती है। फिर भी चार वर्णों व आश्रमों के धर्मों का निर्धारण कर राजा का धर्म प्रजा को धर्म मार्ग से भ्रष्ट न होने देना है। धर्म के पालन से ही राजा की इहलोक व परलोक में सद्गति होती है। धर्म से रक्षित प्रजा ही सुखी रहती है।

वेदत्रयी के अनुसार कौटिल्य ने समाज की सुस्थापना, श्रेष्ठ मर्यादा की स्थापना के लिए चारों वर्णों और आश्रमों के धर्मों का उल्लेख किया है। मन, वचन, कर्म से किसी तरह की हिंसा न करना, सत्य बोलना, पवित्र रहना, ईर्ष्या न करना, निष्ठुर न होना क्षमाशील होना ये सभी वर्णों व आश्रमों के लिए सामान्य व पालनीय धर्म है।[21]

अर्थशास्त्र के अनुसार राजा का धर्म है कि वह पिता के समान प्रजा का पालन करे। प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा के हित में राजा का हित है। राजा के लिए प्रजा के सुख से भिन्न सुख नहीं, प्रजा के सुख में ही उसका सुख है। राजा का धर्म सबल से निर्बल की रक्षा करना व प्रजा के धन–जन की दुष्टों से रक्षा करना है।

कौटिल्य ने वर्ण व्यवस्था को समाज के स्थायित्व और विकास के लिए आवश्यक माना है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि राजा को वर्ण व्यवस्था बनाये रखने के लिए प्रयास करना चाहिए। उसे ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे वर्ण व्यवस्था के कमजोर होने की संभावना हो। कौटिल्य ने वर्ण व्यवस्था में चारों वर्णों के लिए अलग–अलग कार्यों का विवरण दिया है और उन्हें अपने कार्यों को निष्ठापूर्वक करने की हिदायत भी दी है। उन्होंने किसी खास वर्ण या जाति के विरुद्ध तिरस्कार करने की बात नहीं की है, बल्कि वर्णों के बीच सामंजस्य एवं सहयोग का परामर्श दिया है। कौटिल्य का विश्वास है कि राज्य की समृद्धि के लिए विभिन्न वर्णों के बीच सहयोग और समन्वय आवश्यक है, अतः राजा किसी वर्ण की उपेक्षा न करे।

कौटिल्य ने न केवल वर्ण व्यवस्था के औचित्य और उपयोगिता पर बल दिया है, वरन् व्यावहारिक जीवन में उसे क्रियान्वित करने के उद्देश्य से अनेक प्रावधान भी किये हैं। वह राज्य तथा सामाजिक व्यवस्था में वैश्यों एवं शूद्रों को यथोचित स्थान देते हैं। वह उन्हें राजकीय कार्यों में सहभागिता प्रदान करते हैं। गुप्तचर जैसे महत्वपूर्ण पद पर भी शूद्रों की बहाली की अनुशंषा कौटिल्य ने की है।

वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्ति को सामूहिक हित चिंतन की ओर अग्रसर करना है, जबकि व्यवस्था उसके व्यक्तिगत उन्नयन की दिशा–निर्देशित करती है। आश्रम व्यवस्था ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास से यह अपेक्षा की जाती है कि इसके द्वारा मनुष्य त्याग और तपस्या को अपनाकर अपने कलुषों को दूर कर अपना उत्थान करेगा और समाज के अभ्युदय में महत्वपूर्ण योगदान दे सकेगा। कौटिल्य ने वर्णाश्रम व्यवस्था को नैसर्गिक और कल्याणकारी रूप में देखा है।

कौटिल्य के अनुसार प्रत्येक वर्ण और आश्रम का अलग–अलग धर्म है जिसका पालन निष्ठापूर्वक किया जाना चाहिए। सभी वर्णों और सभी आश्रमों का सार्वभौम धर्म यह है कि वह किसी प्रकार की हिंसा न करे, सत्य बोले, पवित्र बना रहे, किसी से ईर्ष्या या द्वेष न करे तथा दयावान और क्षमाशील बना रहे। स्वधर्म पालन करने की अनिवार्यता पर बल देते हुए कौटिल्य ने कहा है कि स्वधर्म पालन करने से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। उसका पालन नहीं करने से वर्ण तथा कर्म में संकीर्णता आ जाती है और लोक का नाश हो जाता है। कौटिल्य ने राजा को निर्देश दिया है कि वह अपनी प्रजा को धर्म और कर्म मार्ग से भ्रष्ट न होने दे। अपनी प्रजा को धर्म और कर्म में प्रवृत्त रखने वाला राजा लोक और परलोक दोनों में सुखी रहता है।[22]

कौटिल्य समाज में स्त्रियों को सम्मानित स्थान प्रदान करते हैं। उनके संरक्षण की जिम्मेदारी राज्य को सौंपी है। राज्य का प्रमुख कर्तव्य है कि वह स्त्रियों के जान–माल और अस्मिता की रक्षा करे। यद्यपि कौटिल्य ने स्त्रियों को पारिवारिक जीवन में सम्मानजनक स्थान, विवाह के क्षेत्र में पुनर्विवाह, तलाक आदि में पुरूषों और स्त्रियों को समान अधिकार देकर क्रान्तिकारी विचारों का सूत्रपात किया है तथापि सम्पूर्ण सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में पुरूष प्रधानता का ही समर्थन किया है।

कौटिल्य के अनुसार सही ढंग से राजकाज संचालन के लिए धर्म की उपयोगिता है। धर्म का पालन राजनीतिक उपयुक्तता है। स्वामी अर्थात् राजा समाज या राज्य का केन्द्र बिन्दु है, इसलिए यह उसका परम कर्तव्य है कि वह न केवल अपने राज्य के अन्तर्गत वरन जीते हुए भू–भागों में भी धर्म का पालन

करवाये। अर्थशास्त्र के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र मनुष्य के धार्मिक, आर्थिक व सामाजिक सभी कार्यकलापों में व्याप्त है, अतः राजा का धर्म भी व्यापक है। राजा धर्मप्रवर्तक है, अतः उसे उदारचरित्त व कर्मठ होकर धार्मिक नियमों का पालन करना चाहिए व अधर्म और अनर्थ से युक्त व्यवहार का परित्याग करना चाहिए।

अर्थशास्त्र में धर्म और राजनीति विषय पर कोई स्वतंत्र अथवा पृथक खण्ड नहीं है, किन्तु विभिन्न स्थलों पर कौटिल्य के विचारों से आभास होता है कि धार्मिक विचार किस प्रकार आन्तरिक नीति को ढालते हैं और यह भी कि बाह्य शत्रुओं के संबंध में धर्म कितना प्रभावी साधन है। आंतरिक नीति में कौटिल्य राज्य में ब्राह्मण सामाजिक व्यवस्था को मान्यता देते हैं तथा ब्राह्मणों की धार्मिक प्रथाओं का पालन करते हैं। वैदिक धर्म के आधार पर विकसित ब्राह्मणवाद को अर्थशास्त्र में वर्णित राज्य की आधारशिला कह सकते हैं। कौटिल्य वर्णाश्रम को स्वीकारते हुए बलपूर्वक कहते हैं कि प्रत्येक वर्ण को अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए, यदि व्यक्ति अपने वर्ण धर्म अर्थात् कर्तव्यों का पालन नहीं करते तो सामाजिक व्यवस्था भंग हो जायेगी। राजा का धर्म है कि वह लोगों को अपने कर्तव्यों से विचलित न होने दे।

कौटिल्य की राज्य की बाह्यनीति भी धार्मिक विचारों से प्रभावित है। विजित प्रदेशों की जनता की धार्मिक भावनाओं और व्यवहारों आदि का विजयी राजा को ध्यान रखना चाहिए। स्थानीय देवताओं की पूजा करनी चाहिए। धार्मिक व बौद्धिक नेताओं को उपहार तथा करों में छूट देनी चाहिए। राजा को अधार्मिक प्रथाओं को हटाकर उनके स्थान पर धार्मिक प्रथाऐं स्थापित करनी चाहिए। अर्थशास्त्र में विभिन्न प्रकार के धार्मिक कर्मकाण्ड भी स्वीकार किए गये हैं।[23]

नैतिकता के प्रति कौटिल्य के दृष्टिकोण में दोहरी आवाज सुनाई देती है। प्रथम उसने धर्म और अर्थ के स्तर को राजा के व्यवहार, युवराज के प्रशिक्षण और राजघराने पर होने वाले वाले व्यय संबंधी बातों पर लागू किया है। दूसरा पहलू अन्तर्राज्य संबंधों के क्षेत्र में दिखाई देता है। शासन कला में इस प्रकार की अनैतिकता को उसने राजा के हित तथा शासक वंश के हित में न्यायोचित ठहराया है। धर्म के प्रति कौटिल्य का रूख लौकिक था, उदासीनता का नहीं।

कौटिल्य का राजा धर्म से बँधा था। प्रशासन के सभी कार्यों में वह मंत्रियों से परामर्श लेता था। राजा पर पुरोहित और ब्राह्मणों का भी पर्याप्त प्रभाव था। राजा अपना शासन केवल शक्ति पर ही आधारित नहीं रख सकता था और अत्याचारी राजा को प्रजा सिंहासन से हटा सकती थी। राजा द्वैष फैलाने वालों का दमन कर सकता था, द्रोह करने वालों तथा शत्रुओं के मध्य वैमनस्य व झगड़ों के बीज बोने के लिए गुप्तचरों का प्रयोग करना चाहिए। कौटिल्य नीति के अनुसार राजा को अपराधियों को धोखे से मरवा देना चाहिए। यह हमारे युग के सर्वाधिकारवादी राज्यों की नीति का परिचायक है।[24]

कौटिल्य के अनुसार राजा अत्याचारी नहीं हो सकता चाहे वह कुछ बातों में स्वेच्छाचारी रहे, क्योंकि वह धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्र के सुव्यवस्थित सिद्धान्तों के अधीन रहता है। वह अपना राज्य और जीवन खोये बिना ग्रीस के अत्याचारी राजाओं जैसा नहीं बन सकता क्योंकि राजा का पद सर्वोच्च था, वह जनता से न तो पृथक था और न उसके लिए विदेशी ही और वह जैसा चाहे जनता के प्रति व्यवहार करने के लिए स्वतंत्र भी न था।[25]

राजा का धर्म उद्योग के द्वारा योग व क्षेम का सम्पादन करना, गुप्तचरों के माध्यम से अपने व पराये राष्ट्र की व्यवस्था करना, दूतों की व्यवस्था करना, निजी व्यवहार में भी प्रजा का हित देखना, प्रशासनिक व्यवस्था, राजस्व आदि का प्रबन्ध करना, दरबार में उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति की बात सुनना, अबला, वृद्ध सभी की देखभाल करना, कृषि व्यापार का विशेष ध्यान रखना, जलमार्ग, स्थल मार्ग, जलाशयों का प्रबन्ध करना, प्रजा पीड़क चोर आदि को दण्डित करना आदि हैं।

कौटिल्य एक यथार्थवादी विचारक हैं। इन्होंने राजा को शास्त्र और शस्त्र दोनों का प्रयोग करते हुए धर्मपूर्वक शासन करने का निर्देश दिया है। राजा का धर्म कि वह यथासामर्थ्य तीन या चार मंत्रियों को राजकार्य के संचालन के लिए नियुक्त करे, सप्तप्रकृति के मध्य समुचित संतुलन रखे, संसार को ठीक रास्ते पर चलाने के लिए सदा उद्यत रहे, मिथ्यावादी, अपराधी व भ्रष्ट अध्यक्ष को दण्डित करे। धर्मपूर्वक प्रजा से कर ले, मण्डल सिद्धान्त के द्वारा धर्मराज्य की स्थापना बनाये रखे। उचित अवसर मिलते ही राजा को युद्ध का आश्रय लेकर अपनी सीमा

बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए। राज्य की उन्नति के लिए राजा का धर्म है कि वह धर्मयुद्ध तो करे ही परिस्थिति के अनुसार कूटयुद्ध का भी सहारा ले। धर्मात्मा राजा विजय के पश्चात शत्रु देश की प्रजा को प्रत्येक परिस्थिति में संतुष्ट रखे। सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतकर धर्मपूर्वक शासन चलाना राजा का सर्वोच्च धर्म है।

कौटिल्यीय राज्य की नीति की परिकल्पना उनको धार्मिक मान्यताओं से पृथक रखकर नहीं की जा सकती। कौटिल्य एक व्यावहारिक, यथार्थवादी दृष्टिकोण में विश्वास रखते हैं। राज्य की नीतियों के क्रियान्वयन में धर्म की प्रमुखता के संबंध में दो परस्पर विरोधी बातें सामने आती हैं। ब्राह्मणीय जीवन पद्धति जिस अंश तक कौटिल्य के राज्य के मुख्य उद्देश्य के अर्थात् वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के अनुकूल हैं उस अंश तक वह उसका पक्षधर है, लेकिन जो धार्मिक रीतिरिवाज राज्य शक्ति के विस्तार में बाधक है, उनका वह त्याग कर देता है। कौटिल्यीय राज्य अपेक्षाकृत सहिष्णु तो है, किन्तु उसकी धर्मनिरपेक्षता संदेहास्पद है। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ राज्य की संगठित नीतियों से धार्मिक प्रभाव का पूर्ण बहिष्कार है, जो कौटिल्य के राज्य में देखने को नहीं मिलता। भारतीय परम्परा में कौटिल्य का विशेष महत्व इस बात में निहित है कि उसके ग्रन्थ में राज्य के हित साधन के निमित अनेक प्रकार से धर्मदृष्टि की अवहेलना की गई है। इस अर्थ में उन्होंने राज्य व्यवस्था शास्त्र की रचना तथा उसे धर्म और धर्मदर्शन के प्रभाव से मुक्त करने की दिशा में गंभीर प्रयास किया है। लेकिन जिस समाज में वह रहता है, उसका स्वरूप चूंकि मुख्यतः धार्मिक था, इसलिए वह राज्य को धर्म की अधीनता से पूर्णतः मुक्त नहीं करा पाए।

कौटिल्य ने धर्म और राजनीति में अभिन्न संबंध माना है। धर्म राज्य का आधार है। धर्म और राजनीति में श्रेष्ठता के दृष्टिकोण पर कौटिल्य का झुकाव राजनीति की ओर प्रतीत होता है। कौटिल्य ने राजनीति पर धर्म की श्रेष्ठता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है। यह सत्य है कि कौटिल्य ने राजकाज में धर्म को उच्च स्थान दिया है, परन्तु उसने राज्य या राजा से उसे ऊपर या श्रेष्ठ नहीं माना है। कौटिल्य धर्म को राज्य का उद्देश्य नहीं मानते, धर्म को राज्य के उन्नयन या संवर्द्धन का एक उपकरण मात्र मानते हैं। उन्होंने धर्म, अर्थ और काम तीनों को समान स्थान दिया है। कौटिल्य की यह मान्यता है कि यदि राज्य का अस्तित्व

नहीं होगा तो धर्म भी नहीं होगा। राज्य के संदर्भ में ही धर्म का महत्व और आवश्यकता है। सामाजिक व्यवस्था अनुरक्षण और धर्म का उन्नयन एक दूसरे के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। कौटिल्य द्वारा वर्णाश्रम धर्म के पालन पर अत्यधिक जोर देने के पीछे एकमात्र उद्देश्य यही था कि सामाजिक व्यवस्था विछिन्न और विश्रृंखल नहीं हो। कौटिल्य के अनुसार राज्य की समस्त प्रजा और राजकीय कर्मचारियों की भक्ति राजा के प्रति होनी चाहिए न कि धर्म या धर्मशास्त्रों के प्रति।

कौटिल्य ने लौकिक कानूनों को धर्मशास्त्रों की अपेक्षा प्राथमिकता दी है और धर्म तथा धार्मिक संस्थाओं को राजसत्ता से ऊपर नहीं माना है, बल्कि उसके अधीन ही रखा है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कौटिल्य ने राजनीति के लिए धर्म की उपेक्षा की है। वह राजा को सर्वोपरि स्थान देते हुए भी उससे यह अपेक्षा करता है कि राजा मनमाने ढ़ंग से काम नहीं करेगा। उसकी आज्ञा या आदेश उसकी निजी इच्छाओं पर आधारित न होकर विवेक, धर्म और न्याय से अनुप्रेरित होंगे। कौटिल्य ने राजा को 'धर्मप्रवर्तक' का विशेषण प्रदान कर यह सिद्ध कर दिया है कि राजा ही धर्म और न्याय का आधार है। राजा के बिना धर्म की न तो प्रासंगिता है और न महत्व है। कौटिल्य के मतानुसार वर्णाश्रम एक राजनीतिक अवधारणा है। जहाँ किसी राष्ट्र का संगठन होगा वहाँ वर्णाश्रम धर्म की अवधारणा होगी।[26]

धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र में वर्णित समाज व्यवस्था और राजव्यवस्था का विवेचन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ मनु एक आदर्श व्यवस्था की स्थापना करते हैं, वहीं कौटिल्य ने अपनी व्यवस्था में व्यावहारिकता और यर्थाथता को स्थान दिया है। मनु के राज्य का झुकाव जीवन के भौतिक पक्ष की अपेक्षा आध्यात्मिक प्रतीत होता है। चारों वर्णों व आश्रमों के धर्मों, वर्णों के मिल जाने से उत्पन्न खतरों, पारिवारिक जीवन की पवित्रता, बच्चों–पत्नी आदि के कर्तव्यों आदि की विस्तृत विवेचना मनुस्मृति में प्राप्त होती है। इसमें उच्च नैतिक जीवन बिताने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। संस्थाओं की पवित्रता, नियमों की पवित्रता, विवाहित जीवन के प्रति निष्ठा भाव, प्राचीन शिक्षाओं की महत्ता को बनाये रखना,

व्यापार, पैतृक धन, दीवानी, फौजदारी कानून संबंधी समस्याओं का उल्लेख भी मनुस्मृति में प्राप्त होता है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राज्य का झुकाव भौतिक पक्ष की ओर अधिक है। सेना, युद्ध, संघर्ष, शान्ति, नीति, षड्यंत्र, भेदियों को नियुक्त करना, सरकारी विभागों का संचालन, राष्ट्रीय संकट, बाहरी व आंतरिक खतरे आदि अर्थशास्त्र के मुख्य विषय हैं। कौटिल्य की राजव्यवस्था मनु की राजव्यवस्था की अपेक्षा अधिक जटिल, समस्याओं से ग्रस्त व दण्ड और अर्थ के ऊपर आधारित प्रतीत होती है। मनु ने सर्वत्र धर्म को ही सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है।

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में मनु एवं कौटिल्य के विचारों में भिन्नता मिलती है। मनु ने राजा के संबंध में दैवीय सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए माना है कि ईश्वर ने आठ देवताओं के अंशों से संसार की रक्षा के लिए, राजा को बनाया है, अतः वह सब प्राणियों से अधिक तेजस्वी है। कौटिल्य के राजा की उत्पत्ति सामाजिक समझौते के आधार पर हुई है। समाज में अव्यवस्था होने पर ''मात्स्य–न्याय'' प्रचलित होने पर प्रजा ने अपनी रक्षा के लिए उत्पन्न हुए अन्न का छठा भाग, व्यापार द्वारा प्राप्त धन का दसवां भाग और स्वर्ण का कुछ भाग कर के रूप में राजा के लिए नियत किया बदले में राजा ने प्रजा के जन–धन की रक्षा का वचन दिया। कौटिल्य के राजा के पीछे कोई दैवीय बंधन न थे। इससे स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति में प्रत्येक कर्म के पीछे धर्म की शक्ति या प्रेरणा है, अर्थशास्त्र में अर्थ की।

यद्यपि मनु व कौटिल्य दोनों ने ही प्रजापीड़क, अधर्मी राजा को पदच्युत करने का अधिकार प्रजा को दिया है तथापि मनु का राजा दैवीय अंशों से युक्त है व कोई भी उसके बनाये नियमों का उल्लघंन नहीं कर सकता है। इस तरह मनु का संप्रभुता का सिद्धान्त राजनीतिक शक्ति की अपेक्षा नैतिकता की शर्तों पर आधारित है, जबकि कौटिल्य का मानना है कि व्यवहार में कोई भी दैवीय शक्ति संप्रभु के चारों तरफ नहीं है।

धर्म व राजकीय सत्ता के संबंध की जो योजना मनुस्मृति में निर्धारित की गई है, वह निश्चित तौर से अर्थशास्त्र की धारणा से भिन्न है। मनुस्मृति जहाँ धर्म

को राजकीय आचरण के औचित्य का मापदण्ड मानते हुए प्रकारान्तर से उसे एक सम्प्रभु शक्ति के रूप में स्वीकार करती है, वहीं अर्थशास्त्र सम्प्रभु शक्ति के रूप में केवल दण्ड को मान्यता देता है जो किसी भी अर्थ में धर्म का अधीनस्थ नहीं है, वरन वह धर्म का संरक्षक है। राजा के आचरण से भ्रष्ट होने पर भी धर्म नहीं, दण्ड ही राजा को दण्डित कर सकता है।

अर्थशास्त्र के विपरीत मनुस्मृति में किसी ऐसी संभावना को भी स्वीकार नहीं किया गया है कि धर्म के विरुद्ध होने पर या अनुचित होने पर प्रजा राजकीय विधियों का उल्लंघन कर सके। अर्थशास्त्र में तो मर्यादाहीन राजसत्ता की तुलना में अराजकता को प्रजा के हित में श्रेष्ठ माना गया है, किन्तु मनुस्मृति राज्य शक्ति के अभाव में प्रजा के कल्याण की तो कल्पना ही नहीं करती। मनुस्मृति धर्म को राजकीय शक्ति पर नियंत्रण के लिए महत्वपूर्ण तत्व मानते हुए भी राजा को प्रजा के प्रति उत्तरदायी नहीं बनाती और न ही प्रजा को किसी प्रकार से राजकीय आज्ञाओं या धर्म की राजकीय व्याख्याओं की समीक्षा का अधिकार प्रदान करती है।

दण्ड वह भौतिक शक्ति है जिसका धर्म की प्रतिष्ठा के लिए प्रयुक्त किया जाना अभीष्ठ है। धर्म, दण्ड और राज्य की पारस्परिकता ही वस्तुतः प्राचीन भारतीय चिन्तन में राज्य के औचित्य को निर्धारित करने हेतु प्रामाणिक आधार के रूप में समझी जा सकती है। मनुस्मृति के अनुसार राजा को अपने कार्यों को करने के लिए तथा सब प्राणियों की रक्षा करने के लिए ब्रह्मा ने धर्म स्वरूप दण्ड को बनाया। ग्रन्थ में दण्ड को राजा से ऊपर परन्तु साथ ही दण्ड का धर्मस्वरूप होना भी अनिवार्य माना है। दण्ड ही वास्तव में राजा है, वहीं चारों आश्रमों का धर्म है। दण्ड ही सम्पूर्ण प्रजा पर शासन करता है और दण्ड ही सम्पूर्ण प्रजा की रक्षा करता है। दण्ड शक्ति का अनुचित रीति या मनमाने ढंग से किया गया प्रयोग राजा के लिए इस लोक में अपयश तथा परलोक में नरक गमन का कारक बनता है।

कौटिल्य के अनुसार दण्ड का संबंध उन सभी साधनों से है, जिनसे वस्तुओं का अर्जन, रक्षण, वृद्धि व वितरण किया जाता है। कौटिल्य दण्ड नीति को केवल दण्ड देने वाली शक्ति से ही संबंधित नहीं मानता अपितु उसे सम्पूर्ण सामाजिक व

राजनीतिक संबंधों से संबंधित मानता है जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त राजा उसके मंत्री तथा सेना आदि शामिल है। अर्थशास्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि जब राजा द्वारा मर्यादा की स्थापना कर दी गई और वर्णाश्रम धर्म की पालना को सुनिश्चित कर दिया गया तो दण्ड द्वारा सुरक्षित होकर जगत प्रसन्न रहता है और कभी पीड़ित नहीं होता है।[27]

दण्ड संबंधी विचारों की एकरूपता के साथ ही दोनों ही विचारकों के राज्य के उद्देश्य, प्रकृति एवं राजा के गुण संबंधी विचारों में भी समानता प्रतीत होती है। न्याय व्यवस्था के विषय में भी मनु एवं कौटिल्य के विचार काफी मिलते हैं। दोनों ही मानते हैं कि राजा को न्यायी होना चाहिए।

मनु की भाँति कौटिल्य ने राजनीतिक संस्थाओं पर वेद, धर्मशास्त्रों के पवित्र आधिपत्य को स्वीकार नहीं किया है, न ही ज्ञान के क्षेत्र में वेदों को प्रथम स्थान प्रदान किया है। मनु ने तीन विद्याओं त्रयी, वार्ता और दण्डनीति में वेद को ही मुख्य माना है। कौटिल्य के अनुसार आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति चार विद्याऐं हैं। आन्वीक्षकी तार्किक प्रक्रिया है, यह सब विद्याओं का प्रदीप, सब कार्यों का साधन भूत तथा सब धर्मों का आश्रय भूत है। मनु के राज दर्शन में तर्क का कोई स्थान नहीं है, धर्म ही प्रमुख है।

कौटिल्य ने राज्य के अट्ठारह तीर्थों और विभिन्न विभागों के उच्च अधिकारियों के नामों व कर्तव्यों का विशद विवेचन किया है जबकि मनुस्मृति में प्रशासन अधिकारियों और संगठन का सविस्तार वर्णन नहीं प्राप्त होता है।

कर व्यवस्था के संबंध में मनु एवं कौटिल्य के विचारों में समानता परिलक्षित होती है। दोनों ही कर लगाने का उद्देश्य प्रजा रक्षण मानते हैं। राज्य और प्रजा दोनों की जड़ सुरक्षित रहें, राज्य उन्नति करे, इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर राजा को संतुलित कर नीति अपनाने का निर्देश दिया है।

अन्तर्राज्य संबंधों के क्षेत्र भी मनु एवं कौटिल्य दोनों मण्डल सिद्धान्त एवं षाड्गुण्य नीति का प्रतिपादन करते हैं। लेकिन युद्ध की रणनीति राज्य के विस्तार की नीति के संबंध में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। मनु ने राजा का धर्मयुद्ध करना ही उचित समझा है और कभी भी युद्ध की पहल न करने का निर्देश दिया है।

कौटिल्य भी यद्यपि धर्मयुद्ध को ही प्रमुखता देते हैं, किन्तु पराजित राजा को अवसर प्राप्त होते ही मंत्र युद्ध या कूट युद्ध प्रारम्भ करना उचित मानते हैं।

इस प्रकार मनु एवं कौटिल्य दो प्रकार के प्रचलित राजनीतिक विचारों के श्रेष्ठ प्रतिनिधि हैं–मनु धर्मशास्त्र का और कौटिल्य अर्थशास्त्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। वास्तव में, दोनों में बहुत बडा अंश सामान्य था और सिद्धान्त रूप में वे एक दूसरे के पूरक थे तथा कामशास्त्र व मोक्षशास्त्र के साथ सारिणी को पूर्ण बनाते थे। धर्म और अर्थ बहुधा साथ–साथ आते हैं और महाभारत में तो दोनों मिल जाते हैं।[28] मनु एवं कौटिल्य दोनों ही राजा का प्रमुख धर्म प्रजा का कल्याण मानते हैं। दोनों की वैचारिक भिन्नता को हम किसी विरोध की स्थिति में न मानकर समय के अनुरूप राज्य की प्रकृति में आया अन्तर मान सकते हैं।

प्रत्येक युग में धर्म का स्वरूप किस प्रकार का रहता है इस संबंध में भी मनुस्मृति और अर्थशास्त्र में भिन्नता देखने को मिलती है। मनुस्मृति में इस बात को स्वीकार कर लिया गया है कि अलग–अलग युगों में धर्म का स्वरूप अलग–अलग प्रकार का है। महर्षियों ने भी अलग–अलग युगों के अनुसार धर्म के लक्षण प्रतिपादित किये हैं अर्थात धर्म की व्याख्या पृथक–पृथक युग में भिन्न–भिन्न प्रकार से होती है तब सांसारिक दृष्टि से सर्वोच्च नियामक शक्ति होने के कारण राजा को धर्म की व्याख्या का निर्द्वन्द्व अधिकार प्राप्त हो गया। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में धर्म को उसके लौकिक अर्थ में आचरण के सार्वभौमिक व सामान्य मापदण्डों के रूप में स्वीकार किया गया है। अर्थशास्त्र में धर्म को राजकीय सत्ता से अधिक महत्वपूर्ण और नियामिक सत्ता माना गया है। धर्म के सार्वभौमिक स्वरूप का एक पक्ष यह भी है कि धर्म को स्थान व काल के अनुसार बदला नहीं जा सकता, बल्कि धर्म के सामान्य नैतिक नियम सब कालों में समस्त व्यक्तियों पर एक ही रूप में बाध्यकारी माने गये हैं।

इस प्रकार मनुस्मृति एवं अर्थशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति वैदिक परम्परा से पूर्ण रूप से प्रभावित है। इस कारण इसमें निहित विचारों में धर्म का अधिक प्रभाव है। राज्य का अस्तित्व ही धर्म की स्थापना के लिए हुआ है, जबकि कौटिल्य का अर्थशास्त्र अपनी एक अलग विशेषता को

प्रकट करता है जिसके चिन्तन में दार्शनिक व धार्मिक पक्ष की अपेक्षा विशुद्ध राजनीतिक क्रियात्मक विचारों का अंश मिलता है।

चूँकि धर्मशास्त्र–साहित्य धर्म को और अर्थशास्त्र अर्थ को ध्यान में रखकर लिखा गया है, इसलिए इन दोनों विचारधाराओं के अन्तर की ओर दृष्टिपात करना स्वाभाविक है। धर्मशास्त्र का रुझान सामान्यतः ब्राह्मणों के अधिकारों को बढ़ा–चढ़ा कर बताने की ओर है और इनमें उन विधानों पर जोर दिया गया है, जिनसे सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं का नियमन होता है। दूसरी ओर अर्थशास्त्र राजा के अधिकारों को सुप्रतिष्ठित करता है और उन विधानों पर जोर देता है जिनका उद्देश्य राजनीतिक और आर्थिक ढाँचें का नियमन है। प्रथम प्रकार के साहित्य अर्थात् मनुस्मृति का रूप सैद्धान्तिक तथा दूसरे प्रकार अर्थात अर्थशास्त्र का स्वरूप व्यावहारिक प्रतीत होता है। लेकिन दोनों के अन्तर को इससे आगे ले जाना संभव नहीं है क्योंकि दोनों वर्ण विभाजित समाज के बारे में एक सामान्य दृष्टि और आदर्श प्रस्तुत करते हैं तथा राजा को इसकी मर्यादा का रक्षक मानते हैं।[29]

मनुस्मृति एवं अर्थशास्त्र में यद्यपि कुछ वैचारिक भिन्नता काल परिस्थिति के अनुरूप देखने को मिलती है तथापि धर्म, दण्ड जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर मतैक्य भी देखने को मिलता है। मनुस्मृति में दण्ड को राजा से ऊपर माना गया है, परन्तु साथ ही दण्ड का धर्मस्वरूप होना भी अनिवार्य माना है तथा राजा अपने कार्यों का क्रियान्वयन भी दण्ड के माध्यम से ही कर सकता है। दण्ड ही वास्तव में राजा है, वही चारों आश्रमों का धर्म है। दण्ड ही सम्पूर्ण प्रजा पर शासन करता है और दण्ड ही सम्पूर्ण प्रजा की रक्षा करता है। राजा से अपेक्षा की गई है कि वह अपराध के अनुसार व अपराधी की सामर्थ्य को देखकर दण्ड का प्रयोग करे। कौटिल्य के अनुसार धर्म के साथ ही प्रजा की रक्षा करना भी राजा का धर्म है, इसी से उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। जो राजा प्रजा ही रक्षा नहीं करता या व्यर्थ पीड़ा पहुँचाता है उसको भी दण्ड देना चाहिए। कौटिल्य ने दण्डनीति का तात्पर्य शासन को प्रतिपादित करने वाली नीति बताया है। दण्ड का संबंध उन सभी साधनों से है, जिनसे वस्तुओं का अर्जन, रक्षण, वृद्धि व वितरण किया जाता है। कौटिल्य ने दण्ड नीति को केवल दण्ड देने वाली शक्ति से ही सम्बन्धित नहीं

माना अपितु उसे सम्पूर्ण सामाजिक व राजनीतिक सम्बन्धों से सम्बन्धित माना है। धर्म के सिद्धान्तों को कार्यशील करने और उन्हें प्रवर्तित करने के लिए धर्म के नैतिक तत्व के साथ कोई भौतिक अवलम्ब भी हो। इस भौतिक अवलम्ब को भारतीय चिन्तन में दण्ड के नाम से विभूषित किया है।

भारत में धर्म ने कभी राजनीति को नियंत्रित नहीं किया। वह धर्मसापेक्ष तथा धर्माचारित होते हुए भी धर्म की व्यापक धारणा के कारण अन्य सभी धर्मों, मार्गों, पंथों, सम्प्रदायों के प्रति उदार रह कर उन्हें आदर, समानता तथा सत्कार प्रदान करता रहा है। वस्तुतः अन्य धर्मों के मामलों में हिन्दू धर्म की ओर से किसी नियंत्रण, निरोध या विरोध की स्थापना नहीं की गयी। उसका मूल दृष्टिकोण यह रहा है कि सत्य, ईश्वर, परमतत्व, आत्मतत्व अथवा परमात्मा के साक्षात्कार के अनेक मार्ग हैं। प्राचीन भारत में राज्यों का स्वरूप धर्मनिरपेक्ष ही देखने को मिलता है। उनकी धर्मनिरपेक्षता व्यापक धर्म की अवधारणा को अपनाने में हो रही है। भारत में राज्य सदैव ही धर्म निरपेक्ष या पंथनिरपेक्ष रहे हैं भले ही वे धर्म के व्यापक संदर्भ में धर्माधारित थे।

यहाँ धर्मनिरपेक्षता से तात्पर्य यही है कि प्राचीन भारत में राजा का भले ही अपना कोई भी धर्म हो उसके द्वारा राज्य तथा प्रजा पर थोपने का प्रयास नहीं किया गया तथा अन्य धर्मों के साथ समान व्यवहार किया गया। जो धर्म अपने आपको निश्चित भवन, धार्मिक भवनों, संस्थाओं, संगठन आदि से जोड़ते हैं, उन्हें धर्म की व्यापक, अमूर्त, आध्यात्मिक, नैतिक तथा मानवमात्र पर लागू होने वाली धारणा के संदर्भ में संकुचित, संगठित या सम्प्रदायवादी पंथ या मार्ग माना जा सकता है। यद्यपि हिन्दू समाज में पश्चिम में चर्च जैसी सुसंगठित धार्मिक संस्था का पूर्ण अभाव है किन्तु हिन्दूवाद अपने सामाजिक जीवन पर प्रभावी नियंत्रण रखता है। शताब्दियों तक जाति अभी भी हिन्दुओं के सामाजिक जीवन को नियंत्रित करने वाला सर्वव्यापी तत्व रहा है। इसने हिन्दू समाज को जड़ बनाया है और उसे परस्पर विरोधी गुटों में खण्डित कर दिया है। अब धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाना कठिन हो गया है। अब धर्म को सम्प्रदाय, मत या विशिष्ट धर्म के साथ मिलाया जाने लगा है। वर्तमान में प्रत्येक संकुचित या विशिष्ट धर्म, पंथ, मत या सम्प्रदाय ने वृहत् धर्म का स्थान लेना शुरू कर दिया है।

भारत ने जिस धर्मनिरपेक्षता के मॉडल या प्रारूप को अपनाया है उसे न तो धर्मान्तर्गत लौकिकता के अधीन रखा जा सकता है और न ही उसे पश्चिमी प्रकार की धर्मनिरपेक्ष लौकिकता माना जा सकता है। संविधान द्वारा स्वीकृत मॉडल में कहीं भी ईश्वर, ब्रह्म या अदृश्य सत्ता को न तो साक्षी बनाया गया है और न ही स्वीकारा गया है। यहाँ तक कि धर्मनिरपेक्षता शब्द का प्रयोग भी 1976 में 42वें संविधान संशोधन के अन्तर्गत प्राक्कथन में ही किया गया है।

सम्प्रदायवाद को चाहे वह अपने आपको धर्म से सम्बद्ध करे तथा धर्माचार को अपना आधार बनाये, धर्म से पृथक माना जाना चाहिए। यह विचारधारा तथा उससे जुड़े हुए संगठन तथा संस्थाऐं पूर्णतः लौकिक तथा धर्मनिरपेक्ष शक्तियाँ मानी जा सकती है। ये विशुद्ध एवं व्यापक धर्म से अलग एवं उसकी विरोधी शक्तियाँ है। यह सही है कि पाश्चात्य ढ़ंग की धर्मनिरपेक्षता को भारतीय संविधान द्वारा इतनी अधिक मात्रा में अपनाना भारत के अतीतकालीन धार्मिक स्वाधीनता आन्दोलन के कारण ही सम्भव हो सका। सर्वोच्च न्यायालय, प्रमुख राजनीतिक दलों, राजनेताओं आदि ने धर्मनिरपेक्षता को संविधान की आधारभूत संरचना मान लिया है। इसे राष्ट्रीय एकता के लिए भी आवश्यक माना जाता है। वर्तमान परिवेश में भारतीयता और धर्मनिरपेक्षता को एक–दूसरे का पर्याय बताया जा रहा है।[30]

भारतीय धर्मनिरपेक्षता धर्मों के प्रति समभाव और तटस्थता की पक्षपाती है, साथ ही शाश्वत धर्म के साथ अविरोध देखती है। उसका अपना एक लम्बा इतिहास एवं परम्परा है जिसका मूलाधार सहिष्णु राज्य है जो राजकीय मामलों में धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं करता। धर्मनिरपेक्षता क्या है? क्या यह सर्व धर्म समभाव है? क्या हम धार्मिक भी बने रह सकते हैं और धर्मनिरपेक्ष भी? नहीं। कोई भी धार्मिक व्यक्ति या व्यक्तिसमूह सर्व धर्म समभाव के अर्थ में धर्मनिरपेक्ष नहीं हो सकता क्योंकि उसका अपना एक धर्म है और उसके लिए दूसरे धर्म पराये हैं। असल में धार्मिकता और धर्मनिरपेक्षता एक साथ चल नहीं सकती। यूरोप में इसकी धारणा सीधे धर्म के विरोध में विकसित हुई। दूसरे लोक की कल्पना को नकारना और इस लोक या यथार्थ को इसी के नियमों के आधार पर व्याख्यायित करना चिन्तन का इहलौकिकीकरण (सेक्यूलराइजेशन) माना गया। इस अर्थ में कह सकते

हैं कि धर्मनिरपेक्षता चिन्तन की वह प्रवृति है जो विज्ञान और बुद्धिवाद के आधार पर विकसित होती है, अनुभव, तर्क और प्रयोग पर बल देती है और धार्मिक चिन्तन की अबौद्धिक पारलौकिकता का निषेध करती है।

अपने देश में धर्मनिरपेक्षता की जो परिभाषा फैलाई गई, वह धार्मिकता के ज्यादा करीब थी। इसे सर्व धर्म समभाव या धर्मों से समान सापेक्षता के रूप में लिया जाता है। इस परिभाषा के अनुसार हमारा शासक वर्ग किसी भी या सभी धर्मों को समान रूप से प्रोत्साहन देकर साम्प्रदायिकता की ताकतों को मजबूत करता है और उनसे वोट की लगातार भ्रष्ट होती गई राजनीति की शतरंज खेलता है।

जहाँ तक परम्परा का सवाल है, भारत में धार्मिक और साम्प्रदायिक चिन्तन के अलावा और उसके खिलाफ, बुद्धिवादी और भौतिकवादी चिन्तन की एक मजबूत परम्परा रही है। बुद्ध के समय में चिन्तन के तमाम रूप सक्रिय थे और उनमें अधिकांश बुद्धिवादी तथा भौतिकवादी थे। स्वयं बुद्ध ने ईश्वर की धारणा का निषेध करके आत्मवादी चिन्तन पर गम्भीर प्रहार किया। कौटिल्य का अर्थशास्त्र अपनी मूल संरचना में एक धर्मनिरपेक्ष कृति है।[31]

धर्मनिरपेक्षता पर एक राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अवधारणा के तौर पर व्यवहार मे एक धर्म बहुल समाज में अमल करना कठिन कार्य है। क्योंकि वहाँ बहुसंख्यक लोग अपनी धार्मिक आस्थाओं से संचालित होते हैं, परन्तु इस तरह के समाज के लिए धर्मनिरपेक्षता अत्यन्त आवश्यक है। चूँकि सैकुलर शब्द का प्रयोग धार्मिक परम्परा के संदर्भ में किया जाता है। अतः हमें यह जान लेना ज्यादा उचित है कि धर्म के दो आयाम होते हैं, पहला–व्यक्तिगत अनुभव, आस्था और विश्वास तथा दूसरा–समाज निर्माण। आस्था का मामला व्यक्तिगत है और इसकी प्रकृति और आयामों पर बहस या विचार–विमर्श नहीं हो सकता। दूसरे आयाम में परम्पराऐं और रीति–रिवाज आते हैं। ये परम्पराऐं और रीति रिवाज एक ही धर्म में आस्था रखने वाले विभिन्न लोगों, विभिन्न देशों और विभिन्न काल खण्डों में अलग–अलग हो सकते हैं, यही वह आयाम है जो बहस और विवाद के दायरे में आता है। समाज के विभिन्न तबकों के रीति रिवाज और परम्पराऐं अलग हो

सकती हैं। भारत में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों की सुनिश्चित भूमिकाओं के संदर्भ में इसका उदाहरण मिल जाता है। समाज दृष्टि तथा जनाधार में परिवर्तन बदलाव का वाहक बनता है। भारत में ऐसा हुआ भी है, लेकिन इस बदलाव पर काफी विवाद भी है। बदलाव के समर्थक अपने विचारों तथा तर्कों का आधार नए धर्मनिरपेक्ष ज्ञान को बनाते हैं, जबकि बदलाव के विरोधी धार्मिक रीति–रिवाजों और परम्पराओं को अपने तर्क के एक हिस्से की तरह सामने रखते हैं।

आज के समाज को मनुस्मृति के माध्यम से नहीं चलाया जा सकता। इसी तरह विवाह की वैधानिकता सिर्फ पुरोहित द्वारा करवाए गए अनुष्ठानों तक ही सीमित नहीं रही है बल्कि कई बार तो उसकी प्रमाणिकता के लिए सरकारी पंजीकरण एक आवश्यक शर्त है। यह बात इस्लाम और ईसाई धर्मों पर भी यथावत लागू होती है। आश्चर्यजनक रूप से हमारा शिक्षित उच्च और मध्यम वर्ग जो सबसे ज्यादा पश्चिमी सभ्यता और ज्ञान के संपर्क में है, उससे लाभान्वित हो रहा है, आज उतने ही बड़े पैमाने पर धर्म और सम्प्रदाय से जुड़ा है। निश्चय ही इसके पीछे चालाकी और असुरक्षा है। चालाकी यह कि वह दोनों दुनियाओं को – परम्परा में मिली सामाजिक विशिष्टता (सुरक्षा) और पश्चिम की विकसित अर्थव्यवस्था और विज्ञान के लाभ–अपने लिए सुरक्षित करना चाहता हैं जहाँ तक असुरक्षा की बात है उसका कुछ हद तक संबंध उस राजनीतिक नेतृत्व से भी है जो हमारे समाज को अपेक्षित स्तर तक विकसित करने में असफल रहा है। सामाजिक संबंधों में आ रहे परिवर्तनों के कारण जहाँ उसकी स्थिति कमजोर हुई है वहीं दूसरी ओर पश्चिम के सामने वह अपनी कोई पहचान नहीं बना पाया है और अपने को हीन पाता हैं परिणामस्वरूप सबसे आसान तरीका महान धर्म, महान संस्कृति, महान परम्पराओं की आड़ लेना हो गया है।[32]

भारत में धर्मनिरपेक्षता का दृष्टिकोण पाश्चात्य देशों का अंधानुकरण नहीं है। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ साम्यवादी देशों की तरह धर्म विरोध से नहीं है, न ही संयुक्त राज्य अमेरिका की तरह धर्म को राज्य से बिल्कुल पृथक करने से है और न ही ब्रिटेन की तरह एक स्थापित चर्च के साथ धर्मनिरपेक्षता से है। भारत में राज्य द्वारा सहायता प्राप्त विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा अभिभावकों की स्वेच्छा के आधार पर ही दी जा सकती है। कानून न तो किसी धर्म, मत, सम्प्रदाय या पंथ

को संरक्षण प्रदान करता है और न ही नास्तिकता को अपराध मानता हैं किन्तु धर्मों से पृथकता बनाये रखने के बदले राज्य सभी धर्मों को समान मानता है तथा सभी धर्मों को समाज आदर प्रदान करता है। भारतीय संविधान धाार्मिक स्वतंत्रता के अधिकारों को मौलिक अधिकारों के रूप में स्थान देता है। अतः यह संविधान धर्म की स्वतंत्रता के साथ–साथ कई परिस्थितियों में धर्म से स्वतंत्रता दिलाता है।

भारतीय संविधान द्वारा अपनायी धर्मनिरपेक्षता में अनेक अन्तर्विरोध भी दिखाई पड़ते हैं। धर्म के मामलों में उसने मौलिक अधिकार प्रदान करते हुए भी उन पर अनेक प्रतिबन्ध एवं सीमाऐं लगाते हुए राज्य की सर्वोपरिता को स्थापित किया है। नागरिकों के मध्य संरक्षणात्मक भेदभाव को भी स्थापित किया है। हिन्दू समाज को सुधारने का दायित्व अपने ऊपर लेकर राज्य की धर्म के प्रति तटस्थता व निष्पक्षता भी आक्षेपित हुई है। संविधान में भारतीय राज्य को धार्मिक मामलों में तटस्थ घोषित किया गया है किन्तु वह न केवल धार्मिक सम्प्रदायों द्वारा संचालित संस्थाओं को आर्थिक सहायता देता है अपितु उनकी धार्मिक एवं धर्मार्थ संस्थाओं का प्रबन्ध, संचालन तथा प्रशासन भी करता है। इससे धर्मो की सम्भावित साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिलता है। धर्म और धर्माचारिता में अन्तर नहीं किये जाने से वे सम्प्रदायवाद में रूपान्तरित हो जाते हैं। ऐसे ही संस्कृति और भाषायी आधार पर गठित संस्थाऐं भी साम्प्रदायिकता में योगदान करने लगती हैं। विभिन्न वर्गों में अपने आपको अल्पसंख्यक बताने की प्रवृति बढ़ती जा रही है और वे अपने आपको निर्वाचन, राजनीति तथा शक्ति अर्जन के क्षेत्र में अधिकाधिक बलशाली बनाने के लिए साम्प्रदायिकता का सहारा ले रहे हैं।[33]

वर्तमान में राजनीति में धर्म एक प्रमुख उपकरण बन गया है। मंत्री, राजनेता, सरकारी–पदाधिकारी जिस तरह से धार्मिक अनुष्ठानों तथा उत्सवों में भाग लेते हैं वह निश्चय ही धर्मनिरपेक्षता के विपरीत कार्य हैं। राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक तरफ साधुओं, महंतों, आचार्यों और ज्योतिषियों की कृपा प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है तो दूसरी तरफ उलेमाओं, इमामों और संतों से गहरे संबंध स्थापित किये जाते हैं। चुनावी राजनीति में धार्मिक प्रतीकों और अनुष्ठानों का प्रयोग, आकाशवाणी, दूरदर्शन और संचार माध्यमों के द्वारा इन प्रवृतियों को बढ़ावा दिया जा रहा है।

व्यवहार में भारत में धर्मनिरपेक्षता का वह स्वरूप नहीं देखने को मिलता है, जिन संदर्भों में इसे संविधान में स्थान दिया गया। आज धर्मनिरपेक्षता सर्व–धर्म–समभाव राज्य के रूप में देखने को मिलती है। भारत एक ऐसा धर्मनिरपेक्ष राज्य बन गया है जो विभिन्न धर्मों को संरक्षण, सहायता एवं सम्मान देता है, इसे सर्व–धर्म–समभाव वाला राज्य कहा जा सकताहै। भले ही विभिन्न धर्म स्वयं को दूसरों के बराबर नहीं मानते हों, किन्तु राज्य धार्मिक संस्थाओं के विकास, संगठन तथा पर्व मनाने के लिए आर्थिक सहायता देता रहता है। भारत में धर्मनिरपेक्षता नीति की परिणीति अल्पसंख्यकों के प्रति अतिशय चिन्ता की नीति बनती जा रही है।

भारतीय धर्मनिरपेक्षता के वास्तविक प्रणेता नेहरू ही थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व भी पश्चात भी। स्वयं नेहरू ने धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना को अपने जीवन की एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि माना था। भारत में धर्मनिरपेक्षता के स्वरूप के संबंध में नेहरू के विचार महात्मा गाँधी के विचारों से कुछ भिन्न प्रतीत होते हैं। गाँधीजी का धर्म ईश्वरीय सत्ता में विश्वास करता है। वे किसी विशेष पूजा पद्धति या कर्मकाण्ड में आस्था रखने की अपेक्षा मानव सेवा के द्वारा आत्म साक्षात्कार या मोक्ष प्राप्ति में विश्वास रखते है, किन्तु नेहरू मानव मात्र की सेवा को ही अपना लक्ष्य मानते हैं तथा धर्म और राजनीति को पृथक बनाये रखना चाहते हैं। नेहरू भौतिक जगत के परे सूक्ष्म तत्वों या रहस्यों में विश्वास करते हैं तथा उनकी वैज्ञानिक खोज करना उपादेय मानते हैं। वे मानव के मूर्त, ऐन्द्रिक अनुभव से परे किसी वैयक्तिक ईश्वर जैसी सत्ता को मानने को तैयार नहीं थे। वो किसी धर्म विशेष को नहीं मानते वरन् सभी धर्मों के प्रति समान आदर भाव रखते थे। उनके लिए धर्म निरपेक्षता का मूलाधार था–मानव व्यक्तित्व एवं नैतिकता में विश्वास, लोकतंत्र में आस्था, सत्य बोध के प्रति जिज्ञासा एवं अन्तःकरण की स्वतंत्रता।

नेहरू की धर्म निरपेक्षता की धारणा बहुत व्यापक उदार व विकासमान है। वे धर्म निरपेक्ष राज्य से धर्मनिरपेक्ष समाज की ओर आगे बढ़ना चाहते थे। वे सामाजिक नियमों, विवाह, उत्तराधिकार कानून आदि का धर्मनिरपेक्षीकरण करना चाहते थे। नेहरू दूरदृष्टा थे, जानते थे धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना संविधान के माध्यम से करना सरल है किन्तु एक धर्मनिरपेक्ष समाज की स्थापना, जिसमें

कुरीतियाँ, अंधश्रद्धा, अंधविश्वास, पंथों व मान्यताओं के प्रति कट्टरता भरी हुई है, का निर्माण करना मुश्किल कार्य है। उनके बाद सभी राजनीतिक दलों, सरकारों एवं सर्वोच्च न्यायालय ने धर्मनिरपेक्षता को भारतीय राजव्यवस्था का एक आधारभूत स्तम्भ मान लिया है। धर्म निरपेक्षता राष्ट्रीय एकता का ही दूसरा नाम समझा जाने लगा है।

मनुस्मृति एवं अर्थशास्त्र में उल्लिखित धर्म और धर्मनिरपेक्षताकी जब आधुनिक संदर्भों में व्याख्या करते हैं तो गाँधी और नेहरू दोनों के दृष्टिकोण परिलक्षित होते हैं। दोनों ही ग्रन्थ धर्म की एक व्यापक अवधारणा से ओत–प्रोत हैं, वहाँ धर्म का तात्पर्य किसी पाखण्ड, कर्मकाण्ड, साम्प्रदायिकता या मत–मतान्तरों से नहीं वरन् नैतिक कर्तव्यों के पालन से है, सत्य, अहिंसा के सिद्धान्तों से है। मनु एवं कौटिल्य के दर्शन में हमें जहाँ एक ओर नेहरू के समान सत्य, करूणा, दया आदि आध्यात्मिक मूल्य देखने को मिलते है, वहीं गाँधी की तरह ईश्वरीय सत्ता में विश्वास रखते हुए मोक्ष प्राप्ति की कामना दिखाई देती है। नेहरू भी धर्म को सामाजिक हितों के संवर्द्धन का एक महान उपकरण मानते थे। वे यह कभी नहीं चाहते थे कि मनुष्य अधार्मिक हो जाये अथवा धर्म का मानव जीवन में कोई स्थान नहीं हो। वह धर्म को मानव जीवन की एक मूलभूत आवश्यकता की पूर्ति करने वाला, महान सामाजिक शक्ति वाला, असंख्य लोगों को शान्ति और सहारा देने वाला, जीवन शक्ति प्रदान करने वाला तत्व मानते थे। गाँधी ने अपने दर्शन में धर्म को सर्वोपरि स्थान दिया। वह मानते थे कि उनके प्रत्येक कार्य के पीछे एक धार्मिक चेतना और एक धार्मिक उद्देश्य रहा है। गाँधी के अनुसार धर्मविहीन राजनीति मृत्युजाल के समान है, जो आत्मा का हनन करती है। गाँधी धर्म के नैतिक आधार के बिना जीवन को अर्थहीन एवं निष्फल मानते थे।

मनुस्मृति एवं अर्थशास्त्र में हमें धर्मनिरपेक्षता की जो अवधारणा मिलती है एवं भारतीय संविधान में जिस धर्म निरपेक्षता को स्थान दिया गया है, उसमें भी समानता देखने का मिलती है। राजा को धर्म में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है, वरन् उसका धर्म है कि वह चारों वर्णों से उनके धर्म का पालन करवाये, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक, आन्तरिक व वैदेशिक प्रशासन, न्याय व्यवस्था, दण्ड व्यवस्था को बनाये रखे। राजा का कर्तव्य प्रजा की सुख समृद्धि

बनाये रखना था, उनके व्यक्तिगत कार्यों में, विश्वास में हस्तक्षेप करना नहीं। प्राचीन भारत में वर्तमान के समान विभिन्न पंथ देखने को नहीं मिलते थे केवल एक धर्म सनातन धर्म ही विद्यमान था। राजा द्वारा सामाजिक व्यवस्था के संचालन के लिए वर्णाश्रमों के धर्म अर्थात् कर्तव्य का भली–भाँति पालन करवाने का एक महती दायित्व था। राजा धर्म के नियमों का निर्माता नहीं केवल क्रियान्वयन करने वाली संस्था थी। इसी तरह हमारे संविधान द्वारा भी किसी धर्म का निर्माण नहीं किया गया है वरन् समाज में स्थापित विभिन्न धर्मों व पंथों के मध्य सद्भाव बना रहे, राज्य द्वारा किसी के प्रति पक्षपात नहीं किया जावे, सबसे बढकर सर्व–धर्म–समभाव की नीति अपनायी जाये ऐसी धर्मनिरपेक्षता की नीति को लागू किया गया है।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में धर्म और धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा निरन्तर बनी हुई है। एक धर्म प्रधान देश होते हुए भी किसी भी काल में भारत में धार्मिक कट्टरता को प्रश्रय नहीं दिया गया। प्राचीन समय में केवल एक सनातन धर्म था, जिसे हिन्दू धर्म के नाम से जाना गया। मनुस्मृति एवं अर्थशास्त्र में यही धर्म देखने को मिलता है। कहीं साम्प्रदायिकता का उल्लेख मात्र भी नहीं हे। सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए जिस वर्णाश्रम की रक्षा का दायित्व राजा को सौंपा गया है वहाँ अवश्य कुछ भेदभाव वर्ण व्यवस्था में दृष्टिगोचर होता है। ब्राह्मण को श्रेष्ठ, शूद्र व स्त्रियों की स्थिति को हीन माना गया है। मनुस्मृति जो कि वैदिक परम्परा पर आधारित है, वेदों का ज्ञान होने के कारण ब्राह्मण वर्ण को सामाजिक, राजनीतिक प्रत्येक क्षेत्र में श्रेष्ठता प्रदान करती है। यद्यपि शूद्रों का उत्पत्ति स्थान भी वही कहा गया है जो कि ब्राह्मणों का है अर्थात् ब्रह्मा, परन्तु वो ज्ञानहीन हैं, उनमें बौद्धिक योग्यता का अभाव है इसलिए मनु ने उन्हें सेवा का कार्य सौंपा है। मनु ने स्त्रियों की स्वतंत्रता पर अवरोध नहीं लगाया है वरन् पुरूषों के स्त्रियों के प्रति कर्तव्य निर्धारित किये हैं। शूद्र हो या स्त्री किसी के प्रति मनु का दुराभाव नहीं है वह केवल सामाजिक व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहते हैं। यदि स्त्रियों की स्वतंत्रता का निषेध करना ही मनु का उद्देश्य होता तो वह **''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः''** जैसी बात तथा पारिवारिक जीवन के संदर्भ में स्त्रियों के सम्मान के निमित्त अन्य अनेक व्यवस्थाऐं नहीं करते। कौटिल्य

वर्ण व्यवस्था को विभिन्न वर्णों के मध्य हीनता या श्रेष्ठता नहीं वरन् समाज में श्रम विभाजन के महत्वपूर्ण व्यावहारिक सिद्धान्तों की मान्यता देते हैं।

मनु द्वारा सामान्य धर्म के जो लक्षण बताये गए हैं, उन्हें यदि मानव धर्म कहकर परिचित करवाया जाए तो किचिंनमात्रा में अतिशयोक्ति अथवा मिथ्या कथन नहीं होगा। मानव धर्म कहने का लक्ष्य यह स्पष्ट करना है कि व्यक्ति चाहे किसी देश, जाति, वर्ण, सम्प्रदाय का क्यों न हो उसका प्रथम तथा प्रधान परिचय मानव होना है। वह मानव इसलिए होता है क्योंकि उसमें मानवता होती है, मनुष्यता होती है और मनु प्रतिपादित दस धर्म लक्षण उसी मानवता के लक्षण हैं।

मनुस्मृति के रचनाकाल से आज तक नित्य नूतन सम्प्रदाय उभरे पनपे नाना मत प्रचलित हुए, अनेकों पथ निर्मित हुए किन्तु किसी एक व्यक्ति ने भी नहीं माना कि जीवन में धैर्य त्याज्य है, क्षमा घृणित विषय है, दम और अस्तेय निन्दनीय है, शुचिता परित्याज्य है, इन्द्रिय निग्रह अस्वास्थ्यकर है, धी (ज्ञान) और विद्या पशुता का परिचायक है, सत्य तिरस्कार के योग्य है, अक्रोध दानवीय वैशिष्ट्य है। विपरीत इसके सभी ने प्रत्यक्ष अथवा प्रकारान्तर से इन सभी दसों विषयों को मान्यता दी है, जीवन में अपनाने का उपेदश दिया है और यही मनु प्रतिपादित सामान्य धर्म की प्रासंगिकता का प्रमाण है।

कौटिल्य संभवतः प्रथम भारतीय चिंतक है, जिसने राजनीति को एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में अध्ययन करने का प्रयास किया है। उसने राजनीति को नैतिकता के नागपाश से निकालकर वास्तविकता के धरातल पर लाने का प्रयास किया है। कौटिल्य के विरुद्ध अनैतिक होने का अरोप भ्रांतियों पर आधारित है। यह सत्य है कि कौटिल्य ने राजनीतिक क्षेत्र में नैतिकता को आधार नहीं बनाया है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसने नैतिकता को तिलांजलि दे दी है। उसने व्यक्तिगत नैतिकता को काफी महत्व दिया है। उसने राजा, अमात्य तथा अन्य पदाधिकारियों को सच्चरित्र, ईमानदार, सत्यनिष्ठ और धर्मपरायण होने के लिए कहा है। कौटिल्य ने मनुष्य के धार्मिक जीवन को नियमित करने का प्रावधान किया है। वह धर्म को राज्य से ऊपर नहीं मानता है। उसने राज्य को प्रजाजनों के धर्म को नियमित करने का अधिकार दिया है। कौटिल्य के मतानुसार धर्म का

उपयोग राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया जा सकता है। राजा का सर्वप्रमुख कर्तव्य यह देखना है कि वर्ण 'स्वधर्म' का पालन करते हैं।

वर्तमान में धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य सामाजिक समसरता को बनाये रखने के लिए सर्व–धर्म समभाव से लिया जाता है। ये सर्व–धर्म समभाव भी कानूनी तौर पर ही स्थापित किया जा रहा है वास्तव में समाज धर्म और जाति के नाम पर बँटा हुआ है। मानव धर्म का ह्रास होता जा रहा है। कथित तौर पर राजनीति को धर्म से पृथक रखने के नियम–कायदे बन रहे हैं यथार्थ में 'वोट बैंक' की राजनीति ने धर्म में हस्तक्षेप किया हुआ है। वर्तमान हालात को देखकर हम कभी नहीं कह सकते कि धर्म एक ऐसी शक्ति के रूप में उभरकर आयेगा जो विभिन्न समुदायों में एकता स्थापित कर सके।

मनुस्मृति तथा अर्थशास्त्र में प्रतिपादित धर्म का स्वरूप, उस समय की सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ परिवर्तित हो चुकी हैं, कुछ–कुछ अभी भी बदलाव के लिए संघर्षरत हैं। धर्म जो कर्तव्य का पर्याय था आज कर्मकाण्ड, पाखंड और राजनीतिक शतरंज का मोहरा बन गया है। समाज की वर्ण व्यवस्था कट्टर जाति व्यवस्था में तब्दील हो गई है, स्वधर्म की धारणा पीछे छूटती जा रही है। आधुनिकता, भौतिकता, लौकिकता की दौड़ में नैतिकता व कर्तव्यपरायणता का लोप हो रहा है। भारतीय राजनीतिक चिन्तन में अपनायी गई धर्म की व्यापक अवधारणा, मनुस्मृति और अर्थशास्त्र में परिलक्षित धर्मनिरपेक्ष राज्य का स्वरूप सैद्धान्तिक रूप से ही संविधान को महिमामंडित कर रहा है, व्यवहार में नहीं।

मनुष्य का एक ही धर्म हो सकता है–मनुष्यता या मानवता। मानवता का देश–काल में बंटवारा नहीं होता। हर मनुष्य अपनी शक्ति पर अपने पेशे की सीमा में अपनी स्थिति के अनुसार इस मानवता धर्म का पालन करता है, कर सकता है। धर्म पालन में भाषा, इलाका रहन–सहन, पहनावा, खान–पान और रीति–रिवाज बाधक नहीं होते। संक्षेप में धर्म केवल इतना है कि जो व्यवहार में अपने को अच्छा न लगे वह दूसरों के साथ न करें। मानवता धर्म का निर्वाह मनुष्य समुदाय के भीतर मनुष्यों के बीच ही हो सकता है। समुदाय के भीतर ही मानवता की परीक्षा होती है। मानवता धर्म के अन्तर्गत ही विश्वबन्धुत्व आ जाता है। दुखी का दुख दूर

करना, कमजोर का भय मिटाना, आपदा, अत्याचार, रोग, शोक, दरिद्रता और हीनता को जीतने में सहायता करना इसी मानवता धर्म के अन्तर्गत हैं। इस धर्म में न राष्ट्रभेद है, न रंगभेद। वेदों में कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, नदी सब निर्भय, अविचलित रहकर अपने धर्म का पालन करते हैं उसी प्रकार हमारे प्राण निर्भय हों और मनुष्य धर्म का पालन करते रहें। इस मानतवा धर्म को मन्दिर, मस्जिद, गिरिजाघर की जरूरत नहीं। आस्तिकता या आस्था हो सकती है लेकिन वह अन्तःकरण की चीज है। वह न तो किसी पर थोपी जा सकती है, न छीनी जा सकती है। राजा मानवता धर्म निभायेगा तो उसका काम होगा प्रजापालन, भयनिवारण, प्राकृतिक और सामुदायिक आपदाओं से रक्षा, प्रजा की सुख–समृद्धि के लिए प्रयास। वैर, युद्ध, छल, कपट, द्वेष, संहार, अत्याचार इस राजधर्म में शामिल नहीं। लेकिन जब राजा में सत्तालोलुपता भर जाती है तो राजनीति से भी मानवताधर्म गायब हो जाता है। अब भारत में लोकतंत्र है इसलिए कोई राजा नहीं है, राजनीति का अर्थ बदल गया है। राजा की नीति नहीं राजनेताओं की नीति, राजनीति कही जाती है। आज भी ऐसे समाजसेवी राजनेता हैं जो खेत–मजदूरों, गरीबों, असहायों की हालत सुधारने और कुरीति, पाखंड, ऊंच–नीच मिटाने के लिए, अन्याय, शोषण, अत्याचार के विरुद्ध संगठन बना रहे हैं, संघर्ष कर रहे हैं लेकिन सत्ता से उनका कुछ लेना–देना नहीं है। इस अंश में राजनीति मानवता धर्म का पालन कर रही है। लेकिन दूसरी तरफ राजनेताओं के ऐसे गिरोह हैं, जो सत्ता छीनने में पूरी शक्ति लगाये दे रहे हैं। मानवता धर्म से तो कोई निरपेक्ष नहीं हो सकता। होगा तो वह मनुष्य नहीं रह जायेगा। हाँ मानवता धर्म की प्रतिष्ठा के लिए पाखंडी धर्म, सत्तालोलुप राजनीति, कपटी सम्पदा और स्वार्थी विद्या के गढ़ों और उनके गठबन्धन के विरुद्ध तीव्र संघर्ष करने वाले को धर्मनिरपेक्ष माना जा सकता है। धर्मनिरपेक्ष राजनीति का अर्थ होगा समाज की लौकिक समस्याओं का समाधान करने वाली राजनीति। कुछ लोग धर्मनिरपेक्षता का अर्थ सर्वधर्म समभाव बताते हैं। भारत में बहुत से धर्मों के लेबल हैं। इसलिए यह अर्थ तो चल जाता है लेकिन जिन देशों में एक ही धर्म है वहाँ सर्वधर्मसमभाव का क्या अर्थ होगा। अगर मनुष्य का धर्म मानवता है तो सर्वधर्म की बात ही कहाँ उठती है। इस मानतवा धर्म पर हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई का लेबल लगाकर मानवता धर्म का अंग–भंग करते हैं और सर्वधर्म समभाव समाप्त कर देते हैं। इन सब लेबलों को स्वार्थी और

पाखंडी कहा जा सकता है लेकिन इनमें से किसी एक पाखंड को स्वीकार करने वाला अपने पाखंड को ऊँचा और दूसरों के पाखंड को नीचा जरूर मानेगा। पाखंड की मान्यता में दूसरे का तिरस्कार शामिल है। सर्वधर्म समभाव का एक विलक्षण भाष्य भारत में किया जा रहा है। सब लेबलों वाले धर्म पाखंडों के आगे सिर झुकाओ। पोप, मुल्ला, मौलवी, महन्त, बाबा, पंडा, पुरोहित की चरणरज माथे पर लगाओ। सबकी प्रशंसा करे, सबको सत्तालोलुप राजनीति में खुल–खेलने का अवसर दो। सब जनता को ठगें, लूटें, सब जनता के खून से होली खेलें। यही आज साम्प्रदायिकता विरोध के नाम पर राज्य और राजनेताओं द्वारा किया जा रहा है। धर्म शब्द को पाखंडियों ने भ्रामक बना दिया है। सेक्युलर शब्द का विश्व भर में अर्थ है लौकिक। यही अर्थ भारत में चलेगा। मानवता धर्म लौकिक धर्म है, सामुदायिक व्यवहार है। वह आस्था, आस्तिकता और उपासना से निरपेक्ष है। भ्रमजाल से मनुष्य को मुक्त करने के लिए और मानवता धर्म की रक्षा के लिए सेक्युलर जन अभियान ही एकमात्र और अनिवार्य विकल्प है।[34]

जब 'धर्म' और धर्माचार को साम्प्रदायिकता में रूपान्तरित कर दिया जाता है और उन्हें सत्ता, संसाधन, प्रभाव, पद आदि को प्राप्त करने का उपकरण बना लिया जाता है और राज्य समेत अन्य लोगों, समुदायों और धर्मों की सुरक्षा, अस्तित्व एवं अधिकारों को संकट में डालने का प्रयास किया जाता है तो उनकी प्रत्येक गतिविधि अपराध मानकर रोकी जानी चाहिए, भले ही वह अल्पसंख्यकों द्वारा की जाए अथवा बहुसंख्यकों द्वारा। सम्प्रदायवाद स्पष्टतः धर्म विरोधी होता है। उसका सीधा लक्ष्य समाज और राज्य को अवैधानिक तरीकों से तोड़ना होता है। उसकी गतिविधियों का सामना 'धर्म' या धर्माचार न होकर लौकिक, भौतिक, राजनैतिक, कूटनीतिक एवं सैनिक उपायों से किया जाना चाहिए। इसका अभिप्राय यह भी है कि राज्य सत्ता, प्रशासन, राजनीति एवं महत्वपूर्ण सामाजिक क्षेत्रों में कार्यरत व्यक्तियों को सार्वजनिक जीवन में लौकिक और धर्मनिरपेक्ष बने रहना चाहिए और उन्हें 'धर्म' और धर्माचार का किसी भी रूप में लौकिक उद्देश्यों के लिये प्रयोग नहीं करना चाहिए। अन्यथा उनके धर्म और धर्माचार को सम्प्रदायवाद की दिशा में प्रयुक्त गतिविधियाँ माना जायेगा। 'विशुद्ध धर्म' तो व्यक्ति तक सीमित रहता है। उसका धर्माचार नैतिक सीमाओं में ही परिचालित होता है। मान्य नैतिक

सम्बन्धों की सीमाओं का उल्लंघन करने पर धर्मनिरपेक्षता उसके हाथ–पाँव बांधने के लिए स्वतन्त्र है और इसे पहल करते हुए अपने दायित्व को पूरा करना चाहिए।

देश की एकता और अखण्डता बनाये रखने के लिए एवं देश में लोकतांत्रिक वातावरण बनाये रखने के लिए भारत जैसे बहुधर्मी देश में धर्मनिरपेक्षता का विशेष महत्व है। राष्ट्रीय प्रगति एवं सामाजिक विकास के सन्दर्भ में भी धर्मनिरपेक्षता महत्वपूर्ण है। धर्मनिरपेक्षता के महत्व उजागर करते हुए हम इस कटु सत्य को भी नहीं नकार सकते कि धर्मनिरपेक्षता की नीति को अपेक्षित सफलता नहीं मिल पायी है और आज भी अनेक लोग अपने धर्म एवं सम्प्रदाय के संकीर्ण दायरों से बाहर नहीं आ पाये हैं। राजनीति दल भी जनता की धार्मिक भावना का दुरूपयोग करके अपने निहित स्वार्थों को पूर्ण करते रहे हैं। इससे भी धर्मनिरपेक्षता की नीति के वांछित परिणाम नहीं निकल सके। धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र हमारे राज्य के दो प्रमुख आधार स्तम्भ हैं। भारत जैसे देश में जहाँ बहुत से धर्म एवं मत हैं, धर्मनिरपेक्षता के आधार के बिना वास्तविक राष्ट्रीयता का निर्माण नहीं किया जा सकता।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में हमें प्राचीन समय से ही कार्य विभाजन की दृष्टि से धर्म के अर्थ का बोध होता है। मनुस्मृति एवं अर्थशास्त्र में विभिन्न वर्णों के कर्तव्यों को धर्म माना गया है। गीता में भी **''स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः''** अर्थात् परधर्म में स्थित पुरूष के जीवन की अपेक्षा स्वधर्म में स्थित पुरूष का मरण भी श्रेष्ठ है, कह कर एक वैयक्तित धर्म की प्रतिष्ठा की गई है। यह धर्म व्यक्ति की पदप्रतिष्ठा और उसके स्तर से संबंध रखता है। जिस व्यक्ति का जो पद और स्तर हो उसी के कर्तव्यों का पालन उसका धर्म है। राजा, मंत्री, सैनिक, सेवक आदि उपाधियाँ, प्रत्येक पृथक्–पृथक् कर्तव्यों का बोध कराती हैं, जो उनका पृथक–पृथक धर्म है। इसी प्रकार समाज में चारों वर्णों का एक मौलिक, सामान्य धर्म होने पर भी, ब्राह्मण का क्षत्रिय से क्षत्रिय का वैश्य से और वैश्य का शूद्र से पृथक धर्म है। अपने विहित कर्तव्य का कुशलता से सम्पादन करना ही धर्म है। धर्म कर्तव्य में ही समाहित है। चुनाव में मत प्रदान करना जैसे नागरिकों का धर्म है उसी प्रकार निर्वाचित होने के पश्चात सांसदों, मंत्रियों, प्रधानमंत्री, राष्ट्रप्रति आदि के जो पृथक–पृथक कर्तव्य हैं, वे ही उनके पृथक–पृथक धर्म हैं।

धर्म भारतीय राजनीतिक चिन्तन का केन्द्रीय व आधारभूत तत्व है। भारतीय चिन्तन में धर्म नैतिक नियमों के संग्रह के रूप में तथा राज्य की पूर्ववर्ती व्यवस्था के रूप में व्यक्त होता है। धर्म एक गतिशील विचार है और प्रत्येक युग के साथ–साथ इसकी अवधारणा में परिवर्तन आया है। युगों के घटने के अनुसार मनुष्यों के धर्म सतयुग में अन्य, त्रेता में अन्य, द्वापर में अन्य और कलियुग में अन्य होते हैं। सतयुग में तप प्रधान है, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ परन्तु कलियुग में केवल दान ही प्रमुख कहा गया है। धर्म के स्वरूप में परिवर्तन का तात्पर्य इसकी प्रासंगिकता में कमी आना नहीं है।

सतयुग में सब धर्म और सत्य पूर्ण रूप से था। अधर्म से किसी प्रकार का धन आदि का आगमन मनुष्यों के पास नहीं होता था। त्रेता, द्वापर, कलियुग में अधर्म से धन आदि के उपार्जन से धर्म का एक–एक चरण घटता है और धन तथा विद्या से संचित किये धर्म का भी चोरी, झूठ तथा छल से एक–एक चरण घट जाता है।[35]

प्रत्येक युग में धर्म की स्थापना के लिए अवतार की अवधारणा भारतीय चिन्तन की एक विशेषता रही है। गीता में श्री कृष्ण ने कहा है कि –

''यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।''

अर्थात् जब–जब धर्म की हानि, अधर्म का उत्थान होता है, तब–तब मैं अवतरित होता हूँ। सज्जनों की रक्षा, दुष्टों के विनाश के लिए धर्म की स्थापना करने के लिए मैं हर युग में जन्म लेता हूँ।[36]

वर्तमान में भी राजनीति को दुर्नीति, कपटाचरण व भ्रष्टाचार से बचाने के लिए धर्म की आवश्यकता है। दोनों में पारस्परिक मैत्री है, अन्योन्याश्रय संबंध है। धर्म से ही विश्व में शान्ति स्थापित हो सकती है। भारत में धर्म ने कभी राजनीति को नियंत्रित नहीं किया है। धर्म की व्यापक अवधारणा को अपनाते हुए अन्य सभी धर्मों, मार्गों पंथों, सम्प्रदायों के प्रति राज्य उदार बना रहा तथा उन्हें आदर,

समानता तथा सत्कार प्रदान करता रहा है। भारतीय संस्कृति का मूल दृष्टिकोण **''एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति''** ध्येय को मानते हुए सत्य, ईश्वर, परमतत्व, आत्मतत्व अथवा परमात्मा के साक्षात्कार के अनेक मार्ग हैं, की धारणा पर आधारित है।

धर्म की धारणा का संकुचित अर्थ सम्प्रदाय या पंथ के रूप में लिया जाये तो प्राचीन भारतवर्ष में राज्य सदैव ही धर्मनिरपेक्ष रहे हैं, भले ही वे धर्म के व्यापक संदर्भ में धर्माधारित थे। वस्तुतः उनकी धर्मनिरपेक्षता व्यापक धर्म को अपनाये रहने में रही है, किन्तु कालान्तर में जब धर्म को सम्प्रदाय, पंथ, मत या विशिष्ट धर्म के साथ मिलाया जाने लगा तो कठिनाई उत्पन्न हो गयी।

भारत में धर्मनिरपेक्षता की पृष्ठभूमि का निर्माण अपने ढंग से हुआ है, पाश्चात्य देशों का अंधानुकरण करके नहीं धर्म की व्यापक धारणा से विरोध करने की अपेक्षा धर्मनिरपेक्षता ने स्वयं को व्यक्ति और संस्थाओं के शाश्वत एवं सार्वभौमिक आध्यात्मिक तत्वों से जोड़ा, सभी व्यक्तियों के अन्तःकरण, विश्वास और आस्था की स्वाधीनता को स्वीकार किया तथा सभी धर्मों को समान आदर प्रदान करते हुए किसी धर्म विशेष को थोपने का प्रयास नहीं किया। इससे भारत वर्ष में धार्मिक सहिष्णुता की भावना का प्रमाण यह तथ्य भी है कि भारत में बहुत पहले से अल्पसंख्यक यहूदी, सीरियाई, मुसलमान और पारसी रहते आये हैं। हिन्दू धर्म ने प्राचीन काल से इसी परम्परा को ही अपनाया है।

निष्कर्षतः अपने समग्र रूप में धर्म एक ऐसा विचार है, जो वर्तमान पीढ़ी को दाय से जोड़ता है। व्यवस्था को नैतिक आचरण, मर्यादा से बाँधता है। राजनीतिक, सामाजिक, आचार और मर्यादा का निर्धारण करता है। भौतिक जीवन और अध्यात्म के संबंध को जोड़ता है तथा सर्वथा लौकिक संदर्भ में भी धर्म का विचार उतना ही प्रासंगिक है जितना आध्यात्मिक और पारलौकिक प्रसंगों में।

धर्म एक गतिशील विचार है जिसकी परिस्थितिगत व्याख्या देश और काल के अनुरूप भिन्न–भिन्न हो सकती है, किन्तु मर्यादा निर्वाह के सार–तत्व के रूप में यह विचार सार्वकालिक है। पारम्परिक चिन्तन में धर्म की कतिपय व्याख्याऐं, आचार के कतिपय नियम व्यवहार की कतिपय सीमाऐं संभवतः आज प्रासंगिक न

हों, किन्तु यह निर्विवाद है कि प्रत्येक युग का एक धर्म होता है। यहाँ तक कि आपत्तिकाल का भी एक धर्म होता है। धर्म के चरण कालगणना के अनुसार अधिक अथवा कम हो सकते हैं, किन्तु उसकी प्रासंगिकता फिर भी बनी रहती है। पारम्परिक भारतीय चिन्तन की यह विरासत आज भी राजनीतिक विचारों के अध्येताओं के लिए न केवल चिन्तन और मनन अपितु शोध का विषय है।

संदर्भ सूची :–

1. महाभारतम् परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती (अनु.) गोविन्दराम हासानंद दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1987 शान्ति पर्व एकत्रिंशोऽध्यायः, श्लोक संख्या 7, पृ. 1025,
2. पूर्वोक्त, पन्चदशोध्यायः श्लोक संख्या 31, पृ. 980
3. कल्याण ''धार्मिक'' गीता प्रेस गोरखपुर, जनवरी, 1966 पृ. 143–144

I- ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, 2011

II- फ्रॉम, एरिक, साइको एनालाइसिस एण्ड रिलीजन, न्यू हैवन, सीटी यूनाइटेड स्टेट्स; येल यूनिवर्सिटी प्रेस, 1950

III- यिंगर, जे.मिल्टन, रिलीजन, सोसायटी एण्ड द इन्डीविजुअल, 1957

IV- ग्रगोर, गेडीज मेक, इन्ट्रोडक्शन टू रिलीजन्स फिलोसॉफी

4. शरण, आर. प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन का स्वरूप, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2008 पृ. 3–4
5. चतुर्वेदी, मधुमुकुल प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 2011, पृ. 164–165
6. मीस, जी.एच धर्म एण्ड सोसायटी, सीमा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, जनवरी 1980, पृ. 8–9
7. पामर, नार्मन डी. द इण्डियन पॉलिटिकल सिस्टम, जॉर्ज एलन एण्ड अन्विन लिमिटेड, लन्दन, 1961, पृ. 25
8. थापर, रोमिला प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली, 2012, पृ. 32
9. अलतेकर, ए.एस प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, भारती पुस्तक भण्डार, इलाहबाद, 1983 (सातवाँ संस्करण) पृ. 39–41
10. बाशम, ए.एल (सं.) ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, चैप्टर 7, हिन्दूज्म, लेखक डॉ0 राधाकृष्णन, ऑक्सफॉर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली 1975, पृ. 63
11. मनुस्मृति पूर्वोक्त, अध्याय 2, श्लोक सं. 6, पृ. 17
12. मनुस्मृति अध्याय 3, श्लोक सं. 56, पृ. 54
13. मनुस्मृति अध्याय 9, श्लोक सं. 3, पृ. 242
14. मनुस्मृति अध्याय 7, श्लोक संख्या 16–17, पृ. 154

15. मनुस्मृति — अध्याय 7, श्लोक संख्या 109, 160, पृ. 167, 175
16. अलतेकर, ए.एस — पूर्वोक्त, पृ. 53
17. मनुस्मृति — अध्याय 7, श्लोक संख्या 99, पृ. 165
''अलब्धं चैक लिप्सेत लब्धं रक्षेत्यप्रत्नतः।
रक्षितं वर्धयेचैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्।।''
18. ठाकुर लक्ष्मीदत्त — प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ, 1965, पृ. 219–20
19. मोटवानी, केवल — मनु धर्मशास्त्र, गणेश एण्ड कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड, मद्रास, 1958, पृ. 137–39
20. जायसवाल, के.पी. — हिन्दू पॉलिटी, द बैंगलोर प्रिंटिंग एण्ड पब्लिशिंग हाउस क. लिमिटेड, बैंगलोर सिटी, IV सं. 1967, पृ. 227–228
21. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् — प्रथम अधिकरण 'विनयाधिकारिक' अध्याय 2, प्रकरण 1, पृ. 10
22. कौटिलीय अर्थशास्त्रम — पूर्वोक्त, पृ. 11
23. शर्मा, रामशरण — प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाऐं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वि.सं. 1998, पृ. 247–248
24. घोषाल, यू.एन — पूर्वोक्त, पृ. 134
25. सालेटोरे, बी.ए. — पूर्वोक्त, पृ. 319–321
26. प्रसाद, मणिशंकर — कौटिल्य के राजनीतिक एवं सामाजिक विचार, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1998, पृ. 171
27. बर्थवाल, चन्द्रप्रकाश — (सं) भारतीय राजनीति विज्ञान शोध पत्रिका, वर्ष–षष्ठम, अंक–द्वितीय, जुलाई–दिसम्बर 2014, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय मेरठ, लेख–चतुर्वेदी मधुमुकुल, प्राचीन भारतीय दण्ड व्यवस्था, पृ. 181–190
28. प्रसाद, बेनी — थ्योरी ऑफ गवर्न्मेन्ट इन एनशियेन्ट इण्डिया, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहबाद, 1968 (द्वि.सं.), पृ. 157
29. शर्मा, रामशरण — पूर्वोक्त, पृ. 37–38
30. वर्मा, एस.एल. एवं मिश्रा मधु, — महात्मा गाँधी एवं धर्मनिरपेक्षता, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, 1999, पृ. 207–208
31. दुबे, अभय कुमार — (सं.) साम्प्रदायिकता के स्रोत, लेख–पाण्डेय गोरख धर्म, संस्कृति और साम्प्रदायिकता, विनय प्रकाशन दिल्ली, 1993, पृ. 194–195
32. विष्ट, पंकज — (सं.) धर्मः प्रासंगिकता के सवाल, समयांतर प्रकाशन दिल्ली, 2006, पृ. 14–15

33. वर्मा, एस.एल. एवं मिश्रा मधु, पूर्वोक्त, पृ. 217
34. मिश्र, अखिलेश धर्म का मर्म, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृ. 388–392
35. मनुस्मृति पूर्वोक्त, अध्याय 1, श्लोक सं. 81–82, पृ. 11
36. श्रीमद्भगवद्गीता पूर्वोक्त, अध्याय 4, श्लोक सं. 7–8, पृ. 65

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. आसोपा, लक्ष्मीनारायण : (सं.), संस्कृत वाड्मय में लोकतंत्र, हंसा प्रकाशन, जयपुर, 2010

2. ऑमवेट, गैल : अण्डरस्टेंडिंग कास्ट, ऑरियेन्ट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली, 2011

3. ऑस्टिन, ग्रेनविल : वर्किंग ए डेमोक्रेटिक कॉन्स्टीट्यूशन (ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एक्पीरियेंस) ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू देहली, 2008 (V संस्करण)

4. एकेडेमिक अमेरिकन एनसाईक्लोपीडिया, : ग्रालियर इनकॉरपॉरेटेड, 1983, भाग 6

5. अलतेकर, ए.एस. : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, भारती भण्डार, इलाहबाद, 1983

6. अलतेकर, ए.एस. : स्टेट एण्ड गवर्न्मेट इन एनशियेन्ट इण्डिया, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1955

7. अम्बेडकर, बी.आर. : पार्लियामेन्ट्री डिबेट्स, पार्ट II ऑफ VII (मिनिस्ट्री ऑफ होम अफेयर्स, दिल्ली 1951) एब्रिवीयेटेड एज़ C.A.D. VII

8. बाशम, ए.एल. (सं.) : अ कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (सोशल एण्ड पॉलिटिकल थॉट एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स द्वारा जे.डनकन एम. डेरेट), ऑक्सफोड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2008

9. बसु, डी.डी. : भारत का संविधान–एक परिचय, 11वाँ संस्करण, लेक्सिस नेक्सिस गुडगांव, हरियाणा, 2015

10. भण्डारकर, डी.आर. : सम आस्पेक्ट्स ऑफ एनशियेन्ट, इण्डियन हिन्दू पॉलिटी, बनारस, 1929

11. भट्ट, कुल्लूक : मनुस्मृति, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1983

12. ब्राउन, डी.एफ. : द इण्डियन पॉलिटिकल थॉट फ्रॉम मनु टू गाँधी – द ब्राइट अम्ब्रेला, जयको पब्लिशिंग हाउस, 1964

13. चक्रवर्ती विद्युत व पाण्डेय, राजेन्द्र कुमार : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन : विचार व संदर्भ, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2012

14. चतुर्वेदी, मधुमुकुल : प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 2011

15. चौधरी, आर.के. : कौटिल्याज पॉलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1971

16. द कोलम्बिया एनसाईक्लोपीडिया, : यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क एण्ड लन्दन, भाग 11, 1935

17. दाधीच, नरेश : महात्मा गाँधी का चिन्तन, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2014

18. दामले, वाई.बी. : कास्ट, रिलीजन एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया, ऑक्सफोर्ड आई.बी.एच. दिल्ली, 1982

19. दामोदरन, के : भारतीय चिन्तन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1979

20. दिनकर, रामधारी सिंह : संस्कृति के चार अध्याय, लोक भारती प्रकाशन, इलाहबाद, 1956

21. दीपंकर, आचार्य : कौटिल्यकालीन भारत, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1989

22. दीक्षित, बी.आर.आर. : हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स, मद्रास, 1939

23. दुबे, अभय कुमार : (सं.) साम्प्रदायिकता के स्रोत, विनय प्रकाशन दिल्ली 1993

24. गैटिल, आर.जी. : हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थॉट (2 एडीशन) वाई लॉरेन्स सी. वानलेस, लंदन जी, एलन एण्ड अनविन, 1961

25. गजेन्द्र, गडकर पी.बी. : धर्मनिरपेक्षता तथा भारतीय संविधान (नारायण इकबाल (सं.) भारतीय सरकार

एवं राजनीति एवं लेख– संकलन खण्ड–1, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1974

26. गाँधी, एम.के. : माय रिलीजन, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1955

27. खिलनानी, सुनील : इनकार नेशन्स : इण्डिया इन 50 लाइव्स, एलन लेन, पेंगुइन रेण्डम आउस, यू.के, 2016

28. घोष, अरविन्द : भारतीय संस्कृति के आधार, श्री अरविन्द सोसायटी, पाण्डिचेरी–2 1968

29. घोष, अरविन्द : मानव चक्र, श्री अरविन्द सोसायटी, पाण्डिचेरी–2, 1970

30. घोषाल, यू.एन. : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पॉलिटिकल आइडियाज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बॉम्बे, 1959

31. घोषाल, उपेन्द्रनाथ : हिन्दू राजस्व व्यवस्था का इतिहास, अनु. –अजयमित्र शास्त्री, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली, 1997

32. गुप्त, नत्थूलाल : भारत की धार्मिक परम्परा, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2002

33. गुप्त, शिवकुमार व कमलनयन : भारतीय संस्कृति के मूल आधार, कॉलेज हाऊस, जयपुर, 2007

34. गुप्ता, दीपंकर : इनटेरोगेटिंग कास्ट, पेंगुइन बुक्स इण्डिया प्राइवेट लिमिटेड, गुडगाँव, हरियाणा, 2000

35. गुहा, रामचन्द्र : झा सुशांत (अनु.) भारत गाँधी के बाद, पेंगुइन बुक्स इण्डिया यात्रा बुक्स, गुडगांव, हरियाणा, 2012

36. हबीब, इरफान : रिलीजन : इन द इण्डियन हिस्ट्री, तुलिका बुक्स, नई दिल्ली, 2007

37. जैन, एस.एन. : नेहरू का सांविधानिक चिन्तन (भारतीय संविधान के मूल दर्शन के परिप्रेक्ष्य में), प्रिन्टवैल पब्लिशर्स, जयपुर 1990

38. जायसवाल, के.पी. : हिन्दू पॉलिटी, द बैंगलोर प्रिन्टिंग एण्ड पब्लिशिंग हाउस क. लिमिटेड, बैंगलोर सिटी, IV सं., 1967

39. जेफेलोट, क्रिस्टोफे : द हिन्दू नेशनलिस्ट मूवमेंट एण्ड इण्डियन, पॉलिटिक्स (1925 टू द 1990) पेंगुइन बुक्स इण्डिया प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 1996

40. जोशी, पूरनचन्द्र : अवधारणाओं का संकट, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 1995

41. कल्याण : धार्मिकांक, गीता प्रेस गोरखपुर, जनवरी 1966

42. कमल, के.एल. : भारतीय राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1998

43. कामथ, एच.वी. : कॉन्स्टीट्यूएन्ट असेम्बली डिबेट्स, 6 दिसम्बर, 1948 (मिनिस्ट्री ऑफ होम अफेयर्स, दिल्ली 1951) एब्रिवीयेटेड एज़ C.A.D. VII

44. कामन्दकीय नीतिसार : श्री वेंकटेश्वर मंत्रालय बम्बई 1961

45. काणे, पाण्डुरंग वामन : धर्मशास्त्र का इतिहास (प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय धर्म तथा लोक विधियाँ) प्रथम भाग, हिन्दी समिति प्रभाग, लखनऊ, च.सं., 1992

46. काश्यप सुभाष एवं गुप्त विश्वप्रकाश : राजनीति कोष, सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान नई दिल्ली की ओर से राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली 1971

47. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् : गैरोला वाचस्पति, चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी 2003

48. कीथ, ए.बी. : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 2010

49. किश्वर, मधु पूर्णिमा : राष्ट्रवाद की चाकरी में धर्म, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005

50. कोहली, ऋतु : कौटिल्याज पॉलिटिकल थ्योरी, योगक्षेमा द कन्सेप्ट ऑफ वेलफेयर स्टेट, दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1995

51. कोठारी, रजनी : स्टेट एण्ड नेशन बिल्डिंग, अलाइड पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1976

52. कृष्णाराव, एम.वी. : स्टडीज इन कौटिल्य इण्डिया, मुंशीराम मनोहर लाल पब्लिशर्स प्रा. लिमिटेड, नई दिल्ली, 1979

53. कुमार, रविन्द्र : ऐसे इन द सोशल हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इण्डिया ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1983

54. मजूमदार, आर.सी. : कॉर्पोरेट लाइफ इन एनशियेन्ट इण्डिया, फरमा के.एल. मुखोपाध्याय एण्ड कम्पनी, कलकत्ता, 1922

55. महाभारतम् परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती (अनु.) गोविन्दराम हासानंद दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1987

56. महाजन, विद्याधर : प्राचीन भारत का इतिहास, एस.चन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1970

57. मनुस्मृति : पं. रामेश्वर भट्ट विरचित चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, जवाहर नगर, दिल्ली, 1985

58. मेहता, वी.आर. : फाउण्डेशन ऑफ इण्डियन पॉलिटिकल थॉटः एन इन्टरप्रिटेशन फ्रॉम मनु टू द प्रजेन्ट डे, मनोहर पब्लिकेशन एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 1996

59. मीस, जी.एच : धर्म एण्ड सोसायटी, सीमा पब्लिकेशन्स नई दिल्ली, जनवरी 1980

60. मिलीबैण्ड, रेल्फ : मार्क्सवाद और राजनीति, प्रगति पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1981

61. मिश्र, अखिलेश : धर्म का मर्म, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–2003

62. मिश्र, भुवनेश्वरी, दत्त : कौटिलीय राजनीति, वैशाली प्रकाशन, गोरखपुर, 1989

63. मिश्र, कौशल किशोर : मनुस्मृति में राजसत्ता के प्रमुख आधार, राहुल पब्लिशिंग हाऊस, मेरठ, 2012

64. मिश्र, रतनलाल : भारतीय संस्कृति, सुरभि पब्लिकेशन्स, जयपुर, 1998

65. मोटवानी, केवल : मनु धर्मशास्त्र, गणेश एण्ड कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड, मद्रास 1958

66. माथुर, आर.एन. एवं भण्डार, डी.आर. : स्टडीज इन हिस्ट्री एण्ड पॉलिटिक्स, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 1958

67. मुखर्जी, राधाकुमुद : चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1966

68. नेहरू, पं.जवाहर लाल : हिन्दुस्तान की कहानी (संक्षिप्त संस्करण), हिन्द पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1962

69. नेहरू, पं.जवाहरलाल : टूवर्ड फ्रीडम (ऑटोबायोग्राफी), ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू देहली, 1936

70. नेहरू, पं.जवाहरलाल : हिन्दुस्तान की कहानी, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, दिल्ली, 1986

71. नारायण, इकबाल : (सं.) भारतीय सरकार एवं राजनीति, एक लेख–संकलन खण्ड–1 (स्मिथ डोनाल्ड : भारत में धर्मनिरपेक्षता, इण्डिया एज ए सेक्यूलर स्टेट पर अंशतः आधारित, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1963, पृ. 494–501) राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1974

72. नारायण, इकबाल : आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ, ग्रन्थ विकास, जयपुर, 2001

73. ओझा, श्रीकृष्ण : भारतीय चिन्तन का इतिहास, जयपुर रिसर्च पब्लिकेशन्स, 2004

74. पामर, नार्मन डी. : द इण्डियन पॉलिटिकल सिस्टम, जॉर्ज एलन एण्ड अन्विन लिमिटेड, लन्दन, 1961

75. पाठक, कृष्णाकांत : धर्म–दर्शन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2011

76. प्रसाद, बेनी : द स्टेट इन एनशियेन्ट इण्डिया, द इण्डियन प्रेस लिमिटेड, इलाहबाद, 1928

77. प्रसाद, बेनी : थ्योरी ऑफ गवर्न्मेन्ट इन एनशियेन्ट इण्डिया, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहबाद, 1968

78. प्रसाद, मणिशंकर : कौटिल्य के राजनीतिक एवं सामाजिक विचार, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1998

79. प्रवीन, शीबा : वर्तमान काल में मनुस्मृति की प्रासंगिकता, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2007

80. राधाकृष्णनन् : भारतीय दर्शन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 2015

81. राधाकृष्णनन् : भारतीय संस्कृति कुछ विचार, सरस्वती विहार, नई दिल्ली, 1978

82. राधाकृष्णनन् : धर्म : तुलनात्मक दृष्टि में, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1973

83. रूबेन, डब्ल्यू : स्टडीज इन एनशियेन्ट इण्डियन थॉट, इण्डियन स्टडीज, कलकत्ता, 1966

84. सेबाइन, जॉर्ज एच.ए एण्ड थॉरसन, थॉमस : हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी, ड्राइडेन प्रेस, न्यूयॉर्क (च.सं.) 1973

85. संक्षिप्त महाभारत : कर्णपर्व, गीता प्रेस गोरखपुर, गोविन्द भवन, कोलकाता, 29वां संस्करण, द्वितीय खण्ड संवत् 2063

86. सहाय, शिवस्वरूप : प्राचीन भारतीय शासन और विधि, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 2005

87. सालेटोरे, भास्कर आनन्द : एनशियेन्ट इण्डियन पॉलिटिकल थॉट एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, एशिया पब्लिशिंग हाऊस, 1963

88. सरकार, बी.के. : द पॉलिटिकल इन्स्टीट्यूशनल थ्योरीज ऑफ हिन्दूज, वरलाना वेन मार्केट एण्ड पीटर्स, लिपजिंग, 1992

89. सिन्हा, एच.एन : इण्डिया : द डेवलपमेंट ऑफ इण्डियन पॉलिटी, एशिया पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली, 1964

90. सिन्हा, एच.एन. : प्राचीन भारतीय राजनीति का विकास, एशिया पब्लिशिंग हाउस, मुम्बई, 1963

91. स्पीयर, सी. : लाईफ इन एनशिएन्ट इण्डिया, सुनीता पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1989

92. सिंह, कर्ण : हिन्दू धर्मः नई चुनौतियाँ, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, 1984

93. स्मिथ, डी.ई. : इण्डिया एज ए सेक्यूलर स्टेट, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1963

94. शुक्ल, वी.एन. : भारत का संविधान, सप्तम संस्करण, ईस्टर्न बुक कम्पनी, लखनऊ 1982

95. शरण, आर : प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन का स्वरूप, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2008

96. शरण, परमात्मा : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाऐं, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1970

97. शर्मा, अंजू : प्राचीन भारत में न्यायिक प्रणाली, श्याम प्रकाशन, जयपुर, 2001

98. शर्मा, कमल नयन : कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, 2009

99. शर्मा, केदार : प्राचीन संस्कृत वांग्मय में राजधर्म का स्वरूप, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, 2006

100.शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारती में राजनीतिक विचार एवं संस्थाऐं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990

101.शर्मा, संजय : हैण्डबुक ऑफ रिलीजन, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2006

102.शास्त्री, पं. हरगोविन्द : मनुस्मृति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1970

103.शौरी, अरूण : रिलीजन इन पॉलिटिक्स, रोली बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1989

104.श्रीमद्भगवद्गीता : गीता प्रेस गोरखपुर, गोविन्द भवन कार्यालय, कोलकाता, 1982

105.टण्डन, किरन : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारक, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1988

106.टण्डन, किरन : भारतीय संस्कृति, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 2006

107.ठाकुर, लक्ष्मीदत्त : प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ, 1965

108.थापर, रोमिला : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, अनु–आदित्य नारायण सिंह, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली 2012

109.थारमंगलम, जोसफ : इण्डियन सोशल सांइटिस्ट एण्ड क्रिटिक ऑफ सेक्युलरिज्म, इकॉनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, वोल्यूम 30, नं0 9, 4 मार्च, 1995

110.तोमर, हर्षवर्धन : मनु का दण्ड विधान, अखिल भारतीय इतिहास, संकलन योजना, नई दिल्ली, 2014

111.वाजपेयी, अनन्या : राइटीयस रिपब्लिक, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2014

112.वार्ष्णेय, आशुतोष : बैटल्स हॉफ वन : इण्डियाज इम्प्रोबेबिल डेमोक्रेसी, पेंगुइन बुक्स इण्डिया प्रा. लिमिटेड, गुडगाँव, हरियाणा, 2014

113.विद्यालंकार, सत्यकेतु : प्राचीन भारत की शासन पद्धति और राजशास्त्र, श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली, 2001

114.वर्मा, एस.एल. एवं मिश्रा मधु : महात्मा गाँधी एवं धर्मनिरपेक्षता, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1999

115.वर्मा, अजय कुमार : धर्म एवं राजनीति (गाँधी की दृष्टि में), जैन एण्ड जैन, जयपुर, 1995

116.वर्मा, एस.एल. : टुवर्ड्स थियरी ऑफ पॉजिटिव सेक्यूलरिज्म, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 1986

117.वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद : वैदिक राजनीति शास्त्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना–3, 1975

118.वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, धर्म मीमांसा और राधाकृष्णन, परिशिष्ट 11, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, संजय प्लेस, आगरा 2009

119.वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद : स्टडीज इन हिन्दू पॉलिटिकल थॉट एण्ड इट्स मेटाफिजिकल फाउण्डेशन, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1959

120.वेदव्यास : महाभारत, परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती (अनु.), गोविन्द राम हासानन्द, दिल्ली, 1987

121.विष्ट, पंकज (सं.) : धर्मः प्रासंगिकता के सवाल, समयांतर प्रकाशन दिल्ली 2006

122.विन्टरनित्ज, मॉरिस : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर, वाल्यूम III, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1985

123.विवेकानन्द : कास्ट, कल्चर एण्ड सोशलिज्म, अद्वैत आश्रम अलमोरा, 1963

124.याज्ञवल्क्य स्मृतिः : जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, झालानियों का रास्ता, जयपुर 2004

शोध पत्रिकाऐं

1. आलोचना : नामवर सिंह (सं.) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. बर्थवाल, चन्द्रप्रकाश (सं) भारतीय राजनीति विज्ञान शोध पत्रिका, वर्ष–षष्ठम, अंक–द्वितीय, जुलाई–दिसम्बर 2014, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय मेरठ।
3. द इण्डियन इकोनॉमिक एण्ड सोशल हिस्ट्री रिव्यू : सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
4. द इण्डियन हिस्टोरिकल रिव्यू : सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
5. गाँधी मार्ग : गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली।
6. ज्ञान–विमर्श : अर्द्धवार्षिकीय शोध पत्रिका, 2009, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा, राजस्थान।
7. हिन्दुस्तान टाइम्स : 08 दिसम्बर, 1947
8. इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, समीक्षा ट्रस्ट पब्लिकेशन्स, मुम्बई।
9. इन इण्डिया : नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशन्स, 2000 से उद्धृत।
10. इण्डियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल सांइस : संजीव कुमार शर्मा (सं.) मेरठ।
11. जर्नल ऑफ डेमोक्रेसी : जॉन टोपकिन्स यूनिवर्सिटी प्रेस (संयुक्त राज्य अमेरिका)।
12. पॉलिटिकल सांइस रिव्यू : यूनिवर्सिटी ऑफ राजस्थान, जयपुर।
13. समयान्तर : पंकज बिष्ट (सं.), 79–ए, दिलशाद गार्डन, दिल्ली।
14. सेमीनार : नई दिल्ली।
15. सोशल साइंटिस्ट : तूलिका प्रिन्ट, नई दिल्ली।
16. शोधार्थी : अनिल कुमार वर्मा (सं.), सी.एस.डी.एस., नई दिल्ली।
17. यंग इण्डिया : 03 अप्रैल, 1924, गाँधी, एम.के.।